THE BOOK WAS DRENCHED

अद्वैतवाद



गंगाप्रसाद उपाध्याय

ओ३म्

अद्वैतवाद

[द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण]

लेखक

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

[प्रणेता :—आस्तिकवाद, जीवात्मा, आर्य्यसमाज, विधवा विवाह मीमांसा, आर्य्य ट्रैक्ट माला, सर्व-सिद्धान्त संग्रह, शंकर रामानुज दयानन्द, राजाराम मोहन राय केशवचन्द्र सेन दयानन्द, मनुस्मृति, हिन्दी शेक्सपियर (छः भाग), अँग्रेज जाति का इतिहास, धम्मपद, महिला-व्यवहार चन्द्रिका, समाज-सुधार आदि आदि]

मुद्रक तथा प्रकाशक

कला प्रेस, प्रयाग

द्वितीय संस्करण] १९३६ [मूल्य २)

भूमिका

"अद्वैत" या "अद्वितीय" एक प्यारा शब्द है, इसमें विशेष आकर्षण है। अद्वैतवाद को लोग दर्शनशास्त्र की पराकाष्ठा समझते हैं, परन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्होंने अद्वैतवाद के भिन्न भिन्न सिद्धान्तों पर विचार किया है। भारतीय अद्वैतवाद के जन्मदाता या उद्धारक श्रीशङ्कराचार्य जी तथा उनके गुरुमह श्री गौड़पादाचार्य्य जी समझे जाते हैं। इनमें शंकर स्वामी अधिक विख्यात हैं। कुछ लोगों का कहना है कि शंकर स्वामी की छाप पाश्चात्य सभी अद्वैतवादियों पर है। भारतवर्ष के तो सभी आधुनिक मत किसी न किसी अंश में शङ्कर के अनुयायी हैं। शङ्कर सा विद्वान्, शंकर सा तार्किक, शंकर सा दार्शनिक, शंकर सा प्रचारक हर एक देश या जाति में देखने में नहीं आता। शंकर स्वामी की दार्शनिक संसार में ऐसी धाक है कि चाहे कोई उनके सिद्धान्तों को माने या न माने वह उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शंकर स्वामी जो कुछ कह गये वह सब समुचित ही था शंकर के पश्चात् कई आचार्य हुये जिन्होंने शङ्कर का घोर विरोध किया। श्री रामानुजाचार्य्य, श्री माधवाचार्य, तथा अन्य कई विद्वानों को शाँकर-सिद्धान्तों के स्वीकार करने में आपत्ति हुई, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि वाद अद्वैतवाद तथा मायावाद की आपत्तियों को दूर करने के लिये संचारित हुये। आजकल भी यद्यपि शंकर स्वामी का नाम उसी आदर के साथ लिया जाता है तथापि शाँकर मायावाद के

मानने वाले विरले ही होंगे। पाश्चात्य देशों में बार्कले, कांट, हीगिल आदि ने जिस अद्वैतवाद का प्रचार किया है वह शाँकर मायावाद नहीं है।

फिर भी मुझ जैसे बहुत से आत्मा ऐसे हैं जिनको अद्वैतवाद से सतुष्टि नहीं होती। वह एक तत्त्व की खोज करते हुये भी एक से अधिक मूलतत्त्वों तक पहुँचते हैं। अद्वैत के मानने में उनको अनेक ऐसी अड़चनें प्रतीत होती हैं, जिनका निपटारा होना असम्भव है। वह संसार में नानात्त्व को देखते हैं, विचार करने से नानात्व के मानने पर मजबूर होते हैं। वह इस नानात्व से इनकार नहीं कर सकते। जिन हेतुओं से प्रेरित होकर लोगों ने नानात्व को कल्पित या मिथ्या कहा है उनमें उनको हेत्वाभास झलकता है। आप उनको दार्शनिक न कहें। वह बुरा नहीं मानते। उनको विशेष सत्ता से इतना प्रेम नहीं जितना सत्य से है। जो अद्वैतवाद से संतुष्ट हैं वह। उसमें संतुष्ट रहें परन्तु जो अद्वैतवाद में अड़चनें देखें वह इसको न मानें।

इस पुस्तक में हमने इन्हीं अड़चनों का वर्णन किया है। कुछ लोगों का आक्षेप है कि हमने शङ्कर जैसे धुरंधर विद्वान का क्यों विरोध किया। जिस शङ्कर के सामने सैकड़ों वर्षों से लोग सिर झुकाते रहे उसके विरुद्ध लिखना धृष्टता मात्र है। हमारा इस विषय में केवल इतना कहना है कि हम नाम के पक्षपाती नहीं शङ्कर स्वामी की विद्वत्ता के सामने हम सिर झुकाते हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों की स्वतन्त्रता पूर्वक मीमांसा करना भी कर्त्तव्य समझते हैं।

हमने यहां अद्वैतवाद के भिन्न २ रूपों की मीमाँसा की है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी रूपों का वर्णन हो चुका। हमारी इच्छा थी कि विशिष्टाद्वैत तथा पाश्चात्य अद्वैत के ऊपर

भी प्रकाश डालें। परन्तु स्वास्थ्य तथा विशेष कर नेत्रों के वैषम्य के कारण ऐसा नहीं कर सके। एक वर्ष में पुस्तक लिखी पड़ी थी। कुछ अध्याय जोड़ने थे। अब इस समय ऐसा करना असम्भव समझ कर यहीं "अलम्" करते हैं। यदि अवसर मिल सका तो अन्य किसी रूप में उन विचारों को भी जनता के सामने रक्खेंगे।

दया निवास, प्रयाग
कृष्ण-जन्माष्टमी, १९८५।

गंगाप्रसाद उपाध्याय

द्वितीय संस्करण की भूमिका

ईश्वर को धन्यवाद है कि अद्वैतवाद का दूसरा संस्करण निकालने का शुभ अवसर प्राप्त हो गया। पहले मेरा विचार था कि पाश्चात्य तथा आधुनिक विचारों के लिये अद्वैतवाद का दूसरा भाग लिखूंगा। कई परिस्थितियों में यह संभव न हो सका। अतः मैंने अन्त में बार्कले तथा आधुनिक वैज्ञानिकों और दर्शनिकों के मतों की ओर संक्षेप रीति से कुछ संकेत कर दिये हैं। इतना पर्याप्त तो नहीं है परन्तु हिन्दी भाषा भाषियों को कुछ झलक तो मिल ही सकेगी।

दया निवास, प्रयाग
२-१०-१९३६ ई०

गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

—:०:—

तीसरा अध्याय–स्वप्न ६२—६५

ओ३म्

अद्वैतवाद

पहला अध्याय

जटिल प्रश्न

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

(कठ १ । २०)



चिकेता को गुरु आज्ञा देते हैं कि तुम तीन वर माँगो। नचिकेता दो साधारण वर मांग कर तीसरा मुख्य वर यह मांगता है कि "मनुष्य के मरने पर यह संदेह होता है कि आत्मा है या नहीं है, मैं आप से इसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस प्रश्न को सुन कर गुरु नचिकेता को बहुत से प्रलोभन देते हैं।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।

(कठ १। २५)

कि संसार में जो जो दुर्लभ भोग्य पदार्थ हैं, उन सब को मैं दे सकता हूँ, परन्तु तुम मृत्यु के प्रश्न को मत पूछो।

परन्तु नचिकेता बुद्धिमान शिष्य है। वह भोग पदार्थों को नहीं चाहता। वह कहता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां जर- यन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव,
तवैव वाहास्तव नृत्त- गीते॥

(कठ १। २६)

कि भोग्य पदार्थ तो क्षणिक हैं। मैं इनको लेकर क्या करूँगा। संसार के प्रलोभन और नाच-गान केवल मौत के लिये हैं। स्थायी जीवन का इनसे कुछ भी लाभ नहीं होता इस लिये मुझको मूल तत्व का उपदेश करो।

वस्तुतः पशु और मनुष्य में यही भेद है। पशु वर्तमान के भोगों पर दृष्टि रखता है, परंतु मनुष्य भूत और भविष्य का भी विचार करके अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहता है।

मनुष्यों में भी जो पाशविक वृत्तियों के आधीन हैं, वे खाने-पीने की वस्तुओं को पाकर [illegible] तृप्त हो जाते हैं। परंतु उच्च श्रेणी

के पुरुषों की इतने से तृप्ति नहीं होती। वह संसार के जटिल प्रश्नों पर सर्वदा विचार करते रहते हैं। "मैं क्या हूँ?" "आत्मा क्या है?" "संसार क्या है?" "पहले क्या था?" और "फिर क्या हो जायगा?" आदि प्रश्न उनके मस्तिष्क में चक्कर लगाया करते हैं।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के मनुष्यों में मूल तत्व के खोजने की तीव्र इच्छा पाई जाती है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से इसकी खोज की है और उनके परिश्रमों के परिणाम भी एक नहीं हैं, तथापि उन सब में एक बात सामान्य है अर्थात् "इन प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न।" यह प्रश्न आदि सृष्टि में भी ऐसे ही गूढ़ थे, जैसे आज हैं। दस हज़ार वर्ष पहले भी इतने ही विवादास्पद थे, जैसे इस समय हैं। पिछले युगों में भी ऐसे ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद थे, जैसे वर्तमान काल में हैं।

सभ्य और उन्नतशील तथा अवनतशील जातियों और व्यक्तियों की पहिचान ही यह है कि उन्होंने उन प्रश्नों का किस प्रकार समाधान किया है अथवा इनके समाधान करने में कितना प्रयत्न किया है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की प्रथम आवश्यकतायें शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। बच्चा आँख खोलते ही पहले दूध माँगता है। भूखा मनुष्य या भूखी जातियाँ कुछ भी सोच नहीं सकतीं, जब तक कि उदरपूर्ति न हो जाय। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ शरीर-सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी हुई वहीं 'मूल तत्त्व' संबंधी गूढ प्रश्न भी स्वाभावतः ही उठने आरंभ हो जाते हैं।

और क्यों न हों? क्योंकि शरीर ही मनुष्य का सर्वस्व नहीं है। यह तो आत्मोन्नति और आत्म-शान्ति का साधन मात्र है।

न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।

(बृहदारण्यक २ । ४ । ५)

धन धन के लिये प्यारा नहीं होता किन्तु अपने लिये प्यारा होता है ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृ० २ । ४ । ५)

कोई वस्तु उस वस्तु के कारण प्रिय नहीं होती, किन्तु अपने लिये ही प्रिय होती है । इस लिये कहा है कि

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ।

(बृ० २ । ४ । ५)

अर्थात हे मैत्रेयि "आत्मा" (अपनपा) के विषय में ही देखना, सुनना और विचार करना चाहिये । यही ज्ञान का साधन है।

परंतु प्रश्न यह उठता है कि यह "अपनपा" क्या है ? हम जब कहते हैं कि हम "अपने लिये अमुक कार्य करते हैं," अथवा" हमको अपनी उन्नति करना चाहिये" तो इन 'अपना' 'अपनी' आदि शब्दों का हम क्या अर्थ लेते हैं ? महामूर्ख से लेकर उच्चकोटि के विद्वान् तक सभी 'अपने' शब्द का प्रयोग करते हैं। परंतु कितने ऐसे हैं, जो इस बात को सोचने का प्रयत्न करते हों कि,'अपने' का क्या अर्थ है ? और यदि प्रयत्न

भी करते हैं तो कितने ऐसे हैं, जिन्होंने इस संबंध में कुछ सफलता प्राप्त की है? वस्तुतः इसी का समाधान हो जाने पर फिर कुछ सोचने के लिये शेष नहीं रहता। यह मनुष्य के ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी के लिये मनुष्य का प्रयत्न आरम्भ होता है और यहीं समाप्त हो जाता है।

"मैं क्या हूँ" इस विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। परंतु 'मैं हूँ' इस विषय में सभी सहमत हैं। यदि वस्तुतः देखा जाय तो एक यही ऐसा विषय है जिसमें किसी को संदेह नहीं। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डिकार्टे (Descartes) का कथन था कि "कोजीटो अर्गो सम्" (Cogito ergo sum) अर्थात् "मैं सोचता हूँ"। अतः सिद्ध है कि "मैं हूँ।" परंतु मेरे विचार से इसके लिये साध्य साधन तथा सिद्धि की भी आवश्यकता नहीं। मुझे यह जानने के लिये कि "मैं हूँ" "मैं सोचता हूँ" रूपी साधन की आवश्यकता ही नहीं। प्रत्येक पुरुष यह अनुभव करता है कि "मैं हूँ"—चाहे वह यह जाने या न जाने कि वह क्या है।

ह्यूम आदि संदेहवादियों, हैकल आदि अनात्मवादियों तथा शून्यवादी बौद्धों का यह मत अवश्य है कि "मैं" कोई स्थायी तत्व नहीं हूँ परन्तु यह तो "क्या" शब्द की मीमांसा का मतभेद है। जहाँ तक इस प्रश्न का अस्तित्व से संबंध है, उनको भी इसके मानने से कोई संकोच नहीं है। उनको भी यह अनुभव अवश्य होता है कि चाहे "मैं कुछ हूँ" परंतु हूँ "अवश्य"।

इस 'मैं' के मूल-तत्व की खोज दार्शनिकों का पहला कर्तव्य है। संसार के जटिलतम प्रश्नों में सब से पहला यही प्रश्न है। परंतु इसके अतिरिक्त एक और प्रश्न इतना ही जटिल है। वह

यह कि मेरे अतिरिक्त कोई और वस्तु भी है या नहीं। और यदि हैं तो कितनी ?

मनुष्य का, कम से कम विद्वान् मनुष्य का, एक और स्वभाव है। वह यह कि, यदि उसका संसर्ग कई वस्तुओं के साथ होता है, तो वह प्रयत्न करता है कि उन कई वस्तुओं में समानताओं का अन्वेषण करके उनका एकीकरण करे, अर्थात् उस एक तत्त्व को जानने की कोशिश करे, जो सब के भीतर विद्यमान है। वस्तुतः विद्या इसी का नाम है। उनमें समानताएँ और असमानताएँ दोनों हैं। परन्तु समानताओं को देख कर हम यह परिणाम निकालते हैं कि यह सब पुरुष हैं। इसी प्रकार सीता, लक्ष्मी, सावित्री, सुशीला आदि सौ अन्य व्यक्तियों को देख कर कहते हैं कि यह स्त्रियाँ है। प्रथम हमारा संसर्ग "रामत्व" 'मोहनत्व' 'शीतलत्व,' से था। यह भिन्न भिन्न पदार्थ प्रतीत होते थे। परन्तु अब हम समझने लगे कि यह सब व्यक्ति 'पुरुष' हैं। अर्थात् उनमें 'पुरुषत्व' रूपी तत्त्व विद्यमान है। इसी प्राकर 'सीतात्व,' 'लक्ष्मीत्व,' 'सावित्रीत्व' से चल कर हम 'स्त्रीत्व' तक पहुँचे। परंतु हमारी एकीकरण की वृत्ति यहीं पर संतुष्ट नहीं हो जाती। 'पुरुषत्व' चौर 'स्त्रीत्व' में फिर एकीकरण आरंभ होता है और हम दो भिन्न भिन्न शब्द प्रयुक्त करने के बजाय एक शब्द 'मनुष्य' या 'मनुष्यत्व' का प्रयोग करने लगते हैं।

इधर हमने कुछ व्यक्तियों को 'मनुष्य' कहा। उधर अन्य व्यक्ति-समूह को 'कुत्ता' कहा। एक और समूह को 'बिल्ली,' अन्य को 'गधा,' अन्य को 'घोड़ा' आदि नाम दिए। इतना एकीकरण कर के हमने फिर 'मनुष्य,' 'कुत्ता,' 'बिल्ली,' 'घोड़ा आदि का भलीभांति निरीक्षण किया। हमारे मस्तिष्क में यह प्रश्न चक्कर लगाने लगा कि "क्या यह सब भिन्न भिन्न हैं ? क्या इनमें कोई समानता नहीं ? क्या इनका एकीकरण नहीं

हो सकता ? हाँ, अवश्य हो सकता है,-मनुष्य, कुत्ता, घोड़ा आदि सभी 'जीवधारी' हैं।

परंतु 'जीवधारी' व्यक्तियों के अतिरिक्त हमको 'निर्जीव' व्यक्ति भी दिखाई पड़ते हैं। अब 'सजीवों' और 'निर्जीवों' का एकीकरण किस प्रकार किया जाय ? क्या यह सर्वथा भिन्न भिन्न हैं या इनका भी एकीकरण संभव है ?

इस प्रश्न ने बड़े बड़े दार्शनिकों को चक्कर में डाल रक्खा है। कुछ मा मत है कि संसार का मूलतत्व दो पदार्थ हैं—एक पुरुष और दूसरा प्रकृति। पुरुष चेतन है और प्राकृति जड़ है। पुरुष असंख्य हैं और प्रकृति एक सर्वव्यापक जड़ तत्व है। इन्हीं चेतन और अचेतन के संयोग से संसार का निर्माण होता है। यह सांख्य मत कहलाता है।

कुछ का मत है कि प्रकृति कोई एक वस्तु नहीं है, किन्तु असंख्यों परमाणुओं का एक समूह है। यह परमाणु (परम अणु) लघुतम जड़ व्यक्तियाँ हैं। और पुरुष अर्थात् जीव चेतन व्यक्तियाँ हैं। इन असंख्यों चेतन और असंख्यों जड़ व्यक्तियों से ही संसार बनता है। यह वैशेषिक और न्याय मत के नाम से प्रसिद्ध है।

इन मतों में कुछ दूर तक तो एकीकरण हो सकता है। परन्तु आगे चल कर एकीकरण असंभव हो जाता है। इनके अनुकूल जब तक एक से अधिक पदार्थ न माने जायँ संसार के निर्माण की यथार्थ व्याख्या हो ही नहीं सकती।

परन्तु कुछ दार्शनिक इतने से संतुष्ट नहीं होते। उनकी एकीकरण करने वाली वृत्ति उनको उस समय तक चैन लेने नहीं देती जब तक वह किसी एक ऐसे मूल-तत्व का पता न लगा सके जिससे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या हो सके।

इन सब दार्शनिकों को हम अद्वैतवादी कह सकते हैं। अद्वैतवाद का अर्थ है "दो वस्तुओं को न मानना।" परन्तु वस्तुत: इससे आशय है "एकतत्ववाद" का। अद्वैतवाद के स्थान में इसको 'एकवाद' कहना चाहिए। हमने यहाँ 'एकवाद' शब्द का इस लिये प्रयोग नहीं किया कि इस वाद के धुरंधर नेताओं ने अपने सिद्धान्त के लिये 'अद्वैतवाद' की उपाधि ही पसंद की है। और दीर्घकाल से प्रयुक्त होते होते यह शब्द इतना रूढ़ि हो गया है कि हमको इसकी व्युत्पत्ति की मीमांसा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

एकवाद या अद्वैतवाद के सिद्धांतों की नींव 'न्यूनतम कारण' के नियम (Law of parsimony of causes) पर रक्खी गई है। इस नियम को सभी विद्वानों ने सभी युगों में स्वीकार किया है। परंतु इससे आगे चल कर भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न २ परिणाम निकाले हैं। असंख्यवादी या अनेकतत्ववादी भी इस नियम को अस्वीकृत नहीं करते। यदि करते तो वह एकीकरण करने में कुछ भी सफल न होते। परन्तु उनका सिद्धांत आगे चल कर वही नहीं रहता जो अद्वैतवादियों का है।

न्यूनतम-कारण का नियम क्या है? वह यह है कि यदि हमको किसी घटना का कारण मालूम करना हो और उस घटना की व्याख्या एक कारण से हो सकती हो तो हमको उसके स्थान में एक से अधिक कारण नहीं मानने चाहिए। अर्थात् किसी घटना की मीमांसा करने लिए जहां तक हो सके कम से कम कारणों को मानना आवश्यक है। इस नियम का आधार इस मत पर है कि सृष्टि में मितव्यय (Economy of Nature) की पराकाष्ठा है। जो काम चार वस्तुओं से निकल सकता है, उसके लिए पांच वस्तुएँ काम में नहीं लाई

जाती, जिस काम में दो वस्तुएं पर्याप्त हैं, उसके लिये तीन वस्तुओं का व्यय नहीं किया जाता। सृष्टि की मितव्ययिता का नियम मानवी-प्रकृति में इतना प्रविष्ट हो गया है कि मानवी-जीवन के प्रत्येक व्यवहार में इसकी साक्षी मिलती है। यदि मेरे भोजन के लिये आध सेर आटा चाहिए और मैं उसके स्थान में सेर भर पकवालूं, तो मूर्ख कहलाऊंगा। यदि मेरा काम दस नौकरों से निकल सकता है और मैं उनके स्थान में ग्यारह नौकर रखता हूँ, तो लोग मुझे बुद्धिमान नहीं कहते। विद्या और बुद्धि की पहिचान ही यह है कि कम से कम व्यय में अच्छे से अच्छा कार्य्य कर दिया जाय। सृष्टि में भी हम इसी मानवी नियम का प्रचार देखते हैं। मेरा काम एक सिर से निकल सकता है, अतः मुझे दो सिर नहीं दिए गए। दो हाथों से निकल सकता है, अतः तीन हाथ नहीं बनाए गए। एक नाक से निकल सकता है, अतः एक अधिक नाक बनाना व्यर्थ होता। मनुष्य-शरीर से बाहर अन्य विभागों का भी यही हाल है।

इस मित-व्यय के नियम पर न्यूनतम-कारण के नियम का आश्रय है। और न्यूनतम-कारण का नियम ही दार्शनिक एक-वाद या अद्वैतवाद की आधार-शिला है। जब 'एक मूल-तत्त्व' से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की पर्याप्त व्याख्या हो सकती है, तो एक से अधिक मूल-तत्त्वों को माना ही क्यों जाय? वृक्ष का मूल एक होता है। सृष्टि का मूल भी एक ही है। दर्शन-शास्त्र का प्रयत्न यह होना चाहिए कि जिस प्रकार हो सके इस बात की मीमांसा करे कि एक मूल-तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हो गई?

जो लोग एक से अधिक मूल-तत्व मानते हैं, उनके विषय में भी कई अड़चनें बताई जाती हैं। अर्थात् यदि मान लिया जाय कि पुरुष और प्रकृति या जड़ और चेतन के मेल से सृष्टि बनती है, और यह दो पदार्थ मौलिक हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों का परस्पर क्या संबंध है, और एक दूसरे को क्यों कर प्रभावित करते हैं ? चेतन पुरुष पर अचेतन प्रकृति कैसे प्रभाव डालती है या अचेतन प्रकृति चेतन पुरुष को कैसे प्रभावित करती है ? यह बड़ा जटिल प्रश्न है, और द्वैतवादियों ने इस अड़चन को दूर करने के भिन्न भिन्न साधन निकाले हैं।

परंतु अद्वैतवादियों ने एक बात से इस समस्त रोग का प्रतीकार कर दिया है। वह कहते हैं कि हम जड़ और चेतन दो वस्तुएँ मानें ही क्यों ? क्यों न एक ही मूल तत्व माना जाय, जिससे एक का दूसरे पर प्रभाव डालने का प्रश्न ही न उठ सके ? न दो होंगे और न झगड़ा होगा। ताली एक हाथ से नहीं बज सकती।

द्वैतवादी या अनेकवादी कहते हैं कि यह तो ठीक है कि ताली एक हाथ से नहीं बज सकती। परंतु यहाँ ताली तो बजती ही है। इसी लिये तो वह द्वैत को मानते हैं। यह झगड़ा हमारा उत्पन्न किया हुआ तो नहीं है। संसार का प्रपंच तो हम देखते ही हैं, दार्शनिकों को तो केवल इसकी व्याख्या मात्र करने का अधिकार है। वह ताली बजते हुए सुन ही रहे हैं, उनको पता तो इस बात का लगाना है कि इस ताली के लिये एक से अधिक हाथों की आवश्यकता है या केवल एक की।

न्यूनतम कारण का नियम तो हम भी मानते हैं, परंतु हम इसके नाम में कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं, न्यूनतम कारण (Law of Parsimony of Causes) का नियम एक कारण

(Law of One Cause) नहीं है। न मितव्यय का अर्थ अपर्याप्त व्यय है। कंजूसी उतना ही दोष है जितना अपव्यय। यदि संसार में हम अपव्यय नहीं पाते तो अपर्याप्त व्यय भी नहीं पाते। जहां एक सिर से काम चल सकता था और दो नहीं बनाए गए, वहां केवल एक नेत्र देखने के लिये अपर्याप्त होता। इसलिये दो नेत्र बनाने की आवश्यकता हुई। दो भुजाओं या दो टांगों के स्थान में एक भुजा या एक टांग बनाने से सृष्टि-प्रबंधक की कंजूसी प्रकट होती। अतः उसने ऐसा नहीं किया। इसी प्रकार शरीर में दांत तथा पसलियों की संख्या दो से भी अधिक है। इससे न्यूनतम कारणवाद (Parsimony of Causes) का खंडन तो नहीं होता, परंतु एक कारणवाद (Law of One Cause) का खंडन अवश्य हो जाता है। जो काम दस पुरुषों से हो सकता है, उसके लिये ग्यारह रखना मूर्खता है, परंतु नौ रखना उससे भी अधिक मूर्खता है। जहाँ ग्यारह रखने से एक पुरुष की शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, वहाँ नौ रखने से वह काम ही नहीं हो सकता और नौ पुरुषों की शक्ति का अपव्यय होता है। इस प्रकार दस के स्थान में नौ रखने वाला ग्यारह रखने वाले की अपेक्षा अधिक मूर्ख है। इसलिये हम "न्यूनतम-कारण" (Law of Parsimony of Gauses) के नियम की अपेक्षा "पर्याप्त कारण" के नियन (Law of Sufficient Causes) के अधिक मानने वाले हैं। और न्यूनतम-कारण का अर्थ भी हम यही लेते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि न्यून-तम संख्या एक है। अतः न्यून-तम कारण का नियन हमको एक ही कारण मानने के लिये बाधित करता है। इसको कुछ लोगों ने पूर्ण कारण

(Sufficient Cause) माना है जिसके मानने में अन्य किसी कारण के मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यदि वस्तुतः एक कारण से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की व्याख्या हो सके तो अधिक कारण मानने की क्या आवश्यकता है? परन्तु इसके लिये यह सिद्ध करना होगा कि एक कारण से बहुसंख्यक वस्तुएं बन सकती हैं। यदि एकत्व बहुत्व को उत्पन्न कर सकता है, तो ठीक है। यदि नहीं कर सकता तो जिसको हम पूर्ण कारण कहते हैं, वह अपूर्ण सिद्ध हो जाता है। यदि पहले पूर्ण कारण मानकर यह सिद्ध किया जाय कि चूँकि वह पूर्ण कारण है, अतः उससे अवश्यमेव बहुत्व की उत्पत्ति हो जायगी, तो यह बड़ी धींगा धींगा होगी क्योंकि हम एक तत्त्व को पूर्ण कारण हो उस समय मान सकते हैं, जब पहले यह सिद्ध हो जाय कि एक कारण संसार की समस्त घटनाओं के लिये पर्याप्त हो सकता है। किसी वस्तु के नाम रखने से पहले उसके गुणों का सिद्ध कर लेना आवश्यक है न कि पहले नाम रख लिया जाय और फिर उस नाम के अनुसार गुण आरोपित किए जायँ।

यदि एकत्व में यह गुण है कि वह बहुत्व को उत्पन्न कर सके तो भला। यदि नहीं तो एकत्व की सिद्धि हो ही नहीं सकती।

कुछ लोग एकत्व के इसलिये ग्राही हैं कि दर्शन-शास्त्र को संतुष्टि इसके बिना नहीं होती। एकत्व की खोज करना ही समस्त दर्शन-शास्त्र अर्थात् फिलासफी का अंतिम उद्देश्य है। परन्तु एक बात हमारी समझ में नहीं आती। वह यह कि दर्शन-शास्त्र का यह उद्देश्य किसने ठहराया? क्या द्वैतवादी या अनेक-वादी उसी प्रकार दार्शनिक नहीं है जैसे एकवादी अथवा अद्वैत-वादी? दर्शन-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि मूल तत्वों

की खोज की जाय। यदि मूल तत्व एक ही है तो एक की खोज, और यदि अनेक हैं तो अनेकों की खोज। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य सत्यान्वेषण होना चाहिए न कि एकवाद या अनेकवाद का पक्षपात। वस्तुतः दार्शनिक पुरुषों को यह शोभा नहीं देता कि वह अन्वेषण करने से पूर्व ही एकत्व अथवा बहुत्व की कल्पना कर बैठें।

कुछ लोगों का कथन है कि यदि संसार का मूलतत्व एक न होता तो मनुष्य में एकीकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति न होती। परंतु यदि विचार कर के देखा जाय तो प्रतीत होगा कि एकीकारण की यह प्रवृत्ति मनुष्य को बहुत्व का निषेध करने पर बाधित नहीं करती। वस्तुतः एकीकारण एक वस्तु का नहीं हो सकता, अनेक वस्तुओं का ही हो सकता है।

एकीकरण का क्या अर्थ है? यही न कि अनेक व्यक्तियों में जो सामान्य बातें अर्थात समानताएँ हों, उनकी अलग कल्पना कर ली जाय। जैसे अनेक मनुष्यों को देख कर हम मनुष्यत्व रूपी एकत्व का विचार करते हैं। जिन असंख्य व्यक्तियों को हम 'मनुष्य' नाम से पुकारते हैं उन सब में 'मनुष्य' व्यापक है। 'मनुष्य' क्या है? वह तत्व जो सब मनुष्यों में सामान्य है। इसलिये इस तत्व की खोज का नाम ही एकीकरण है। इसी एकीकरण से ही बहुत्व की सिद्धि होती है। कोई ऐसा व्यक्ति संसार में नहीं है जिसमें केवल उतने ही गुण पाए जाते हों, जिनको हम 'मनुष्यत्व' कहते हैं—न कम, न अधिक। 'मनुष्यत्व' कई व्यक्तियों में पाया जाता है, एक में नहीं। यदि एक ही मनुष्य होता तो 'मनुष्यत्व' का वह अर्थ न होता जो इस समय है। इस समय चूँकी मनुष्य बहुत हैं, अतः वह गुण जो सब व्यक्तियों में सामान्य नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में

भिन्न भिन्न हैं, 'मनुष्यत्व' के अंतर्गत नहीं समझे जाते। मनुष्य-रूपी एक व्यक्ति में सामान्य और विशेष दोनों हैं। 'मनुष्यत्व' में सामान्य को लिया गया है विशेष को छोड़ दिया गया है। अतः सिद्ध है कि एकीकरण का नियम हमको बहुत्व पर विश्वास करने के लिये बाधित करता है।

कुछ लोगों ने एकत्व और बहुत्व के झमेले को दूर करने का एक और उपाय सोचा है। वह कहते हैं कि 'एकत्व' सत्य है और 'बहुत्व' कल्पित है। वह कहते हैं कि 'एकत्व' 'बहुत्व को उत्पन्न नहीं कर सकता, परन्तु 'बहुत्व' है ही कहाँ, जिसके उत्पादक की तुम तलाश करते फिर हो? वस्तुतः जिसको तुम 'बहुत्व' कहते हो वह माया या छलावा मात्र है। वह धोखा है, सत्य नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में एक मनुष्य एक होता हुआ भी अनेकों घोड़े, हाथी, सेना आदि देखता है, परन्तु जागने पर उसे मालूम होता है कि वस्तुतः मैं अकेला था, इसी प्रकार ससार का हाल है। जिस प्रकार जादूगर तमाशा करते समय कभी आम, कभी सेब, कभी नारङ्गी दिखा देता है, परंतु वास्तव में उसके पास वह पदार्थ नहीं होते, इसी प्रकार संसार में बहुत्व की प्रतीति मात्र होती है।

इसमें संदेह नहीं कि बहुत्व को छलावा मान कर बहुत से प्रश्नों के उत्तर से बच जाते हैं। परंतु यह नहीं समझना चाहिए कि जटिल समस्या का यह एक सन्तोषजनक समाधान है। प्रथम तो इसको सिद्ध करना ही कठिन है। दूसरे जिस प्रकार यह समझ में नहीं आता कि चेतन और अचेतन दो मूल-तत्व मानने से चेतन अचेतन को और अचेतन चेतन को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं, उसी प्रकार यह भी समझ में नहीं आता कि इस छलावे की उत्पत्ति तथा स्थिति का कारण क्या है।

स्वप्न का दृष्टांत उस समय तक लागू नहीं हो सकता, जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाय कि हम वस्तुतः स्वप्न अवस्था में हैं। और यदि सिद्ध भी हो जाय कि हम स्वप्न अवस्था में हैं, तो फिर भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि हमको स्वप्न क्योंकर होता है? यही कारण है कि संसार को प्रतीति या छलावा मात्र मानने वालों के भी कई भेद हो गए हैं, और भिन्न भिन्न विद्वानों ने इस उलझन को भिन्न भिन्न रीति से सुलझाने का यत्न किया है। परन्तु मेरे विचार से ऊलझन अब भी ज्यों की त्यों बनी है, और, शायद, सृष्टि के अंत तक ऐसी रहे। यह दूसरी बात है कि कुछ व्यक्तियों को एक समाधान से संतुष्टि हो जाय, और कुछ को दूसरे से। संभव यह भी है कि कुछ आत्माएँ असंतोष की अवस्था में ही इस संसार से चल बसें, जैसे बहुत से चल बसे हैं, क्योंकि उनको कोई समाधान भी संतुष्ट नहीं कर सका।

हम भी अगले अध्यायों में इस उलझन के सुलझाने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे।

दूसरा अध्याय

प्रमाणों का प्रमाणत्व



स जटिल प्रश्न की ओर हमने पहले अध्याय में संकेत किया है, उसका समीकरण उस समय तक नहीं हो सकता जब तक हम इस बात का निश्चय न करलें कि, हमारे पास सत्य तथा असत्य के पहिचानने के लिये क्या क्या साधन हैं। इन्हीं साधनों का नाम दर्शनकारों ने 'प्रमाण' रक्खा है। प्रमाण वह है, जिसके द्वारा किसी वस्तु को मापा या नापा जाय। जैसे कपड़े की लम्बाई गज़ से नापते हैं, या अन्न तथा दूध आदि को नापने के लिये पात्र होते हैं। वस्तुतः यह गज़ और यह पात्र ही प्रमाण हैं। जिस प्रकार इनसे कपड़े तथा वस्तुओं का परिमाण जाना जाता है, उसी प्रकार सत्यासत्य के लिये भी प्रमाण है। "विद्वान्" को सम्बोधित करके यजुर्वेद में कहा है—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा।

(अ० १५. मं० ६५)

अर्थात मनुष्य अनेक पदार्थों का 'प्रमाण,' 'प्रतिमाण' तथा 'उन्मान' या ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है।

न्यायदर्शन में गोतम मुनि ने चार प्रमाण माने हैं—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि

(१ । १३)

अर्थात्—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ।

योगदर्शनकार पतंजलि मुनि तीन प्रमाण मानते है । अर्थात्-

प्रत्यक्षानुमनागमाः प्रमाणानि

(योग १ । ७)

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

सांख्यकार कपिल भी—

तत् त्रिविधं प्रमाणम्

(साँ० १ । ८७)

इन्हीं तीनों प्रमाणों को स्वीकार करते हैं ।

मानव-धर्मशास्त्र में—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

(मनु० १२ । १०५)

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ही को माना गया है ।

कुछ लोगों ने न्याय के चार प्रमाणों के साथ ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव चार और प्रमाण मिलाकर आठ कर दिये हैं । परन्तु जिस प्रकार न्यायदर्शनकार इन अन्तिम चार को पहले चार के अन्तर्गत मान लेते हैं, उसी प्रकार तीन प्रमाण मानने वालों ने उपमान प्रमाण को भी शब्द के अन्तर्गत मान लिया है ।

चार्वाक लोग एक ही प्रमाण मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, और बौद्ध शब्द-प्रमाण को छोड़कर प्रत्यक्ष और अनुमान तक ही जाते हैं; परन्तु ऐसा शायद ही कोई हो जो प्रत्यक्ष को भी नहीं मानता। इसलिये ज्ञान का सब से पहला और मुख्य साधन प्रत्यक्ष है।

प्रत्यक्ष का लक्षण गौतमजी यह करते हैं—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

(न्याय १।१।४)

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान पैदा होता है, वह यदि अशाब्द, भ्रम रहित और संशय रहित हो तो प्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—आँख, कान, नाक, खाल और जीभ। जब से बच्चा संसार में आता है, उसी समय से वह इन इन्द्रियों का प्रयोग करने लगता है, और इनके द्वारा जिसकी उसको प्राप्ति होती है उसको ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियों को 'इन्द्रिय' कहने का कारण भी यही है कि—

इन्द्रियमिन्द्रलिंगम्

(पाणिनि की अष्टाध्यायी ५।२।९३)

'इन्द्र' नाम है जीव का। जीव का मुख्य गुण है चेतनता, अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति कर सकना। इसमें सब से पहला, और इसलिये, मुख्य साधन हैं आँख, कान आदि। इसलिये इनको इन्द्रिय कहते हैं।

आँख से हम रूप देखते हैं, कान से शब्द सुनते हैं। नाक से गंध सूंघते हैं, जीभ से स्वाद चखते हैं और खाल से ठंढापन, गर्मी अथवा चिकनापन या कठोरता का अनुभव करते हैं।

आरम्भ में यह इन्द्रियां विकसित नहीं होतीं, परन्तु ज्यों ज्यों बच्चा बड़ा होता जाता है, इन्द्रियों में अर्थ-ग्रहण की शक्ति चढ़ती जाती है, और ज्यों ज्यों इनको शिक्षित किया जाता है त्यों त्यों इनमें यथार्थ-दर्शन की शक्ति आ जाती है। इसलिये सूत्रकार ने केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा, किन्तु भ्रांति और शङ्का से रहित होने की शर्त भी लगा दी है। इन्द्रियों में दोष होना भी स्वाभाविक ही है। यह एक बनी हुई वस्तु है। जो वस्तु बनी होती है वह बिगड़ भी जाती है। इन्द्रियों में इसलिये बहुधा विकार आ जाता है। जिस प्रकार धुँधले दर्पण में अपने मुख का यथार्थ रूप प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार इन्द्रियों में विकार आ जाने से भी ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। कणाद मुनि ने इसीलिये कहा है कि

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या ।

(वै० ९ । २ । १०)

अर्थात् इन्द्रियों और संस्कारों के दोष से यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रमाण के ठीक उतरने के लिये आवश्यक है कि—

(१) इन्द्रिय में कुछ दोष न हो; अर्थात् यदि आँख फूट जाय, या दुखने आ जाय तो उससे देखने का काम नहीं लिया जा सकता है।

(२) विकार रहित होने के अतिरिक्त इन्द्रिय सुसंस्कृत भी हो। अर्थात् आंख के स्वस्थ होने पर भी यदि उसको प्रयोग में लाने की शिक्षा नहीं दी गई, तो उससे ठीक ठीक दिखाई नहीं पड़ेगा। पुलिसवालों की वही दृष्टि नहीं होती जो साधारण मनुष्यों की होती है। साधारण मनुष्यों को बहुत सी बातें नहीं सूझतीं, और पुलिस के लोग एक निगाह से बीसियों बातें ताड़

लेते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि साधारण लोगों की आंख में कुछ दोष है। कदापि नहीं। भेद केवल इतना है कि उनकी आंख को भलीभांति शिक्षा नहीं मिली। बच्चे की आंख में कुछ दोष नहीं होता। परन्तु उसको बहुत सी ऐसी बातें नहीं दीखतीं जो दूसरों को दिखाई देती हैं। इसका कारण भी शिक्षा या संस्कार का अभाव है।

इसी प्रकार कानों का भी हाल है। सुशिक्षित कान बहुत सी ध्वनियों के भेद को सुन सकते हैं, साधारण कान नहीं। साधारण मनुष्य एक प्रकार के इत्र की गंध को दूसरे प्रकार के इत्र की गंध से अलग नहीं पहिचान सकते, परन्तु गन्धी को वह भेद सुगमता से मालूम हो जाते हैं।

यदि इन्द्रियों में किसी प्रकार का रोग न हो और उनको यथोचित शिक्षा मिली हो, तो वह अपने अपने अर्थ का ठीक ठीक बोध करा सकती हैं—अर्थात् आँख बता सकती है कि जिस चीज़ का मुझ से संसर्ग है वह लाल है या पीली, सफ़ेद है या नीली, इत्यादि।

यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण को सभी मानते हैं, तथापि बाल की खाल खींचने वालों ने इसके मानने में भी कई प्रकार के आक्षेप किये हैं। न्यायदर्शन में पूर्व पक्ष रूप से यह शंका की गई है कि—

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः।

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः।

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः।

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥

(न्या० २।१।८, ९, १०, ११)

भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों में प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि यदि कहा जाय कि इन्द्रियों और अर्थ के सन्निकर्ष से पहले प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित था, तो यह कहना झूठ होगा कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि जब तक सन्निकर्ष हुआ ही नहीं, उस समय तक प्रत्यक्ष प्रमाण आया कहाँ से? और, यदि कहो कि सन्निकर्ष पहले होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि पीछे से होती है, तो विना प्रमाण के ही प्रमेय अर्थात साध्य की सिद्धि हो जायगी। फिर यह नहीं कह सकेंगे कि अमुक ज्ञान के यथार्थ होने में प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि कहो कि प्रमेय और प्रमाण दोनो की साथ साथ सिद्धि होती है, तो यह भी असभव है; क्योंकि बुद्धियों में किन्हीं दो ज्ञानों की उपलब्धि करने के लिये पूर्वापर का क्रम होता है। एक ही साथ दो ज्ञानों की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण तीनों कालों में असिद्ध ठहरता है।

जिस प्रकार की शङ्कायें हैं, उसी प्रकार का उत्तर भी दिया गया है अर्थात्—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः।

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधासिद्धिः।

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः।

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः।

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ।

(न्या० २ । १ । १२; १३, १४, १५, १६)

जिन युक्तियों द्वारा आक्षेप करने वाले ने प्रत्यक्ष प्रमाण को तीनों कालों में खण्डन किया है, उन्हीं युक्तियों द्वारा इस "खण्डन" की भी तीनों कालों में सिद्धि नहीं होती। दूसरे यदि तुम प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का खण्डन करोगे तो अपने इस 'खण्डन' के पक्ष में कहाँ से प्रमाण लाओगे? तीसरे, यदि तुमको अपने पक्ष की पुष्टि में कोई प्रमाण मिला भी, तो किसी मुँह से कह सकोगे कि हमने सब प्रमाण का खण्डन कर दिया, क्योंकि तुमने भी एक प्रमाण का आश्रय लिया ही है। जिस प्रकार बाजा सुनकर वीणा के अस्तित्व का ज्ञान होता है, उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि से यह भी निश्चय हो जाता है कि अमुक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हुआ। जिस प्रकार तुला अर्थात् तराजू से चीज़ तोलते हैं, और तोल लेने से ही तराजू की भी सिद्धि होती है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय दोनों का व्यवहार होता है।

कुछ लोग सन्देहवादी (Sceptics) हैं। उनका मत है कि वस्तुतः हमारे पास ज्ञान-प्राप्ति के कोई साधन उपस्थित नहीं हैं। जिन इन्द्रियों को ज्ञान-प्रात्पि का साधन कहा जाता है, वह ऐसी विचित्र हैं कि हमको नित्यप्रति धोखा दिया करती हैं। जो तराजू कभी ठीक तोले कभी बेठीक, उसका विश्वास ही कैसे किया जाय और किसको ठीक कहा जाय, किसको बेठीक! जो वस्तु साधारणतया सफ़ेद दिखाई पड़ती है, वह पीलिया के रोग से पीड़ित मनुष्य को पीली दिखाई पड़ने लगती है,। जो लड्डू इस समय मीठा लगता है, वही ज्वर आने पर कडुवा प्रतीत होने लगता है। जो मिर्च हमको कड़वी लगती है, वह दूसरे को उतनी कड़वी

नहीं लगती। इसलिये सम्भव है कि जिसको हम कड़ुवा कहते हैं उसमें न कड़ुवापन हो न मीठापन। वस्तुतः इसका कुछ और ही स्वरूप हो, जिसका न तो हमको ज्ञान है न उसके जानने के साधन हैं।

फिर, जिन इन्द्रियों को ज्ञान-द्वार कहा जाता है उनमें एक आपत्ति और है। इनका आपस में वैमनस्य भी हो जाता है। एक इन्द्रिय कुछ कहती है, और दूसरी कुछ और। ऐसी अवस्था में कठिनाई यह पड़ती है कि किसकी बात मानी जाय और किसकी न मानी जाय। शीशे की एक गोली लो और बिना दिखाए हुए किसी के हाथ की दो उँगलियों के बीच में रख दो। वह कह उठेगा कि दो गोलियां हैं। परन्तु जब वह आंख से देखेगा तो उसे एक ही गोली दिखाई पड़ेगी, अब मुश्किल यह है कि आँख कहती है 'एक गोली है' हाथ कहता है 'दो गोलियाँ हैं'। किसकी बात पर विश्वास करें? परकार के दोनों कोनों को खूब मिला लो और उनको पैर की एड़ी में चुभोओ, तो ऐसा मालूम होगा कि एक नोक चुभोई जा रही है। परन्तु यदि उसी नोक को जीभ के टौने (अग्रभाग) पर चुभोया जाय तो झट दोनों कोनों का ज्ञान होने लगेगा। इसका अर्थ यह है कि एक ही शरीर में उपस्थित त्वक्-इन्द्रिय (खाल) पैर के स्थान में कुछ और ज्ञान देती है और जीभ के स्थान में कुछ और। जिज्ञासु बिचारे की आफ़त है।

इस प्रकार जिसको तुम श्वेत देखते हो, सम्भव है कि उसी को मैं हरा देखता हूँ। इस बात का क्या निश्चयात्मक सुबूत है कि, हमको एक वस्तु एक सी ही दिखाई पड़ती है। मैंने कभी आपकी आँख से नहीं देखा, न आपने मेरी आँख से, सम्भव है कि दोनों यंत्र भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान देते हों।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र में एक चीज़ का परिणाम कई गुना दिखाई पड़ने लगता है।

इन सब बातों से सन्देहवादी सिद्ध करते हैं कि प्रमाणों का प्रमाणत्व ढोंग मात्र है। इसमें कुछ तत्व है नहीं। जिसको तुम सत्य कहते हो वह भी काल्पनिक है और जिसको असत्य वह भी काल्पनिक। वस्तुत: सत्यासत्य का निर्णय हो ही नहीं सकता। इसलिये जिस प्रकार संसार का व्यवहार चलता रहे, उस प्रकार काम करते जाओ। जटिल प्रश्नों के जटिलत्व को सुलझाने का यत्न व्यर्थ है।

संदेहवादियों की ये शंकायें भ्रममूलक हैं। थोड़ासा विचार करने से इनकी निस्सारता का ज्ञान हो जाता है। प्रथम तो संदेहवादियों का व्यवहार ही बताता है कि उनका संदेहवाद कथन मात्र का है। वह अपने जीवन के अधिकांश काम इसी प्रकार करते हैं, मानो उनको अपनी इंद्रियों पर भरोसा है। अन्य पुरुषों के समान उनको भी भूख, प्यास आदि लगती है और प्यास लगने पर वह उसी प्रकार पानी की ओर दौड़ते हैं, जैसे अन्य लोग किया करते हैं। सामने रोटी देखकर किसी संदेहवादी को यह भ्रम नहीं होता कि, संभव है इससे पेट भरे, संभव है पत्थर के टुकड़ों से पेट भर जाय। किसी मनुष्य के ज्ञान की अवस्था का अंदाजा उसके कामों से लग सकता है। जब हमारा कुत्ता हमको देखकर हमारी ओर प्रेम से आता है और दूसरों को देखकर भोंकने लगता है, तो हमको इस बात का निश्चय करना ही पड़ता है कि वह हमको पहिचानता है। ग्रामोफ़ोन में "अपने मालिक की आवाज़" सुनकर जब कुत्ता उसकी ओर आकर्षित होता है, तो क्या कोई संदेह रहता है कि, यह आवाज़ उसी के मालिक के अनुकरण में नहीं है? इसी प्रकार

जब हम सभी संदेहवादियों को निरंतर अपनी इन्हीं इंद्रियों के सहारे काम करते हुए देखते हैं तो कैसे मान लें कि उनका उन पर विश्वास नहीं है। ठगों की ठगाई का संदेह करने के पश्चात् कोई उनके पास नहीं जाता। यदि संदेहवादी वस्तुतः उनको ठग समझते तो कभी उनके कहने पर न चलते। परंतु हम नित्य देखते हैं कि आँख कहती है कि, 'सड़क साफ़ है, आगे पैर धरो' और वह चलने लग जाते हैं। जीभ कहती है कि, 'यह लड्डू मीठा है एक इसी प्रकार का और लाओ' और हाथ झट लड्डू उठाने में लग जाता है। आँख बतातो है कि 'यह कुआ है इसमें से पानी खींच कर पियो' और हाथ रस्सी तथा बर्तन लेकर पानी निकालने का व्यापार करने लगता है।

कुछ लोग शायद कहने लगें कि यह तो तुमने व्यवहार-संबंधी बातें गिना डालीं। व्यवहार और दर्शनशास्त्र में भेद है। जब तुम किसी वस्तु की दार्शनिक मीमांसा करते हो तो व्यवहारिक दृष्टांत न लो।

परंतु हम इसका उत्तर यह देते हैं कि दार्शनिक मीमांसा व्यावहारिक दृष्टांतों के बिना हो ही नहीं सकती, यदि इन दृष्टांतों को न लिया जाय तो अन्य नये कहाँ से गढ़े जायँ। जो दृष्टांत दिये जायँगे वह सब व्यवहार संबंधी होंगे। जिन दृष्टांतों को देकर तुम अपना संदेह-वाद सिद्ध करते हो, वह भी तो व्यावहारिक ही हैं, जब तुम कहते हो कि लड्डू ज्वर में कडुवा लगता है, तो क्या ज्वर और लड्डू व्यावहारिक दृष्टांत नहीं हैं, 'ज्वर' और 'कडुवापन' दोनों का परिज्ञान भी तो इन्हीं इंद्रियों द्वारा होता है। दर्शन का तो काम ही है कि व्यवहार की मीमांसा करे।

वस्तुतः यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रयोग के नियमों को साव-

धानी के साथ व्यवहार में लाया जाय तो संदेह करने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस प्रकार तराज़ू से तौलने के लिये नियम है, उसी प्रकार इंद्रियों द्वारा ज्ञानोपलब्धि के लिये भी नियम हैं। जिस प्रकार तराज़ू की भूल-चूक मालूम करने के साधन हैं, उसी प्रकार इंद्रियों की भूल-चूक करने के भी साधन हैं। यदि इन साधनों को सावधानी से काम में लाया जाय तो धोखा नहीं हो सकता।

संदेहवादियों की सब से बड़ी ग़लती यह है कि वे इंद्रियों को बिना परीक्षा के ही धोखेबाज़ मान लेते हैं और यह समझ बैठते हैं कि सृष्टि ऐसी क्रूर तथा भयानक है कि उसमें हमारा इन धोखेबाज़ों के साथ समवाय सम्बन्ध होगया है। यह धोखेबाज़ कैसे हमारे पीछे लग गये ? और इनसे कैसे छुटकारा हो सकता है ? इसका कोई कारण नहीं बताता। परन्तु विचित्र बात यह है कि यदि इनके मतानुसार आँख, कान, नाक, खाल तथा जीभ को धोखेबाज़ मान लिया जाय, तो अंधे, बहरे आदि इंद्रियहीन पुरुषों को बधाई देनी पड़ेगी कि अच्छा हुआ तुम्हारा कम-से-कम दो-तीन धोखेबाज़ों से तो पिंड छूटा, और, यदि इस प्रकार नेत्र और कान वाले भी पिंड छुड़ाने लगें, तो बड़ी विचित्र अवस्था उपस्थित हो जायगी, जिसको बड़े से बड़े संदेहवाद तथा भ्रमवाद के महोपदेशक भी ग्रहण करने से काँपने लगेंगे।

यह ठीक है कि मनुष्य को कभी कभी भ्रम और सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु भ्रम तथा सन्देह शब्द ही बताते हैं, कि, इनके साथ ही साथ निश्चयात्मकता भी अवश्य है। यदि निश्चयात्मकता का अस्तित्व न होता तो भ्रम तथा सन्देह भी न होता। जिस प्रकार प्रकाश की अपेक्षा से अँधेरे का ज्ञान होता है, उसी प्रकार निश्चयात्मकता की अपेक्षा से सन्देह और भ्रम का

भी ज्ञान होता है। जो मनुष्य कहता है कि मुझे सन्देह हो रहा है, या मुझे भ्रम हो रहा है वह मान रहा है कि "सन्देह" या "भ्रम" का उसको निश्चयात्मक ज्ञान है। अर्थात् सन्देह और भ्रम को आश्रय देनेवाला भी निश्चयात्मक ज्ञान अवश्य होता है। क्या कभी किसी को यह कहते हुये भी सुना है कि मुझे भ्रम होने में भ्रम है? या सन्देह होने में सन्देह है? तब तो कहा जा सकता है कि मुझे यह निश्चय ज्ञान है कि, अमुक विषय के सम्बन्ध में मैं यथोचित ज्ञान नहीं रखता, अर्थात मैं उसे सन्देह की दृष्टि से देखता हूँ। दूर से जब हमको जल दिखाई पड़ता है, तो कह उठते हैं, कि "शायद यह सचमुच जल हो। शायद मृग-तृष्णिका मात्र हो।" परन्तु क्या कोई यह भी कहता है कि, मुझे इस सन्देह के होने मे सन्देह है? अर्थात् कम से कम सन्देह का ज्ञान तो निश्चयात्मक ही होता है, और यह संदेह उन्हीं इंद्रियों के व्यापार से मिटाया जा सकता है। हमने ऊपर कहा है कि तराज़ू की भूल चूक मालूम करने के भी साधन हैं। तौलने वाले झट से बता देते हैं कि अमुक तराज़ू से तौलने में फ़ी मन इतने छटांक या फ़ी सेर इतने तोले की भूल हो सकती है। यह साधन तराजुओं द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। इसी प्रकार इंद्रिय जन्य भ्रम या सन्देह भी इन्द्रिय-जन्य व्यापार द्वारा ही दूर हो सकता है।

मृग-तृष्णिका को लीजिये। इसको आप आँख की धोखे बाज़ी कहते हैं। हम इसको आप की बुद्धि की न्यूनता कहते हैं; और वस्तुत: है भी यही। यदि मृग-तृष्णिका की मीमांसा की जाय तो पता लगेगा कि रेत और जल के रूप में कुछ समानतायें हैं, कुछ असमानतायें। यदि समानता और अस-मानता दोनों को देख लिया जाय तो पहचान हो सकती है कि

यह रेत है, यह जल है। जब हम आँख से दूर से देखते हैं तो रेत के रूप का वह अंश ही प्रतीत होता है, जो जल के समान है। असमान रूप की प्रतीति नहीं होती। इसमें आँख का दोष नहीं है, किन्तु आँख को प्रयोग में लाने वाले का दोष है। आँख एक परिमित शक्ति वाला यन्त्र है, उससे अपरिमित या अधिक दूर की वस्तुओं को देख नहीं सकते। क्या यदि दस कोस पर बैठे हुये आपको अपना घर नहीं दीखता तो आप आँख को दोष देंगे ? आँख तो उतनी ही दूर की चीज देख सकेगी जितनी उसमें शक्ति है। रेत और जल की समानताओं का भान दूर से हो गया, असमानता का न हो सका ; अतः सन्देह रहा कि न जाने जल है या रेत। परन्तु जब आप पास पहुँचे तो उसी आँख से देख कर बता सके कि यह जल है, रेत नहीं ; या रेत है, जल नहीं। यदि आँख धोखेबाज होती तो निकट से भी न बता सकती कि सत्यता क्या है ? कल्पना कीजिये कि मोहन और सोहन की टोपियाँ एक सी हैं, परन्तु कोट भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। आप दूर से एक पुरुष को देख रहे हैं, जो उसी प्रकार की टोपी पहने हुये है। नीचे के धड़ तथा वस्त्र दिखाई नहीं पड़ते, क्योंकि आड़ में छिपे हैं। उस समय आपको टोपी के देखने से संदेह होता है कि यह या तो मोहन है, या सोहन। परन्तु जब किसी प्रकार उसका कोट भी दिखाई पड़ने लगता है तो आप कह उठते हैं कि यह मोहन है, सोहन नहीं; या सोहन है, मोहन नहीं। अब थोड़ा सा विचारिये कि धोखा किसने दिया ? आंख ने ? कदापि नहीं। वस्तुतः आपको सन्देह भी इसी लिये हुआ कि आपको टोपी का ठीक ठीक ज्ञान हो गया। यदि टोपी का ठीक ठीक ज्ञान न होता तो मोहन या सोहन के अस्तित्व का सन्देह भी

न होता। इसी लिये "संशय" का लक्षण करते हुए न्यायदर्शन-कार लिखते हैं :—

समानानेकधर्म्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थानश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

(न्याय १।१ २३)

अर्थात समान धर्मों का ज्ञान होने और विशेष का ज्ञान न होने से "संशय" उत्पन्न होता है। अर्थात् 'संशय' की नींव भी 'ज्ञान' पर ही है। रेत और जल के समान धर्म उसी प्रकार प्रतीत होते हैं जैसे मोहन और सोहन की टोपी, और विशेष धर्म उसी प्रकार प्रतीत नहीं होते जैसे उनके कोट या अन्य वस्त्र आदि।

यही हाल सीप और चांदी का है। दूर से सीप को देख कर बहुधा सन्देह हो जाता है कि यह चाँदी है, क्योंकि सीप और चाँदी के रूपों में बहुत कुछ सादृश्य है। वस्तुतः आँख इसी सादृश्य या समान धर्म का अवलोकन करती है। विशेष धर्म दूरी के कारण छिप जाते हैं। इसी लिये सीप और चांदी में भ्रम हो जाता है। जब वह विशेष धर्म भी दिखाई पड़ने लगते हैं, तो संशय सर्वथा दूर हो जाता है।

ठूंठ और चोर, या साँप और रस्सी में भ्रम होने का भी यही कारण है। इन सब दृष्टांतों में कोई एक भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहा जा सके कि आंख ने हमको धोखा दिया। आंख तो स्पष्टतया बता रही है, और इसी कारण हमको संशय हो रहा है। यदि आप इस भ्रम का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि—

(१) पहले आँख ने साँप और रस्सी दोनों का यथोचित निरीक्षण किया और उनके धर्म आपको बताये।

*

(२) इनमें से कुछ तो साँप और रस्सी के समान थे, कुछ असमान।

(३) आपने आँख को आज्ञा दी कि अमुक वस्तु को देखकर बताओ कि इसमें कौन सा धर्म है।

(४) अँधेरा होने के कारण आँख कुछ देख सकी और कुछ न देख सकी।

(५) उसने आपसे कहा कि मुझे केवल इतना धर्म दिखाई पड़ता है, इससे अधिक नहीं।

(६) यह धर्म वह था जो सांप और रस्सी दोनों में समान था। इसकी आपको स्मृति थी।

(७) इसलिये आप संशय में पड़ गये कि न जाने सांप है या रस्सी।

यह सातों क्रियायें इतनी शीघ्रता से होती हैं कि आप इनको अलग अलग गिन नहीं सकते, परन्तु होती अवश्य हैं, और इनमें से किसी के लिये आप आँख को दोष नहीं दे सकते।

इसी सम्बन्ध में दो और दृष्टांतों का निराकरण होना चाहिए। एक ज्वर के समय लड्डू के कडुवा लगने का, और दूसरा पीलिया रोग की अवस्था में श्वेत वस्तुओं के पीला दिखाई पड़ने का। पहले के कारण तो रसनेन्द्रिय को धोखेबाज कहा जाता है, और दूसरे के कारण चक्षु-इन्द्रिय को। वस्तुतः इन दोनों में से एक में भी इन्द्रियों का दोष नहीं।

हम पहले लड्डू के दृष्टाँत को लेते हैं। लड्डू को कई आदमियों को खिलाकर देखो। सभी कहते हैं कि यह मीठा होता है, हलवाई इसलिये इसको बनाता है। असंख्यों पुरुष, जो उसकी दूकान से लड्डू मोल लेते हैं, इस बात की साक्षी देते

हैं कि लड्डू मीठा होता है। अब यदि लड्डू में कुनैन का थोड़ा सा अंश मिला दो, तो जो पुरुष पहले उसे मीठा कहता था वही अब उसे कड़ुवा बताता है। यह जीभ का दोष नहीं किन्तु गुण है कि उसने आपको झट बता दिया कि इसमें कोई कड़ुवी वस्तु मिली है। एक और अवस्था पर विचार कीजिये। जिस पुरुष ने लड्डू को मीठा बताया है, उसकी जीभ पर कुनैन मल दो, फिर लड्डू खिलाओ, तो वह उसको कड़ुवा बताएगा। इसका कारण न तो लड्डू का दोष है, न जीभ का। किन्तु बात यह है कि जीभ और लड्डू (अर्थात इन्द्रियाँ और अर्थ) का सन्निकर्ष होने से पहले या तो लड्डू में परिवर्तन हो गया, या जीभ और लड्डू के बीच में कुनैन का आवरण आ गया। बस यही दशा ज्वर-पीड़ित मनुष्य की है। ज्वर की अवस्था में कड़ुवी वस्तु राल में मिली होती है। यह वस्तु लड्डू से नहीं आती किन्तु शरीर में रोग हो जाने के कारण शरीर की धातुओं से उत्पन्न हो जाती है। जिस समय मनुष्य लड्डू को मुँह में रखता है तो यह कड़ुवी चीज़ लड्डू में मिल जाती है, इसी लिये लड्डू कड़ुवा प्रतीत होने लगता है। इसका सब से मोटा सुबूत यह है कि, ज्वर की अवस्था में बिना लड्डू खाये भी रोगी को अपना मुँह कड़ुवा मालूम होता है, क्योंकि भीतर से कड़ुवा रस रोग के कारण उत्पन्न होकर मुँह में आया करता है। रोगी को जो कड़ुवापन प्रतीत होता है वह लड्डू का नहीं किंतु उस कड़ुवे रस का है जो मुँह में उत्पन्न हो गया है। इसमें इन्द्रिय का कुछ भी दोष नहीं है।

पीलिया रोग का भी यही सिद्धांत है। यदि तुम स्वस्थ आंख में पीला चश्मा लगा लो तो सफ़ेद दीवार पीली दीखेगी, क्योंकि पीले चश्मे के कारण सूर्य की जो किरणें आँख तक आती हैं

उनके अन्य सब रंग विलीन हो जाते हैं, केवल पीला रंग रह जाता है। वही प्रतीत होने लगता है। पीलिया के रोग में भी यही होता है, अर्थात् रोग के कारण आंख के उस अंश में, जिससे चक्षु-इन्द्रिय रूप ग्रहण किया करती है, कुछ ऐसा विकार हो जाता है कि प्रकाश की किरण से अन्य सब रंग विलीन हो जाते हैं, केवल पीला रंग रह जाता है, या आंख के सामने कुछ पीला आवरण आ जाता है। इसी कारण समस्त वस्तुएं पीली दिखाई पड़ती हैं। यदि औषधि द्वारा इस विकार को दूर कर दिया जाय तो फिर यथार्थ रंग दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार जिसको सन्देहवादी इन्द्रियों का दोष बताते हैं, वह वस्तुतः उनका दोष नहीं होता है।

श्रीशंकराचार्य महाराज ने अपने वेदान्त-भाष्य में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को जो अविद्याजन्य या असत्य ठहराया है, वह ठीक नहीं है। हम यहाँ उनका कथन उद्धृत करके उसकी समालोचन करते हैं :—

(१) कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति। उच्यते।

(२) देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

(३) नहीन्द्रीयाण्युनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति।

(४) न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति

(५) न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते ।

(६) न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असंगस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते ।

(७) न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति ।

(८) तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।

अर्थात्—

(१) प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्या-जन्य कैसे है ? इसका कथन करते हैं।

(२) यदि आत्मा देह और इन्द्रियों में 'अहंबुद्धि' या 'ममबुद्धि' न करे तो उसमें प्रमाता की उपपत्ति नहीं होती। अर्थात् जब तक आत्मा शरीर और इन्द्रियों के बिषय में यह नहीं कहता कि 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरी है' उस समय तक आत्मा प्रमाणों का प्रयोग नहीं कर सकता और उसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को प्रयोग में लाने की प्रवृति नहीं होती।

(३) विना इन्द्रियों के प्रत्यक्ष आदि होते नहीं।

(४) विना आत्मा के अधिष्ठान के भी इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं कर सकतीं।

(५) और जब तक देह में आत्मा का अध्यास न किया जावे, उस समय तक शरीर से कुछ काम नहीं होता।

(६) यदि यह सब कुछ न हो तो अकेले आत्मा में प्रमातृत्व का भाव नहीं उठ सकता।

(७) जब तक प्रमातृत्व न हो उस समय तक प्रमाणों में प्रवृत्ति ही कैसे हो ?

(८) इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावत् हैं।

श्रीशंकराचार्य्य की परम विद्वत्ता तथा उनकी युक्तियों के प्राबल्य की प्रशंसा करते हुये भी हमको कहना पड़ता है कि यहां शंकर स्वामी की युक्ति ठीक नहीं है। यदि पाठकगण थोड़ा सा भी विचार करेंगे तो उनको प्रतीत हो जायगा कि उनका हेतु हेत्वाभास मात्र ही है। शंकर स्वामी शरीर और इन्द्रियों में आत्मा का अध्यास मानते हैं। अर्थात् वह कहते हैं कि आत्मा अविद्या के कारण शरीर और इन्द्रियों को 'मैं हूँ' ऐसा मान लेता है और यही मानकर प्रत्यक्ष आदि व्यापार करता है, इसलिये यह सब व्यापार अविद्या के कारण होते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाण भी अविद्यावत् सिद्ध होते हैं।

परन्तु यह उनकी कल्पना हेतुशून्य है। उन्होंने कोई युक्ति इस पक्ष की पुष्टि में नहीं दी कि आत्मा शरीर और इन्द्रियों को "मैं हूँ" ऐसा समझ लेता है। उन्होंने अध्यास के विषय में चार बातें कही हैं:—

(१) स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

(२) अन्यत्रान्यधर्माध्यासः।

(३) यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो-भ्रमः।

(४) यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्व-कल्पना ।

अर्थात्—

(१) पहले देखी हुई किसी वस्तु की स्मृतिरूप में किसी दूसरी वस्तु में कल्पना कर लेना अध्यास है । जैसे पहले गर्म दूध से मुँह जल गया । इसकी याद रही, अब ठण्डे दूध या छाछ को देखकर भी यह कल्पना की कि इससे भी मुँह जल जायगा । तो इसी को अध्यास कहेंगे ।

(२) एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना करना अध्यास है, जैसे वृक्ष के ठूँठ को चोर समझ लेना ।

(३) भेद या विशेषता का ज्ञान न होने के कारण जो भ्रम हो जाता है उसे अध्यास कहते हैं । जैसे कुत्ता हड्डी चूसता है और उसके लग जाने से मुँह से जो खून बहता है, उसको वह निश्चयपूर्वक कह नहीं सकता कि यह हड्डी से निकल रहा है या मेरे मुँह से । इस प्रकार का भ्रम अध्यास है ।

(४) यदि एक वस्तु में उससे विपरीत धर्म वाली वस्तु के धर्म मान लिये जायँ, तो यह भी अध्यास कहलाता है ; जैसे मूर्ति जड़ है, उसको चेतन समझ लेना ।

इन चारों लक्षणों में एक समानता है, वह यह कि—

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति ।

अर्थात् एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म की कल्पना कर लेना ।

अब देखना यह है कि इनमें से किस अर्थ में आत्मा शरीर या इन्द्रियों में अपना अध्यास करता है? विचारपूर्वक देखा जाय तो एक में नहीं। शंकर स्वामी आगे लिखते हैं :—

"अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथापुत्र-भार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्य-धर्मा नात्मन्यध्यस्यति। तथा देहधर्मान्–स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं; तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्–मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्–कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीनि। एवमहं प्रत्ययिनमशेष-स्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य त च प्रत्यगात्मानं सर्वसा-क्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।"

अर्थ—हम कह चुके हैं कि एक में दूसरे को बुद्धि करना अध्यास है। जैसे

(१) पुत्र, स्त्री आदि के दुःखी या सुखी होने पर इस बाहरी दुःख या सुख को अपने आत्मा में मान लेना, अर्थात यह समझ लेना कि मैं दुःखी या सुखी हूँ—अध्यास है।

(२) शरीर के धर्म को अपने आत्मा में मान लेना अध्यास है; जैसे मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं खड़ा होता हूँ, मैं जाता हूँ; इत्यादि।

(३) इन्द्रियों के धर्मों को अपना धर्म मान लेना अध्यास है, जैसे मैं गूंगा हूँ, मैं काना हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं अन्धा हूँ।

(४) अन्तःकरण के धर्म अर्थात् संकल्प आदि को अपने आत्मा में मान लेना अध्यास है।

हमको इन चारों अवस्थाओं में से एक में भी अध्यास का लक्षण (अतस्मिँस्तद्बुद्धि) नहीं मिलता। आत्मा शरीर और इन्द्रिय आदि में 'आत्मत्व' की भावना नहीं करता, किन्तु वह उनको अपने कार्य का साधन तथा अपनी सम्पत्ति समझता है। अध्यास में वह वस्तु, जिसका अध्यास किया जाता है, उस वस्तु के पास जिसमें, अध्यास किया जाता है, नहीं होती। परन्तु साधक के पास साधन या स्वामी के पास सम्पत्ति होती है। रस्सी में साँप नहीं किन्तु उसमें साँप के धर्म मान लिये गये, इसलिये यह अध्यास है। यदि रस्सी के ऊपर साँप होता और उस समय साँप के गुण माने जाते तो यह अध्यास न होता। सीप में चाँदी का धर्म मान लेना अध्यास है, परन्तु यदि सीप के ऊपर चाँदी का खोल चढ़ा दिया जाय और उस खोल में चाँदी के धर्म माने जायँ, तो कोई इसको अध्यास नहीं कहेगा, और न यह शंकराचार्य-कथित अध्यास के किसी लक्षण के अन्तर्गत आ सकता है। जब मैं पुत्र या स्त्री को दुःखी देखकर दुःखी होता हूँ, तो इसका यह अर्थ नहीं कि, मैं अपने को 'पुत्र' या 'स्त्री' समझ लेता हूँ; किन्तु केवल इतना मानता हूँ कि इनके द्वारा जो मुझ को सुख मिलता वह न मिलेगा। इसी का परिज्ञान होने के कारण मुझे दुःख होता है। यदि स्त्री या पुत्र को ज्वर आ जाय तो कोई यह नहीं समझता कि, मुझे ज्वर आ रहा है। यदि स्त्री या पुत्र की पीठ में फोड़ा निकले तो मैं कभी यह नहीं समझता कि मेरी पीठ में फोड़ा निकला है। उस समय मेरी भावना ऐसी होती है कि यह मेरे सम्बन्धी हैं। इनको कष्ट हो रहा है, अतः मुझे भी कष्ट हो रहा है। यदि इस भावना का विश्लेषण किया जाय तो तीन बातें मिलेंगी:—

(१) स्त्री या पुत्र का बीमार होना।

(२) उस बीमारी के कारण उनका दुःखी होना।

(३) उनके उस दुःख के कारण मेरा दुःखी होना।

जो दुःख स्त्री या पुत्र को है वही दुःख मुझे नहीं है। मेरा दुःख उससे भिन्न है। स्त्री या पुत्र का दुःख ज्वर से उत्पन्न हुआ है, और मेरा दुःख उनके दुःख से। मुझे वही पीड़ा नहीं हो रही, जो स्त्री या पुत्र को हो रही है। मेरी पीड़ा और उनकी पीड़ा में भेद है। उनकी पीड़ा मेरी पीड़ा का कारण मात्र है। अतः जब मैं स्त्री या पुत्र के दुःख या सुख में अपने को दुःखी या सुखी समझता हूँ, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मैं स्त्री या पुत्र में अपना अध्यास कर रहा हूँ।

इसी प्रकार शरीर मेरे काम का साधन मात्र है। मैं शरीर से काम लेता हूँ। वह मेरा औज़ार (Instrument) है। मैं शरीर को यह नहीं समझता कि मैं शरीर हूँ। यह तो सब कहते हैं कि मेरा सिर है, मेरी टांगें हैं, मेरे हाथ हैं, या मेरा शरीर है। यह कोई नहीं कहता कि मैं सिर हूँ, मैं टांगें हूँ, मैं हाथ हूँ, इत्यादि। हमने यह तो सब को कहते सुना है कि मेरे शरीर में पीड़ा है। परन्तु क्या कोई ऐसा भी कहता है कि 'मुझ में पीड़ा है'? श्रीशंकराचार्य जी जैसे दार्शनिकों की बात जाने दीजिये। वह विचित्रता के लिये कुछ भी क्यों न समझते हों, या समझ सकते हों, परन्तु साधारणतया असभ्य और अशिक्षित मनुष्य से लेकर शिक्षित और सभ्य मनुष्य तक कोई भी यह नहीं समझता कि—मैं शरीर हूँ। यही सब कहते हैं कि मेरा शरीर है। यह ठीक है कि लोग कहते हैं कि, मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ इत्यादि, परन्तु यह उपचार की भाषा है। "मैं मोटा हूँ" का अर्थ है " मैं मोटे शरीरवाला हूँ "। " मैं गोरा हूँ " का अर्थ है " मैं

गोरे शरीर वाला हूँ" यह उपचार की भाषा केवल इसलिये नहीं है कि हम ऐसा कहते हैं, किन्तु प्रत्येक भाषा-भाषी के मस्तिष्क में यह भाव विद्यमान रहता है कि इन वाक्यों से मेरा क्या तात्पर्य है। इसका सुबूत यह है कि यदि किसी से पूछो कि "क्या तुम मोटे हो?" या "तुम्हारा शरीर मोटा है?" तो वह झट कह उठेगा कि "मेरा यही तात्पर्य है कि मेरा शरीर मोटा है।" जब हम कहते हैं कि "मैं जाता हूँ" तो इसमें अध्यास कहाँ से आ गया? "जाने" का अर्थ यह है कि एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान को घेरना। इसमें संदेह नहीं कि जब मैं जाता हूँ तो अवश्य पहले स्थान पर विद्यमान नहीं रहता, किंतु दूसरे स्थान पर होता हूँ। इसलिये "मैं जाता हूँ" वाक्य या व्यापार में शरीर पर आत्मा का अध्यास मानना किसी प्रकार भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

इन्द्रियों में आत्मा के अध्यास के जो उदाहरण श्रीशंकराचार्य जी ने दिए हैं उनके विचार से तो हँसी आए बिना नहीं रुकती। वह कहते हैं कि "मैं अंधा हूँ" इसमें "आत्मा" का "इन्द्रियों" (इस स्थान पर 'आंख') में अध्यास है। अर्थात् 'आंख' को आत्मा समझ लिया गया है। परंतु यह कैसे? "मैं अंधा हूँ" का क्या अर्थ है? यही न कि "मेरे पास आँखें नहीं हैं" अथवा "मैं नेत्र हीन हूँ"। "नेत्रहीन" शब्द "नेत्रों" का निषेध करता है, न कि 'नेत्रों' में आत्मा का अध्यास मानता है, "अंधा हूँ" का अर्थ यह नहीं है कि "आँख अंधी है" किंतु यह कि "मेरे आंखें नहीं है।" यदि मैं कहूँ कि "मैं मोटर-हीन हूँ" अर्थात् "मेरे पास मोटर नहीं है" तो यह किस प्रकार सिद्ध हुआ कि मैंने मोटर में अपने धर्म की या अपने में मोटर के धर्म की बुद्धि कर ली? न ऐसा होता है और न इसके लिये कोई

हेतु ही है। इसी प्रकार संकल्प और विकल्प के विषय में समझना चाहिए। अंतःकरण और आत्मा में साधन और साधक का संबंध है, अध्यास और अध्यस्त का नहीं। श्रीस्वामी शंकराचार्यजी ने शारीरिक भाष्य का आरम्भ ही इस कल्पना से किया है कि—

अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः।

अर्थात् चेतन विषयी आत्मा में अचेतन विषय और उसके धर्मों का मान लेना अध्यास है। इसके लिये उन्होंने कोई युक्ति नहीं दी और इसी कल्पना के ऊपर समस्त 'अध्यासवाद' तथा "अद्वैतवाद" का भवन निर्माण कर दिया है। उनके आरम्भ के शब्द यह हैः—

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायां, तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतर भावानुपपत्तिः।

अर्थात् 'तुम' शब्द के वाच्य विषय और "मैं" शब्द के वाच्य विषयी के स्वभावों में अंधेरे और प्रकाश के समान भेद है। इसलिये एक में दूसरे के स्वभावों की उपपत्ति नहीं हो सकती। जब यह सिद्ध हो गया, तो उनके धर्मों की भी एक दूसरे में उपपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रकाश के धर्मों की अँधेरे में और अँधेरे के धर्मों की प्रकाश में उपपत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रमाता या 'जाननेवाले' के धर्मों की 'प्रमेय' या 'जानने-योग्य' वस्तु में उपपत्ति नहीं होती। इसलिये जब हम संसार में प्रमाता और प्रमेय का व्यव-

हार देखते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि यह व्यवहार अध्यास-मात्र है।

परंतु यह बात सिद्ध करने का उन्होंने यत्न नहीं किया कि प्रकाश और अंधकार में जो संबंध है वही विषयी और विषय, या प्रमाता और प्रमेय में है। प्रकाश के अभाव का नाम ही अंधकार है परंतु प्रमाता या विषयी के अभाव का नाम प्रमेय या विषय नहीं। विषयी और विषय में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। प्रकाश और अन्धकार में यह संबंध नहीं, न हुआ और न कभी हो सकता है। ज्ञाता ज्ञेय को किस प्रकार जानता है, यह और बात है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जानता ा वश्य है। केवल कह देने से विषयी और विषय में अध्यस्त और अध्यास का संबध नहीं हो सकता और न उनमें वह भेद है, जो प्रकाश और अंधेरे में है। पहले अध्यास की कल्पना करके फिर उसके अनुसार युक्तियां देना और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अविद्यावत् बतलाना साध्यसमहेत्वाभास है।

कहीं कहीं श्रीशंकराचार्य जी ने अध्यास के जो उदाहरण दये हैं हास्यजनक हैं। जैसे—

अप्रत्यक्षेऽपि आकाशे बालास्तलमलिनताद्य-ध्यस्यन्ति।

"जो प्रकाश प्रत्यक्ष नहीं है अर्थात् आख से नहीं दिखाई ड़ता उसमें मूर्ख लोग नीलेपन का अध्यास कर लेते हैं।"

इस पर भामती टीका इस प्रकार है:—

नभो हि द्रव्यं सत् रूपस्पर्शविरहान्न बाह्ये-न्द्रियप्रत्यक्षम्। नापिमानसम्; मनसोऽसहायस्य बाह्येऽप्रवृत्तेः। तस्मादप्रत्यक्षम्। अथ च तत्र

बाला अविवेकिनः परदर्शितदर्शिनः कदाचित्पार्थिवच्छायायां श्यामतामारोप्य कदाचित्तैजसं शुक्लत्वमारोप्य नीलोत्पलपलाशश्याममिति वा राजहंसमालाधवलमिति वा निर्वर्णयन्ति ।

अर्थात आकाश द्रव्य है। उस में रूप स्पर्श नहीं है। वह आंख आदि इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता न मन से उसका ग्रहण हो सकना है। इस लिये वह प्रत्यक्ष नहीं। परन्तु मूर्ख लोग पृथ्वी की छाया के कालेपन को आकाश में आरोपित करके उस को नीला नीला कहने लगते हैं।

परन्तु थोड़े से विचार से प्रकट हो जाता है कि इसको अध्यास मानने में श्रीशंकरस्वामी ने वाक्छल से काम लिया है। वस्तुतः 'आकाश' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो दार्शनिक अर्थ में आकाश एक द्रव्य माना गया है। यह सर्वव्यापी है। दूसरा ऊपर जो नीला नीला दीखता है उसको भी आकाश कहते हैं। साधारणतया किसी से कहो कि "आकाश की ओर देखो" तो वह ऊपर को देखने लगेगा। क्योंकि वह आकाश से निराकार द्रव्य का अर्थ नहीं लेता। इसी प्रकार जो पुरुष आकाश को मलिन या नीला बताते हैं वह आकाश 'द्रव्य' को ऐसा नहीं बताते। किन्तु उस आकाश को जो ऊपर नीला नीला चमकता है, चाहे वह पृथ्वी के परमाणु हों या जल के। अध्यास उस समय होता, जब नीली चीज़ न होती और लोग उसे नीला कहते। विचार साधारण मनुष्यों को तो सर्व व्यापी निराकार आकाश का ज्ञानमात्र भी नहीं है, और जिनमें यह ज्ञान है वे भी उसको नीला नहीं बताते। जो ऊपर दीखता है, उसको तो शंकरस्वामी भी नीला ही कहेंगे, क्योंकि वह नीला है। एक ही

वाक्य में पहले आकाश को एक अर्थ में प्रयुक्त करना और फिर दूसरे में, एक ऐसी गलती है जिसकी आशा दार्शनिक-शिरोमणि श्रीशंकराचार्य जी की पुस्तकों में नहीं हो सकती। परन्तु यह दुर्भाग्य है कि उनका भाष्य ऐसे हेत्वाभासों से भरा पड़ा है। हम यहां इसी अविद्या के संबंध में एक और अवतरण देते हैं।

(१) अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

(२) पश्वादिभिश्चाविशेषात्।

(३) यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति, शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते, ततो निवर्तन्तेऽनुकूले च प्रवर्तन्ते।

(४) यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति।

(५) एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते।

(६) अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः।

(७) पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः।

(८) तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते ।

श्रीशंकराचार्य जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का खण्डन करना चाहते हैं। उनकी युक्तियाँ सुनिये :—

(१) पशुओं में विवेक नहीं ।

(२) इसलिये उनके सब व्यवहार विवेक-शून्य हैं ।

(३) पशु किसी को दंडा हाथ में लिए देख कर उसको अपना अहितकारक समझ कर उससे भागते हैं, और यदि कोई हरी हरी घास दिखावे, तो उसे अपना हित समझ कर उसके पास आते हैं ।

(४) जब उसके सब व्यवहार विवेक-शून्य हुए, तो दंडेवाले के पास से भागना और घासवाले की ओर आकर्षित होना भी विवेक-शून्य ही हुआ ।

(५) मनुष्य भी ऐसा ही करता है अर्थात् भलाई करनेवाले की ओर आकर्षित होता है और बुराई करनेवालों से दूर भागता है ।

(६) इसलिये उसका यह व्यवहार भी विवेक-शून्य हुआ ।

(७) अतः पशुओं के समान व्यापार करने से मनुष्य भी अविवेकी ठहरा ।

(८) अतः उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण भी अविद्यावत् ठहरे ।

जो पढ़े लिखे पुरुष हैं अर्थात् जिनका मस्तिष्क विकसित हो चुका है, परंतु जिन्होंने श्रीशंकराचार्य जी के ग्रंथ नहीं पढ़े,

उनको कभी विश्वास न होगा कि यह कथन श्रीशंकराचार्य जैसे धुरंधर विद्वान् का है। परंतु सत्य तो यह है कि यह न केवल शांकर-भाष्य का ही अवतरण है, किन्तु ऐसे स्थान से लिया गया है, जो समस्त भाष्य की जान है अर्थात् 'चतुःसूत्री'। यह ऐसा अवतरण है, जिस पर श्रीशंकराचार्य जी के समस्त सिद्धांत का आश्रय है। वस्तुतः इसको शांकर-मत का बुनियादी पत्थर कहना चाहिए। हम यहाँ अपनी ओर से एक युक्ति देते हैं जो ऊपर दी हुई शाँकर-युक्ति के सर्वथा समान है। भेद केवल इतना है कि उस पर शङ्कर महाराज की छाप है।

(१) मोहन पागल है।

(२) अतः उसके सब काम पागलपन के हैं।

(३) वह मुँह से रोटी खाता है।

(४) अतः उसका यह काम भी पागलपन का हुआ।

(६) मैं भी मोहन के समान ही मुँह से रोटी खाता हूँ।

(७) अतः मैं भी पागल हुआ।

जिस प्रकार आप इसको ठीक नहीं मानते उसी प्रकार मैं भी शंकराचार्यजी की युक्ति को नहीं मान सकता। पशुओं को अविवेकी इसलिये कहते हैं कि उनके बहुत से कामों से अविवेक टपकता है। परंतु उनके सभी काम विवेक-शून्य नहीं होते। पहले उनको अविवेकी मानकर, फिर उनके सब कामों को विवेक-शून्य बताना ठीक नहीं। दंडेवाले से भागना और घासवाले से प्रेम करना कभी अविवेक नहीं है। क्या शङ्करस्वामी पशुओं को उस समय विवेकी कहते जब वह दंडेवाले से प्रेम और घासवाले से अप्रेम करते? यदि ऐसा ही है, तो हम उन बच्चों को विवेकी कहेंगे, जो भूल से आग के अंगारे को हाथ में

पकड़ लेते हैं। मनुष्य के बहुत से व्यवहार पशुओं के से हैं, या यों कहिए कि पशु भी बहुत से व्यवहार विवेकी पुरुषों की भाँति करते हैं। यह व्यवहार अर्थात् दंडेवाले से भागना और घास-वाले से प्रेम करना भी पशुओं की बुद्धिमत्ता का सूचक है। वह उनके अविवेक का सूचक कदापि नहीं। हां, बहुत से अन्य व्यव-हार अवश्य उनके अज्ञान को सूचित करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी विवेक-सूचक और विवेक-शून्य दोनों प्रकार के काम करता है और उसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रयुक्त करना कभी अविद्या या अविवेक-सूचक नहीं कहा जा सकता। न प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावत हैं।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विषय में एक बात और कही जाती है। वह यह कि ब्रह्म-विद्या में केवल प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से काम नहीं चलता। क्योंकि ब्रह्म निराकार और अगोचर होने से इन्द्रियों का विषय नहीं।

इस बात को हम भी मानते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण ईश्वर में नहीं घट सकता। कपिल ने सांख्य में इसीलिये तो कहा था कि:---

ईश्वरासिद्धेः

अर्थात् ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं घटता। यदि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही होता जैसा कि चार्वाक-मत का अभिमत है, तो ईश्वर सिद्ध न हो सकता। परंतु हम अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत आगम या आप्त प्रमाण के विद्यामान होने से हमारे मत में कोई हानि नहीं आती। हम यह नहीं कहते कि चूंकि ब्रह्म-विद्या के लिये आगम अर्थात् वेद की आवश्यकता है, अतः प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण अविद्या-जन्य है। प्रत्यक्ष प्रमाण में भी

भेद है। नाक से रूप और आंख से गंध नहीं मालूम होती। परंतु नाक से गंध और आंख से रूप अवश्य मालूम होते हैं। यदि एक प्रमाण से, या एक प्रमाण की एक शाखा से, दूसरे प्रमाणों या दूसरी शाखा का काम नहीं निकल सकता, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पहला प्रमाण अविद्या-जन्य है। वेदांतदर्शन के दूसरे अध्याय के पहले पद का ११ वां सूत्र यह है :—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवम-
प्यविमोक्षप्रसंगः।

(वेदान्त २। १। ११)

इस पर श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं :—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति। उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्।

अर्थात् केवल तर्क से काम नहीं चलता ! क्योंकि तर्क निश्चित नहीं है। यदि एक पुरुष एक बात को तर्क से सिद्ध कर देता है, तो उससे अधिक बुद्धिमान् उसको काट देता है। इस प्रकार तर्क में अनवस्था दोष आता है।

यहां श्रीशंकराचार्यजी का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किया गया तर्क 'अविद्यावत' है। वस्तुतः वह अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को जो उन्होंने दर्शन-भाष्य के आरंभ में की थी, भूल से गये हैं। क्योंकि इसी स्थल पर उनको मानना पड़ा कि :—

यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते; तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषदनिर्मोक्षस्तर्कस्य। न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्।

अर्थात् किसी-किसी विषय में तर्क की प्रतिष्ठिता है, परन्तु मोक्ष आदि अतिगम्भीर विषयों में वेद के बिना कार्य नहीं चलता।

इसी सूत्र के भाष्य में श्रीभाष्य-कर्ता श्रीरामानुजाचार्यजी का मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। वह लिखते हैं कि—

"अतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्। तदुपबृंहणायैव तर्क उपादेयः। तथा च आह—
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना,
यस्तर्केणानुसधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

(मनु० १२ १०६)

अर्थात "जिन विषयों में इंद्रियों की गति नहीं है, वहां शास्त्र ही प्रमाण है। उस (शास्त्र) के ठीक ठीक समझने के लिये ही तर्क का उपयोग है; जैसा कि कहा है।

ऋषियों द्वारा किया हुआ धर्मोपदेश ही धर्म है। यदि वह वेद-शास्त्र के अनुकूल हो और तर्क से स्थापित किया जा सके।

मनुस्मृति के इस श्लोक को श्रीशंकराचार्यजी ने भी दिया है, परन्तु पूर्वपक्ष में। वस्तुतः उनके हृदय में उस बात का संस्कार जमा हुआ था कि "प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावत्" हैं। जब पूर्वपक्ष ने तीक्ष्ण युक्तियां पेश कीं कि—

(१) एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते।

(२) सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेद-प्रसंगः।

(३) अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति। अर्थात्

(१) तर्क का खंडन भी तो तुम तर्क से ही करते हो, फिर तर्क की अप्रतिष्ठा कहां रही।

(२) सब तर्कों की अप्रतिष्ठा हो जायगी, तो लोकव्यवहार बंद हो जायगा।

(३) जिसको तुम तर्क का दोष बताते हो वह दोष नहीं, किन्तु गुण है। क्योंकि इससे केवल दोष-युक्त तर्क का परित्याग और दोष-रहित तर्क का ग्रहण होता है।

इन युक्तियों के उत्तर में उनको मानना पड़ा कि कहीं कहीं तर्क की प्रतिष्ठा अवश्य है। परन्तु इस सूत्र के भाष्य में जो

कुछ उन्होंने लिखा है उससे उनकी प्रतिज्ञा-हानि अवश्य होती है। क्योंकि वह आरम्भ में मान चुके हैं कि—

अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र दोनों अविद्यावत् हैं।

यदि शास्त्र भी अविद्यावत हुए, तो उनकी वही कोटि हुई जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की। फिर वह "अति गम्भीर" या 'अतीन्द्रिय' विषय के लिये प्रमाण कहाँ से लावेंगे? वह तो 'आगम' का भी खंडन कर चुके। और यदि प्रत्यक्ष अविद्यावत् है, तो यह कहना कैसे बन सकेगा कि:—

क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते ।

अर्थात कहीं कहीं तर्क की प्रतिष्ठा पाई जाती है।

यदि कहो कि लोक-संबंधी व्यवहार में जो स्वयं मिथ्या है, मिथ्या बातों की प्रतिष्ठा हो सकती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्य तो सत्य का अविरोधी होता है, परन्तु झूठ झूठ का अविरोधी नहीं होता। रुपए में १६ आने होते हैं, यह सच है। परंतु 'रुपये में १५ आने होते हैं' यह भी झूठ है और 'रुपए में १४ आने होते हैं' यह झूठ है। यह दोनों झूठ परस्पर एक नहीं हो सकते। और यदि यह मान भी लिया जाय कि झूठों की झूठों में प्रतिष्ठा होती है, तो आप की "मोक्ष-विद्या" या 'ब्रह्म-विद्या' तो सच है। फिर उसमें "अविद्यावत्" "शास्त्रों" का कैसे प्रमाण मानते हो?

वस्तुतः बात यह है कि बादरायण मुनि प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अविद्यावत् नहीं मानते थे। इस सूत्र से उनका तात्पर्य केवल इतना था कि वह शास्त्रों की महिमा पर बल दें। 'वेदांत-दर्शन'

रचने का भी यही प्रयोजन था कि ब्रह्म-विद्या की वेदों और उपनिषदों के आधार पर पुष्टि की जाय। यह शंकराचार्यजी की अपनी धारणा है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावत हैं। यदि शंकराचार्यजी ऐसा न करते, तो उनका "जगन्मिथ्यावाद" कैसे सिद्ध होता ? परन्तु हम यह बताना चाहते हैं कि श्रीशंकराचार्यजी अपने इस कार्य में सफल नहीं हुए। 'अविद्यावत' शास्त्रों के तो उन्होंने निरन्तर प्रमाण दिए ही हैं, परन्तु जिन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को वह अविद्यावत बताते हैं इन लोक के दृष्टांतों से भी समस्त भाष्य भरा पड़ा है। यदि उनको छोड़ दिया जाय तो वह एक पग भी आगे नहीं रख सकते। हम यहाँ केवल वह उदाहरण देंगे जिनके मिथ्या होने से उनके सिद्धांतों की भूमिका ही हिल जाती है :—

(१) **"सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः-शुक्तिका हि रजतवदवभासते।"** (भूमिका)

"अन्य में अन्य के धर्म का प्रतीत होना अध्यास है। जैसे लोक में अनुभव है कि सीपी चांदी के समान प्रतीत होती है।"

समीक्षा—"सीपी चांदी के समान प्रतीत होती है" का क्या अर्थ है ? यही न कि वस्तुतः यह सीपी है, पर चांदी मालूम होती है। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर विश्वास न किया जाय, तो यह कैसे सिद्ध होगा कि वस्तुतः यह सीपी है। यदि श्रीशंकराचार्य जी के उपर्युक्त कथन के अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण पशुओं के समान अविवेक के सूचक हैं, तो "यह सीपी है" ऐसा कहना भी अविवेक का ही परिणाम होगा और हम कभी यह न कह सकेंगे कि "यह वस्तुतः सीपी है और चांदी मालूम होती है।" और उनके अध्यास का लक्षण भी न दिया जा सकेगा।

२ "यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति तद्वत् ।"

(शांकर-भाष्य १ । १ । १)

"जैसे राजा जाता है" कहने में यह भी समझ में आ जाता कि राजा के साथी जा रहे हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्म की जिज्ञासा' में ब्रह्म-संबंधी अन्य बातों की भी जिज्ञासा आ जाती है ।

समीक्षा—यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अविद्यावत मानो, तो राजा का जाना भी अविद्या-जन्य ही होगा, फिर यह दृष्टांत कैसे ठीक होगा ।

३ "न हि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति । तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम् । स्थाणुरेवेति तत्त्व ज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात् ।" (शांकर-भाष्य १ । १ । २)

"किसी ठूँठ (वृक्ष के स्थाणु) को देखकर यह संदेह करना कि यह ठूंठ है या आदमी है या कोई और चीज़ है, तत्व-ज्ञान नहीं । 'यह आदमी है' या 'और कोई चीज़ है' यह दोनों मिथ्या ज्ञान हैं केवल 'ठूंठ है' यह ज्ञान ही तत्व-ज्ञान है । क्योंकि यह मनुष्य की कल्पना के आश्रय नहीं, किन्तु वस्तु के आश्रय है ।"

समीक्षा—यहाँ शंकर स्वामी ठूंठ समझना तत्व-ज्ञान बताते हैं । यही तो प्रत्यक्षादि प्रमाण माननेवाले नैयायिक कहते हैं यदि ठूँठ को ठूँठ देखना प्रत्यक्ष का फल है और प्रत्यक्ष अविद्यावत् है, तो यह "अविद्यावत् तत्त्वज्ञान" हुआ । 'अविद्यावत् तत्त्वज्ञान' के क्या अर्थ होंगे ?

(४) "महत ऋग्वेदादेःशास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितय प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म ।" (शांकर-भाष्य १ । १। ३)

"अनेक विद्याओं को प्रकाशित करनेवाले दीपक के समान समस्त अर्थों को बतानेवाले महान ऋग्वेदादि शास्त्रों का कारण ब्रह्म है ।"

समीक्षा पहले तो शंकरस्वामी वेदादि को अविद्यावत् मानते है, परन्तु यहाँ इनको समस्त विद्याओं का प्रकाशक और ब्रह्म से उत्पन्न हुआ मानते हैं और अपनी पुष्टि में दीपक का उदाहरण भी देते हैं ! कैसी अनिर्वचनीय समस्या है ?

(५) ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद् यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः । (शां० भा० १ । १ । ३)

"सब ज्ञान के आकर वेद की किसी प्रयत्न के बिना लीला के समान ब्रह्म में उत्पत्ति हुई ।"

समीक्षा—लीलान्याय अविद्या का फल है या विद्या का ?

(६) न च क्रममात्रसामान्यात् समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने । न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति ॥ (१ । ४ । १)

केवल क्रम की समानता से अर्थ की समानता नहीं पाई जाती जब तक कि यह समानता अलग से सिद्ध न हो । यदि

घोड़े के स्थान में गाय बाँध दी जाय, तो कौन मूर्ख है जो उसे घोड़ा कहने लग जाय।

समीक्षा—यह सिद्धांत बिना प्रत्यक्ष आदि का प्रमाणत्व स्वीकार किये कैसे सिद्ध होगा ?

(७) न हि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः (२।१।४)
दो दीपक एक दूसरे के आश्रय नहीं होते।

(८) दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः। (२।१।६)

लोक में देखा जाता है कि चेतन पुरुष आदि से अचेतन केश, नख आदि की उत्पत्ति होती है।

(९) दृष्टान्तभावात्। सन्ति हि दृष्टान्ताः। (२।१।९)

"ऐसे दृष्टांत पाये जाते हैं" इत्यादि।

(१०) न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वम्। प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः। भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे। तद्यथा-तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यंनैवोपलभ्यते; केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते तथा तन्तुष्वंशवोऽशुषु तदवयवाः। अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहित-शुक्ल-

कृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाश-मात्रं चेत्यनुमेयम् (२ । १ । १५)

"न केवल शब्द-प्रमाण से ही कारण और कार्य के अनन्यत्व की सिद्धि होती है, किंतु प्रत्यक्ष से भी। प्रत्यक्ष भी कारण और कार्य का अनन्यत्व बताता है। जैसे, तंतुस्थानीय कपड़े में कपड़ा नामी कार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। ताना बाना किये हुए तंतु ही प्रत्यक्ष दीखते हैं और तंतुओं में उनके अंश, उन अंशों में उनके अवयव। इस प्रत्यक्षज्ञान से अनुमान किया जाता है कि लाल, सफ़ेद और काले तीन रूप केवल वायु-मात्र और आकाशमात्र हैं।"

समीक्षा—इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि प्रत्यक्ष आदि को अविद्यावत् माननेवाले श्री शंकरस्वामी ब्रह्म को उपादान कारण सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से सहायता लेते हैं।

हमने यहाँ केवल १० उदाहरण ही दिये हैं। परंतु यदि हम श्रीशंकराचार्यजी के समस्त ग्रंथों में से उद्धृत करना चाहें तो सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होगी।

शायद यह कहा जाय कि जब तक इस मिथ्या जगत् से संबंध है उस समय तक इन उदाहरणों का आश्रय लेना ही होगा और इसी मिथ्या जगत् की भाषा में बोलना पड़ेगा। बार्कले कहता है कि बुद्धिमान् बुद्धिमानों के समान सोचते और ग्रामीणों के समान बोलते हैं। परंतु इतना कहने से छुटकारा नहीं मिलता। यदि जगत्-व्यवहार "तत्त्व" के अनुकूल है, तो यह जगत मिथ्या न होगा। यदि मिथ्या है, तो 'तत्त्व' उसके विरुद्ध होगा और उसके उदाहरण 'तत्त्व' का ज्ञान न कर

सकेंगे। जैसे कई स्थानों पर श्रीशंकराचार्य जी ने लिखा है कि लोक में भी ऐसा ही पाया जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि लोक मिथ्या है, तो उसमें आपके सिद्धांत के विरुद्ध ही मिल सकेगा। परंतु यदि लोक में आपके सिद्धांतों की अनुकूलता मिलती है, तो यदि आप के सिद्धांत सत्य हैं, तो लोक भी सत्य है। लोक उसी समय मिथ्या हो सकता है जब आपके सिद्धांत भी मिथ्या हों। क्योंकि आपके सिद्धांत लोक के उदाहरणों के अनुकूल हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह आक्षेप शंकरस्वामी पर ही क्यों है? उन्होंने तो केवल बादरायण के सूत्रों पर भाष्य-मात्र किया है। बादरायण ने स्वयं अपने सूत्रों में लोक के उदाहरण दिए हैं, जैसे :—

(१) **दृश्यते तु** (२। १। ६)

(२) **न तु दृष्टान्तभावात्** (२। १। ९)

(३) **पटवच्च** (२। १। १९)

(४) **अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः** (२। १। २३)

(५) **उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि** (२। १। २४)

(६) **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** (२। १। ३३)

(७) **पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि** (२। २। ३)

(८) **पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि** (२। २। ७)

(९) **नाऽसतोऽदृष्टत्वात्** (२। २। २६)

(१०) न भावोऽनुपलब्धेः (२।२।३०)

(११) अदृष्टानियमात् (२।३।५१)

(१२) अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् (३।२।१८)

(१३) अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् (३।२।१९)

(१४) रश्म्यनुसारी (४।२।१८)

(१५) प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति (४।४।१५)

परंतु यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार शंकरस्वामी प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अविद्यावत मानते हैं उस प्रकार बादरायण नहीं मानते। हम आगे किसी स्थान पर बतावेंगे कि "जगनमिथ्यावाद" वेदांत-सूत्रों में पाया नहीं जाता। शंकरस्वामी ने सूत्रों में इसका अध्यास (अतस्मिँस्तद्बुद्धि) किया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीनों प्रमाण ही सूत्रकार को ग्राह्य हैं। इनमें से कोई त्याज्य नहीं। निम्न तीन सूत्रों में इनका वर्णन आता है :--

(१) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१।३।२८)

(२) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (३।२।२४)

(३) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने (४।४।२०)

इसमें संदेह नहीं कि श्रीशंकराचार्यजी ने अपने भाष्य में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के वही अर्थ नहीं लिये जो न्याय, वैशेषिक

अथवा सांख्य-दर्शन में लिये गये हैं। प्रत्यक्ष का अर्थ उन्होंने 'श्रुति' लिया है, और अनुमान का 'स्मृति'। श्रीरामानुजाचार्य जी ने श्रीभाष्य में और श्री निम्बार्काचार्यजी ने 'वेदांतपारिजात-सौरभ' में भी श्रीशंकराचार्यजी का ही अनुमोदन किया है। परन्तु यदि स्वतंत्ररीत्या वेदाँत-सूत्रों पर विचार किया जाय, तो इन भाष्यकारों की कल्पना के लिये कोई दृढ़ हेतु देख नहीं पड़ता। यदि हम श्रीशंकराचार्यजी की सम्मति को तद्वत् मानलें, तो उनके भाष्य के आधार पर वेदांत-सूत्रों का निर्माण न केवल न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य के ही, किंतु बौद्ध और जैन-दर्शनों के भी पश्चात् का सिद्ध होता है। फिर समझ में नहीं आता कि व्यासजी ने 'अनुमान' और 'प्रत्यक्ष' शब्द को उन शास्त्रों से भिन्न-भिन्न अर्थों में क्यों प्रयुक्त किया ? अन्य किसी ग्रंथ में यह शब्द इस विलक्षण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते। वस्तुतः प्रतीत यह होता है कि श्रीशंकराचार्य ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की असारता सिद्ध करने और न्याय आदि शास्त्रों की अवहेलना करने के प्रयोजन से यह कल्पना की और 'श्रीभाष्य' तथा 'वेदाँतपारिजात-सौरभ' के रचयिताओं ने यद्यपि अपने निज-निज सिद्धांतों की पुष्टि के लिये भाष्य रचे और शांकर मत का अनेक अंशों में खंडन भी किया, परन्तु जिस स्थल पर, या जिस अंश का उनको खंडन करना अभीष्ट न था, वहाँ शंकर महाराज की कल्पना को तद्वत् मान लेने में संकोच नहीं किया। बोधायन-कृत आर्ष-भाष्य के लुप्त हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें क्या था। परंतु श्रीशंकराचार्यजी की असाधारण विद्वत्ता ने लोगों के दिलों पर ऐसा सिक्का जमा दिया था कि वह उनके मत का विरोध करते हुये भी स्वतन्त्रतया विचार नहीं कर सके। या उनको शांकर-भाष्य के उन स्थलों की सत्यता या असत्यता के जांचने की आवश्यकता प्रतीत न हुई, जहाँ पर

वह शांकर-मत के विरोधी न थे। शांकर-मत का एक समय बड़ा आधिपत्य हो गया था और वह नैयायिकों की बड़ी अवहेलना करते थे, जैसा कि नीचे के श्लोक में पाया जाता है : —

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जन्बुका विपिने यथा।
न गर्जन्ति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेशरी॥

खंडन-खंडखाद्य के रचयिता ❀ ने इसी भाव को लेकर प्रमाणों का खंडन किया था। मध्यकालीन नैयायिक शांकर-मत को ही वेदाँत समझते थे, अतः वह भी वेदाँतियों के विरुद्ध थे, परंतु विचार करने से ज्ञात होता है कि शंकराचार्यजी की विद्वत्ता को स्वीकार करते हुए उनकी बात को सर्वथा मान लेना संभव नहीं है।

ड्यूसन (Deussen) ने लिखा है कि:—

"As for Badarayana, he expresses his rejection of the secular means of knowledge, *Pratyaksham* and *Anumanam* with the drastic brevity which characterises him, in this, as we have already remarked, that he uses the two words to indicate something altogether different, namely, the Shruti and Smriti; thus in the Sutras 1,3,28; 3,2,

---

❀ खंडन-खंडखाद्य के लेखक श्रीहर्ष वेदांती हैं। परन्तु खंडन-खंडखाद्य में जिसका नाम 'अनिर्वचनीयतासर्वस्व' भी है शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है, जो बौद्धों का एक संप्रदाय था। वस्तुत: वेदांतियों ने बौद्धों के शस्त्रों से ही वैदिकधर्मी नैयायिकों का खंडन किया और आगे चलकर वह सर्वथा बौद्धों के प्रभाव से प्रभावित हो गए। व्यासजी का वेदांत "शुद्ध वैदिक" है।

24; 4.4,20 (Supposing naturally that Shankara has explained them correctly)" [*The system of the Vedanta p. 90*]

"बादरायण प्रत्यक्ष और अनुमान को नहीं मानता, क्योंकि उसने इन दोनों को श्रुति और स्मृति के अर्थ में लिया है (स्वभावत: हम यह माने लेते हैं कि श्री शङ्कर ने इनका ठीक-ठीक अर्थ किया है)"। परन्तु ड्यूसन ने यह जानने का कष्ट नहीं उठाया कि इस बात के मानने के लिये क्या प्रमाण हैं कि शङ्कर का किया अर्थ ठीक ही है। इससे पूर्व ड्यूसन लिखता है :—

"As far as our Vedanta-Sutras are concerned, there is; neither in the text nor in the commentary, any discussion of the pramanas at all : on the contrary they are everywhere presuposed as well-known, and set aside as inadmissible for the metaphysics of the Vedanta—and in reality a fundamental account of the fact that metaphysics attains its contents only through a right use of the natural means of knowledge, is-very difficult and presupposes a greater ripeness of thought than we find in the Vedanta, which helps itself out of the difficulty by the short cut of substituting a theological for the philosophical means of knowledge etc.". [*Ibid p 89*]

'जहाँ तक हमारे वेदान्त-सूत्रों का सम्बन्ध है, न तो सूत्रों में और न भाष्य में प्रमाणों की मीमांसा की गई है। विरुद्ध इसके प्रमाणों का होना मान लिया गया है और वेदान्त-विषय की मीमांसा के लिये उनको अप्रमाणिक ठहराया गया है। वस्तुत: इस बात का अनुभव कि दर्शन-शास्त्र के लिये सामग्री ही

ज्ञानोपलब्धि के स्वाभाविक साधनों (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों) के उचित प्रयोग द्वारा प्राप्त होती है, बड़ा दुस्तर है। इस बात के समझने के लिये मस्तिष्क का जो विकास चाहिए, वह वेदान्त में नहीं मिलता। वेदान्त में तो इस कठिनाई से बचने के लिये दार्शनिक प्रमाणों के बजाय श्रुति का सरल-सा मार्ग ढूँढ़ लिया गया है।"

ड्यूसन का तात्पर्य यह है कि वेदान्त में प्रमाणों की परवाह नहीं की गई और जहाँ कहीं कठिनाई उपस्थित हुई, वहाँ श्रुति का सहारा ढूँढ़ कर उसको दूर कर दिया गया। ड्यूसन कहते हैं कि प्रमाणों के ठीक-ठीक प्रयोग के लिये मस्तिष्क के उच्चतर विकास की आवश्यकता है। परन्तु उन्होंने यह आक्षेप वेदान्त के मूलसूत्रों पर इसलिये किया है कि वह शांकर-भाष्य को ठीक मान लेते हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि वेदांत में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों को अग्राह्य (inadmissible) नहीं माना। किन्तु अपूर्ण (insufficient) माना है। यही अवस्था नैयायिकों की भी है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान को अपूर्ण समझ कर शब्द-प्रमाण मानने के लिये वाधित होते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष से काम नहीं चलता, उसी प्रकार केवल प्रत्यक्ष और अनुमान से भी काम नहीं चलता। परंतु जिस प्रकार अनुमान प्रत्यक्ष के विरुद्ध नहीं जाता, उसी प्रकार शब्द को भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विरुद्ध नहीं जाना चाहिये।

हम यह मानते हैं कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जो इंद्रिय अगोचर होने के कारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान का विषय नहीं है; परंतु जो लोग इस बहाने की आड़ लेकर मनमानी बातों का प्रचार करते हैं, वह भी ठीक नहीं हैं। कम से कम इससे यह सिद्ध नहीं होता कि संसार में कोई वस्तु भी इन्द्रिय-गोचर नहीं। यदि

प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण न माना जाय, तो किसी चीज़ का निश्चय करना भी असंभव होगा।

दूसरी बात यह है कि इंद्रिय-अगोचर वस्तुओं का प्रभाव उन वस्तुओं पर पड़ता है, जो इंद्रिय-गोचर हैं, अतः हम इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं के ज्ञान से ही इन्द्रिय-अगोचर वस्तुओं के विषय में अनुमान कर लेते हैं। इसलिये इन्द्रियातीत वस्तुओं के लिये भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाणों से सहायता मिलती है। ऐसी कौन-सी इन्द्रयातीत वस्तु है जिसका इंद्रिय-गोचर वस्तुओं से कोई भी सम्बन्ध नहीं है? और यदि है, तो हमको उसका ज्ञान भी कैसे हो सकता है?

तीसरा अध्याय

स्वप्न



संसार को स्वप्न और माया से उपमा देने की परिपाटी इतनी प्रचलित हो गई है कि स्वप्न और माया की मीमांसा आवश्यक प्रतीत होती है, हम पहले 'स्वप्न' को लेते हैं।

स्वप्न क्या वस्तु है? वस्तु है भी या नहीं? कहीं भ्रम ही भ्रम तो नहीं है?

साधारणतया शरीरयुक्त आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। चौथी (तुरीय) अवस्था का इस विषय से सम्बन्ध न होने से हम इसका उल्लेख नहीं करते।

जागृत अवस्था वह है जिसमें आत्मा, मन तथा इन्द्रियों द्वारा अर्थों (बाह्य-पदार्थों) का ज्ञान प्राप्त करता है। कठोपनिषद में लिखा है :—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

(१।३।३, ४)

अर्थात् आत्मा सवार है, शरीर रथ है, बुद्धि रथवान् है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, और विषय वह मार्ग है जिस पर रथ चलता है।

जिस अवस्था में आत्मा का अर्थों के साथ मन तथा इन्द्रियों द्वारा संसर्ग होता है, उसको जागृत अवस्था कहते हैं।

स्वप्न में आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध रहता है, परन्तु इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। जो संस्कार जागृत अवस्था में इन्द्रियों द्वारा मन पर पड़ते हैं, वही संस्कार निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं। इसी का नाम स्वप्न है। माण्डूक्योपनिषद् में स्वप्न और जागृत अवस्थाओं का यह भेद दिया है :—

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञ······स्थूलभुक्···॥३॥
स्वप्नस्थानोऽन्तप्रज्ञ······प्रविविक्तभुक्···॥४॥

अर्थात् जागृत अवस्था में मन की वृत्तियाँ बाहर की ओर होती हैं और वह इन्द्रियों द्वारा स्थूल जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है, स्वप्न में मनोवृत्तियाँ भीतर की ओर होती हैं। उस समय बाह्य जगत् के संस्कार ही मन में रहते हैं, आत्मा उसी संस्कार रूप जगत में विचरता है।

सुषुप्ति अवस्था के लिये माण्डूक्योपनिषद् कहती है :—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ॥५॥

अर्थात् जिस अवस्था में सोनेवाले को न कोई कामना होती है न स्वप्न देखता है, उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सुषुप्ति में मनोवृत्तियाँ सर्वथा बन्द हो जाती हैं।

यहीं तात्पर्य छांदोग्य उपनिषद् के नीचे लिखे वाक्य से पाया जाता है :—

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन ँ स्वपितीत्याचक्षते स्व ँ ह्यपीतो भवति। स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा-न्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतन-मलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धन ँ हि सोम्य मन इति।

(छांदोग्य ; अध्याय ६ । ८ । १, २)

आरुणि: उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से पूछा कि हे भद्र पुरुष, मुझको यह बतलाइए कि स्वप्न के अन्त में क्या होता है। उसने उत्तर दिया कि संस्कृत में कहते हैं कि एतत् पुरुष: स्वपिति अर्थात् यह पुरुष सोता है। यहाँ स्वपिति का अर्थ यह है कि 'स्व' नाम है आत्मा का, जो सत् है। इसलिये 'स्वप्न' वह दशा है जिसमें 'आत्मा अपने में हो जाता है'। जैसे यदि पक्षी के पैर में धागा बाँध दिया जाय तो इधर-उधर फिर कर भी वह कहीं सहारा नहीं पाता और अपनी खूँटी पर ही वापिस आता है, इसी प्रकार मन प्रत्येक दिशा में फिर कर कहीं सहारा नहीं पाता और प्राणों का ही अन्त में आश्रय लेता है। क्योंकि मन का बन्धन प्राण है।

यहाँ 'स्वप्न' का अर्थ 'सुषुप्ति' है, जिसमें मन भी अपना विचरना बन्द कर देता है।

वेदांतदर्शन के "स्वाप्ययात्" (१ । १ । ९) सूत्र का भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्यजी छान्दोग्य के उपर्युक्त वाक्य के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्द-वाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपि-पूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्ति-प्रलययोः प्रयोगदर्शनात्। मनःप्रचारोपाधिविशेष-सम्बन्धादिन्द्रियार्थान् गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति। तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन् मनः शब्दवाच्यो भवति। स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्ताव-स्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात् स्वात्मनि प्रलीन इवेति।

अर्थात् जागृत अवस्था में मन इन्द्रियों के अर्थों को ग्रहण करता है। स्वप्न में केवल वासनाएँ रहती हैं (अर्थात् इन्द्रियों के अर्थ नहीं रहते, उनके संस्कार मात्र रहते हैं)। सुषुप्ति अवस्था में दोनों उपाधियों, अर्थात् मन और इन्द्रियों, का काम बन्द हो जाता है। उस समय अपने में ही लीन होता है।

इससे पता चलता है कि स्वप्नावस्था में जागृत अवस्था की वासना मात्र रहती है। अर्थात् स्वप्नावस्था का जागृत अवस्था से वही सम्बन्ध है, जो किसी फ़ोटो का असली चीज से है। जिस समय मेरा संसर्ग फ़ोटो के कैमरे के साथ होता है, उस पर मेरी आकृति आ जाती है। साधारणतया जब तक मैं बैठा हुआ

हूँ, मेरी आकृति भी मौजूद है—जैसे दर्पण में। जहाँ मैं हट गया मेरी आकृति भी हट गई ; परन्तु फ़ोटोग्राफ़र विशेष साधनों द्वारा उस समय भी मेरी आकृति को सुरक्षित रखने की कोशिश करता है, जब मैं नहीं हूँ। इसी को फ़ोटो कहते हैं। इसी प्रकार जागृत अवस्था में मेज़ या कुर्सी का जब तक मेरे साथ संसर्ग होता है, वह मुझको उपस्थित दिखाई पड़ती है। परन्तु जब वह मेरे सामने से हट जाती है, तो मुझे फिर उनकी प्रतीति नहीं होती। स्वप्नावस्था में विशेषता यह है कि जागृत अवस्था में मेज़ और कुर्सी के जो संस्कार मन पर पड़े थे, वह मेज़ और कुर्सी के हट जाने पर सुरक्षित रहते हैं, और हमको ऐसा प्रतीत होता है कि मेज़ और कुर्सी हमारे सामने रखी हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है :—

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।

(बृ० ४। ३। १०)

अर्थात् न रथ होता है, न मार्ग होता है, परन्तु मन इनको बनाता है। न मोद प्रमोद होते हैं, न तालाब या झील आदि होते हैं ; इनको भी मन बनाता है। अर्थात् स्वप्न में जो वस्तुएँ देखी जाती हैं, उन सब का कर्त्ता मन है।

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानꣳ हिरण्मयः

पुरुष एकहꣳसः । (बृ० ४ । ३ । ११)

स्वप्न में जागृत अवस्था में भोगे हुए सुखों का अनुभव करता हुआ फिर जागृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ।

(बृ० ४ । ३ । १२)

अर्थात् जिस प्रकार पक्षी इधर उधर फिर कर फिर घोंसले में आ जाता है, इसी प्रकार यह जीव स्वप्न से फिर जागृत अवस्था को प्राप्त करता है।

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ।

(बृ० ४ । ३ । १३)

अर्थात् स्वप्न में अनेक रूपों की कल्पना करता हुआ कभी स्त्रियों के साथ आनन्द, कभी मित्रों के साथ भोजन और कभी कभी भय को भी प्राप्त करता है।

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति । यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ।

(बृ० ४ । ३ । १९)

जैसे बाज़ या गरुड़ आकाश में उड़ता उड़ता थक कर फिर अपने पंख समेट लेता है, उसी प्रकार आत्मा जागृत और स्वप्न अवस्था से थक कर सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) को प्राप्त हो जाता है उस दशा में न कोई इच्छा ही रहती है, न स्वप्न ही देखता है। अब देखना चाहिये कि स्वप्न का मूल कारण क्या है? श्रीशंकराचार्यजी के—स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास:—वेदांत (भूमिका) पर भामती व्याख्या में लिखा है :—

स्वप्नज्ञानस्यापि स्मृतिविभ्रमरूपस्यैवं रूपत्वात्। तत्रापि हि स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लववशादसंनिधानापरामर्शे, तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्यैव संनिहितदेशकालत्वस्य समारोपः।

तात्पर्य यह है स्वप्न स्मृति का विभ्रमरूप है।

Aristotle refers them (*i. e*, dreams) to the impressions left by objects seen with the eyes of the body .*

अरस्तू की राय है कि इन्द्रियों द्वारा हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते हैं, उसी के संस्कार शेष रह जाते हैं, इसी से स्वप्न होता है।

He further remarks on the exaggeration of slight stimuli when they are incorporated into a dream, a small sound becomes a noiselike thunder.

अरस्तू का कथन है कि छोटे छोटे उत्प्रेरण स्वप्न से मिलकर बड़ा रूप धारण कर लेते हैं, जैसे एक छोटी आवाज़ स्वप्न में बादल की 'गरज सी मालूम होती है।'

---

* Encylopedia Britanica; XI edition, Vol. 8 on Dreams (pp, 561—62),

Plato, too connects dreaming with the normal waking operations of the mind.

प्लैटो की राय में स्वप्न का जागृत अवस्था सम्बन्धी मानसिक व्यापारों से सम्बन्ध है।

Pliny, on the other hand, admits this only for dreams which take place after meals, the remainder being supernatural.

प्लिनी का विचार है कि केवल उन्हीं स्वप्नों का जागृत अवस्था से सम्बन्ध है, जो भोजन के पीछे होते हैं। शेष का कारण दैवगति है।

Cicero, however, takes the view that they are *simply natural occurrences no more no less* than the mental operations and sensations of the waking state.

सिसरो कहता है कि जिस प्रकार जागृत अवस्था में मानसिक तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी व्यापार होते हैं, उसी प्रकार स्वप्न में भी। इनमें कोई भेद नहीं।

The doctrine of Descartes that existence depended upon thought naturlly led his followers to maintain that the mind is always thinking and consequently that dreaming is continuous,

डिकार्टे का सिद्धांत है कि अस्तित्व का आधार विचार पर है। इसलिये उसके अनुयायी यह मानने लगे कि मन निरन्तर सोचता रहता है और स्वप्न निरन्तर होते रहते हैं।

That *we always dream* was maintained by *Leibnitz*, Kant, Sir *W. Hamilton* and others.

लेब्निट्ज़, कान्ट, सर डब्ल्यू० हैमिल्टन और अन्यभी यही मानते हैं कि, हम निरन्तर स्वप्न देखा करते हैं।

It has been commonly held by metaphysicians that the nature of dreams is explained by the suspension of volition during sleep; Dugald Stewart asserts that it is not wholly dormant but loses its hold on the faculties and he thus accounts for the incoherence of dreams and the *apparent reality* of dream images.

दार्शनिक लोगों का सामान्य विचार है कि सोते समय इच्छा वृत्ति के बन्द हो जाने के कारण स्वप्न होते हैं। डूगल्ड स्टुअर्ट कहता है कि इच्छा-वृत्ति सर्वथा बन्द नहीं होती, परन्तु इसका अन्य शक्तियों पर आधिपत्य नहीं रहता, इसी कारण से स्वप्न असम्बद्ध होते हैं, और इसी कारण स्वप्न के संस्कार सच्चे मालूम होते हैं।

Hobbs held that dreams all proceed from the agitation of the inward parts of a man's body which owing to their connection with the brain serve to keep the latter in motion.

हाब्स का सिद्धान्त था कि मनुष्य के शरीर के आन्तरिक अङ्गों के अव्यवस्थित होने के कारण स्वप्न होते हैं। चूँकि इन अङ्गोंका मस्तिष्क से सम्बन्ध रहता है, अत: इनके कारण मस्तिष्क भी चलायमान रहता है।

For Schopenhauer the cause of dreams is the stimulation of the brain by the internal regions of the organism through the sympathetic nervous system. These impressions on the mind

afterwards work up into quasi-realities, by means of space, time, causality &c.

शोपिनहायर का विचार है कि स्वप्न का कारण मस्तिष्क की वह उत्प्रेरणा है, जो नाड़ी-प्रबन्ध द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की ओर से हुआ करती है। मन तत्पश्चात् इन संस्कारों को आकाश, काल, कारण आदि की सहायता से अर्द्ध-सत्ताओं में परिवर्तित कर देता है।

इन सब साक्षियों से एक बात सिद्धहोती है—अर्थात् स्वप्न अवस्था बिना जागृत अवस्था के हो ही नहीं सकती। या दूसरे शब्दों में स्वप्न का आधार जागृत है।

यहां हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। बहुधा यह एक विचित्र प्रश्न रहा है कि हम जागृत में स्वप्न का अनुकरण करते हैं, या स्वप्न में जागृति का? अर्थात् मौलिक अवस्था किस को मानना चाहिये? हैं तो दोनों अवस्थाएँ आत्मा की; किसी और की तो हैं नहीं। इनमें किस को मौलिक मानें और किसको गौण, यह एक टेढ़ा प्रश्न है और बाह्य जगत की मीमांसा के लिये यह एक अत्यन्त आवश्यकीय प्रश्न है। यदि स्वप्न मौलिक अवस्था है, और जागृत केवल स्वप्न की अनुयायिनी है, तो यह मानना पड़ेगा कि स्वप्न में जो कुछ प्रतीति होती है, उसका कारण बाह्य पदार्थ नहीं किन्तु आन्तरिक आत्मा ही है। अतः जागृत अवस्था में भी बाह्य पदार्थों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार स्वप्न बाह्य पदार्थों के अभाव में होते हैं, उसी प्रकार जागृत-अवस्था-गत संस्कार भी बाह्य पदार्थों के बिना होंगे और हो सकेंगे।

परन्तु, यदि जागृत अवस्था मौलिक है, और स्वप्न उसका अनुयायी मात्र है, तो जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के कारण ही

जागृत अवस्था होती है उसी प्रकार स्वप्नगत प्रतीतियों का कारण भी आत्मा के बाहर की कुछ चीजें होंगी।

यह प्रश्न तो टेढ़ा है, और ऐसी सुगमता और जल्दी से इसका उत्तर भी नहीं दिया जा सकता, जब तब जागृत-अवस्था सम्बन्धी अनेक बातों को विचारा न जाय। क्योंकि स्वयं जागृत अवस्था के अन्तर्गत भी कई अवस्थाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें वाह्य पदार्थों का अभाव होता है।

जैसे :—

(१) स्मृति (Memory)

(२) अनुप्रतीति (Recollection)

(३) विकल्पना (Imagination)

(४) आभास (Hallucinaion)

(५) भ्रान्ति (Illusion)

हम यहां संक्षेप से लिखे देते हैं कि इन पांचों से हमारा क्या तात्पर्य है :—

किसी घटना की साधारण याद को स्मृति (memory) कहते हैं : जैसे अमुक पुरुष चार वर्ष हुए कि मर गया। परन्तु, यदि देश, काल, परिस्थिति आदि का पूरा चित्र खिंचा जाय कि हम ने उसको इस प्रकार, इस स्थान या इस परिस्थिति में मरते देखा था, वह मृतकशय्या पर पड़ा हुआ था, इत्यादि, तो उसे अनुप्रतीती (recollection) कहेंगे।

पुराने संस्कारों की स्मृति की सहायता से मन में जो नई रचनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनको विकल्पना (imagination) कहते हैं। चित्रकार, उपन्यास लेखक, नई वस्तुओं के आविष्कार कर्त्ता आदि इसी विकल्पना-वृत्ति के द्वारा काम करते हैं।

कभी कभी बाह्य पदार्थ न होते हुए भी हमको उनका होना प्रतीत होता है। जैसे कोई मनुष्य न हो और हमको कुछ देर के लिये ऐसा प्रतीत हो कि मनुष्य है। इसको आभास (hallucination) कहते हैं।

कभी कभी कुछ का कुछ दीखता है, जैसे रेत का जल; इसको भ्रांति (illusion) कहते हैं।

यह पाँचों अवस्थाएँ जागृति के अन्तर्गत हैं। यह उस समय होती हैं, जब हमारी इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, आदि) काम करती रहती हैं। इनमें से किसी में बाह्य पदार्थ नहीं होते। परंतु इन पांचों का अस्तित्व बाह्य पदार्थों के अस्तित्व के आश्रित है। अर्थात् यदि बाह्य पदार्थ न होते और उनके संस्कार पूर्वकाल में मन पर न पड़ गये होते, तो इनमें से कोई अवस्था न हो सकती।

उदाहरण के लिये स्मृति, जिसके अन्तर्गत अनुप्रतीति भी आ जाती है, बिना पुराने अनुभवों के हो ही नहीं सकती। योगदर्शन में लिखा है :—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः (योग १। ११)

जब तक अनुभूत विषय न होंगे, स्मृति होगी ही नहीं। रही विकल्पना, उसके लिये भी अनुभूत विषयों की स्मृति की आवश्यकता है। जिस प्रकार बिना काष्ठ के बढ़ई मेज़, कुर्सी नहीं बना सकता, या बिना आटे के रसोइया भिन्न भिन्न खाद्य-पदार्थ नहीं तैयार कर सकता, इसी प्रकार बिना स्मृति या अनुप्रतीति-रूपी सामग्री के कोई विकल्पना नहीं कर सकता। एक उपन्यास-लेखक अपने मन से एक कहानी गढ़ता है और उसको रोचक शब्दों में उपस्थित करता है; परन्तु, यदि वस्तुतः देखा जाय तो, उसमें ऐसी कोई बात नहीं होती जो "अनुभूत

विषय" के बाहर हो, केवल क्रम अपना होता है। इसी प्रकार एक चित्रकार एक नवीन चित्र बनाता है। कल्पना कीजिए कि उसने एक मक्खी का चित्र बनाया, जिसके परों पर अनेक हाथी झूल रहे हैं। साधारण दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह चित्र नया है। चित्रकार ने मक्खी के परों पर हाथी झूलते कभी नहीं देखे; परन्तु गम्भीर दृष्टि से यह भी 'अनुभूत विषय' ही सिद्ध होते हैं। जिस चित्रकार ने न कभी हाथी देखा और न मक्खी, वह कभी ऐसा चित्र न बना सकेगा। चित्र में क्या है—(१) एक मक्खी, (२) उसके पर, (३) परों से लटकते हुए हाथी। यह तो सभी जानते हैं कि यह तीनों वस्तुएँ अलग-अलग अनुभूत हैं, मक्खी के पर का एक समय या स्थान में अनुभव हो चुका है, हाथी का दूसरे स्थान या समय में, और "लटकना" रूप व्यापार का तीसरे स्थान या समय में। अब इन तीनों के संस्कार (स्मृति) मन में उसी प्रकार साथ साथ इकट्ठे रहते हैं, जिस प्रकार अनेक स्थानों से अनेक काल में लाई हुई वस्तुएँ कमरे में। आप मेज़ के ऊपर एक सेब रख देते हैं। यह सेब मेज़ पर उगता नहीं, मेज़ अलग थी और सेब अलग एक वृक्ष पर लटक रहा था। आपने सेब को तोड़ा और कमरे में लाकर मेज पर रख दिया। इसी प्रकार चित्रकार ने मक्खी का चित्र एक स्थान से ग्रहण किया और हाथी का दूसरे से; और इन दोनों को पास पास रख दिया। आप हाथी को पकड़ कर उसके ऊपर मक्खी रख सकते थे, परन्तु मक्खी को पकड़ कर उसके ऊपर हाथी न रख सकते, क्योंकि हाथी के बोझ को मक्खी का पर न सहार सकता। परन्तु हाथी का चित्र इतना ही हल्का है जितना मक्खी का, इसलिये मक्खी के पर का चित्र हाथी के चित्र को भली प्रकार सहार सकता है। चित्रों में आकृति मात्र हैं, बोझ नहीं। वस्तुओं में बोझ भी था और

आकृति भी, परन्तु चित्र हैं वस्तुओं के कारण। यदि वस्तुएँ न होतीं, तो चित्र भी न होते।

यही हाल आभास और भ्रांति का है। कभी आभास या भ्राँति में "अनुभूत" विषय नहीं प्रतीत होते। भेद केवल यह होता है कि वह वस्तुएँ उस समय उपस्थित नहीं होतीं, केवल उनके संस्कार मन में उपस्थित रहते हैं। जो बात विकल्पना में होती है, वही आभास या भ्रांति में। विकल्पना बुद्धिपूर्वक होती है। आत्मा अनुभव करता है कि मैं स्वयं किसी विशेष संबन्ध को उत्पन्न कर रहा हूँ। आभास और भ्रांति बुद्धिपूर्व नहीं होते। वहां इच्छापूर्वक रचना का सर्वथा अभाव होता है, यह बात नीचे के दृष्टान्त से समझ में आ सकती है।

आप जागृत अवस्था में किसी रेत के मैदान की ओर देखिए और उस समय नदी या तालाब या अन्य किसी जलाशय को याद कीजिए और अपनी कल्पना-शक्ति से सोचिए कि जिसको आप रेत का मैदान देख रहे हैं, वह जलाशय के सदृश है। इस सदृशत्व का निरन्तर थोड़ी देर तक ध्यान करते जाइए। कुछ देर में आपको प्रतीत होने लगेगा कि बालू के मैदान में पानी बह रहा है परन्तु इसके साथ साथ आप यह भी समझते रहेंगे कि वस्तुत: वह बालु-प्रदेश है, केवल आपको विकल्पना द्वारा जल की प्रतीति हो रही है।

यदि आपके मन में कल्पना-शक्ति ने काम नहीं किया और बिना विकल्पना के ही बालु-प्रदेश जलाशय प्रतीत होने लगा तो इसी को आप "मृगतृष्णिका" कहने लगेंगे, इसी का नाम भ्रान्ति (illusion) है। भ्राँति और विकल्पना में केवल यही भेद है कि भ्राँति आपकी इच्छा के बिना होती है और विकल्पना इच्छा द्वारा। रस्सी का साँप और सीप की चाँदी भी इसी

प्रकार मालूम होती है। आप प्रत्येक रस्सी में साँप की कल्पना कर सकते हैं, क्योंकि यद्यपि रस्सी बाहर है तथापि आत्मा के भीतर साँप के संस्कार उपस्थित हैं। यह साँप के संस्कार किसी समय आपको उस साँप के द्वारा प्राप्त हुए थे, जो पहले किसी अन्य स्थान में उपस्थित था। यदि साँप कोई वस्तु न होता, और आप उसे कभी न देखते, तो आपको कभी रस्सी में सांप की भ्रांति न होती। इसी प्रकार यदि कभी चांदी न देखी होती तो सीप में चांदी की भ्रान्ति भी न होती। इनका कुछ उल्लेख हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। जिन लोगों ने आभास (hallucination) और भ्रान्ति (illusion) के दृश्यों की विवेचना की है, वह भी इसी नतीजे पर पहुँचे हैं।

आभास (hallucination) के विषय में पेरिस की आत्म-शरीर-सम्बन्धी-समिति (The Paris Congress for Psycho-Physiology) तथा इंगलैण्ड की आत्म-मीमांसा-समिति (English Society for Psychical Research) ने अनेक दृश्यों के विवरण इकट्ठे करके उन पर विचार किया था।* प्रश्न यह किया गया था :—

"Have you ever, when believing yourself to be completely awake, had a vivid impression of seeing or being touched by a living being or inanimate object, or of hearing a voice which impression, so far as you could discover, was not due to any external physical cause ?"

"क्या कभी तुमको ऐसे समय, जब तुम अपने को यथार्थ जागृत अवस्था में समझते हो, किसी सजीव या निर्जीव पदार्थ

---

*Proceedings of the S. P. R, Vol. X Aug. 1894; published by Prof Henry Sidgwick's committee. [Vide Hallucinations and illusions by Edmund Parish].

के देखने, छूने या किसी शब्द के सुनने के पूरे पूरे संस्कार, जिनको तुम यथोचित अन्वेषण के पश्चात् समझते हो कि वह किसी बाह्य प्राकृतिक कारण से उत्पन्न नहीं हुए, अनुभूत हुए हैं ?"

इसके साथ अमेरिका में विलियम जेम्स (William James) ने, फ्रांस में ऐल० मैरीलियर (L. Marillier) और जर्मनी में वॉन श्रेङ्कनॉट्ज़िग् (Von Schrenck Notzing) ने इस प्रश्न की छानबीन की। कुल २७३२९ उत्तर आए। इनमें २४०५८ उत्तर तो इस बात के थे कि हमने कभी ऐसी घटनाएँ नहीं देखीं। ३२७१ पुरुष स्त्रियों ने कहा कि हमको इस प्रकार का अनुभव हुआ है। इन अनुभवों की कहानियां मौलिक प्रश्न पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त पाठकों को मनोरंजक भी होंगी, अतः हम यहां कुछ को लिखते हैं :—

(१) तीन वर्ष हुए कि, १८८६ ई० के एप्रिल मास में प्रातः काल ४ और ५ बजे के बीच में जब मैं जागी तो मैंने अपनी बहिन जो ६ साल की होकर मर चुकी थी, चारपाई के पास खड़ी हुई देखी। वह कफ़न पहने हुए थी। वह मेरी चारपाई के निकट आने लगी। पहले तो कुछ धुँधली दिखाई दी, परन्तु निकट आने पर स्पष्ट होने लगी। मेरे ज़ोर से चिल्लाने पर वह आकृति मेरी आंखों के सामने लुप्त हो गई। एक बहिन उसी कमरे में सो रही थी। उसको कुछ अनुभव नहीं हुआ न उसने मेरी चिल्लाहट ही सुनी।

मीमांसकों का कहना है कि वस्तुतः वह अच्छी तरह जागी नहीं थी। केवल स्वप्न देख रही थी। अन्यथा उसकी चिल्लाहट को उसके कमरे में सोनेवाली बहिन अवश्य सुन सकती। भारत-वर्ष में इस प्रकार के 'भूत' के क़िस्से बहुत मशहूर हैं।

(२) नवम्बर १८७९ ई० में मैं १ और २ बजे के बीच में (रात के समय) पढ़ रहा था कि अचानक ऐसा मालूम हुआ कि किसी ने मेरा कन्धा छू लिया। मैंने देखा तो मेरा एक मित्र खड़ा हुआ है। यह मित्र एक दिन पहले मर चुका था, परन्तु मुझे उसके मरने की खबर न थी। मुझे उसकी आकृति ऐसी स्पष्ट मालूम हुई कि मैं चिल्ला उठा—"अजी, तुम यहां कैसे आ गये ?" उसी समय वह आकृति लुप्त हो गई। मैंने देखा कि दरवाज़ा बन्द था।

मीमांसकों की सम्मति में, अधिक पढ़ने के कारण, मस्तिष्क में ऐसा विकार हो गया कि पुरानी स्मृति के संस्कार उभर आए।

(३) एक दिन शाम को मैं पढ़ रही थी कि मैंने अपनी एक सहपाठिनी को दरवाज़े के निकट खड़ी देखा। मैं पूछने को ही थी कि यकायक मुझे उस कमरे में अपनी माता के सिवा और कोई दिखाई न पड़ा। मैंने मां से कहा। उसने हँसकर कहा कि अधिक पढ़ने से मेरा मस्तिष्क चकरा गया है।

(४) कुछ लिख रहा था कि ऐसा मालूम हुआ कि किसी ने मुझे आवाज़ दी। उस समय मैंने देखा कि न कोई कमरे में था, न सड़क पर। मैं सोचने लगा कि यह किसकी आवाज़ थी, तो याद आई कि मेरी मरी हुई नानी की सी आवाज़ थी। (P. 98)

साधारण लोग इसको शायद भूत समझने लगें, जैसा कि अशिक्षित पुरुषों का विचार है कि मरकर आदमी भूत हो जाता है। परन्तु अगले दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा कि वह केवल आभास (hallucinaton) है।

(५) १५ मार्च १८७८ को दस बजे रात को मैंने अपनी ही आकृति देखी। एक बच्चा कुछ कुलबुला रहा था। मैंने दीपक

लेकर देखना चाहा कि क्या कारण है। कमरे का पर्दा हटाते ही मुझे ऐसा मालूम हुआ कि दो कदम पर मेरी आकृति उन वस्त्रों में जिनको मैंने कुछ दिनों से पहना था, चारपाई पर झुक रही है। उसके चेहरे से दु:ख प्रकट होता था। उस दिन मैं किसी प्रकार से चिन्तित न थी और मन में भी साधारण विचार ही उपस्थित थे। मैं अकेली थी। आध घंटे पहले एक सखी चली जा चुकी थी, और मैं मॅशीन पर सी रही थी। मैं शाँत थी। मेरा स्वास्थ्य अच्छा था और उस समय मेरी अवस्था ३९ वर्ष की थी। तीन मास पूर्व मेरा एक बच्चा मर चुका था। जिस समय मैं यह लिख रही हूँ, उस समय यह विचार हो रहा है कि मृत्यु के पश्चात मेरा बच्चा मेरी चारपाई के पैरों की ओर लेटा है। उस समय शायद मैं उसी प्रकार झुक रही हूँगी। यह वस्त्र तो वही थे जिनको मैं उस समय पहने थी। (p. 99).

(६) मिस्टर रॉलिंसन (Mr. Rawlinson) का कथन है कि दिसम्बर १८८१ में एक दिन प्रातःकाल मैं कपड़े पहन रहा था, उस समय मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि कमरे में कोई है। इधर-उधर देखा कोई न था। परन्तु शायद मेरे मन की आँखों के समाने मेरे मित्र डब्ल्यू० एस० का चेहरा और आकृति दिखाई देने लगी। (p. 242).

इन भिन्नभिन्न उदाहरणों से यही स्पष्ट होता है कि आभास और भ्रान्ति दोनों केवल आत्मा के भीतर से नहीं उठते। इनके लिये बाह्य पदार्थ चाहिये, जिनके संस्कार पहले मन पर पड़ चुके हों।

स्वप्न में भी प्राय: यही होता है। भ्रांति या आभास में इंद्रियां खुली रहती हैं, परन्तु वस्तुतः वह उतनी ही कर्मशून्य होती हैं, जितनी स्वप्नावस्था में। जिस समय एक चित्रकार के सामने

हाथी न होते हुए भी वह हाथी के चित्र को अपने मन-पटल पर खींचता है, या काग़ज़ पर उस चित्र को बनाता है, उस समय उसकी आँखें खुली होती हुई भी अपने सामने हाथी को नहीं देखतीं। फिर भी हाथी का दृश्य उसके मन में होता है। स्वप्न में चक्षु खुले नहीं होते, जैसे कि जागृत में विकल्पना या आभास के समय होते हैं, परन्तु पुराने संस्कार सब दशाओं में एक प्रकार से ही कार्य करते हैं।

श्रीशंकराचार्यजी **"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्"** (वेद० २। २। २५) के भाष्य में 'स्वप्न' की मीमाँसा इस प्रकार करते हैं—

अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि नोपलभ उपलब्धुमिच्छामीति । तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता ।

अर्थात् स्वप्न में जो कुछ दीखता है, वह स्मृतिमात्र होता है। जागृत में जो कुछ दीखता है, वह प्रत्यक्ष है। यह तो सभी जानते हैं कि स्मृति और प्रत्यक्षमें क्या भेद है। अर्थात् प्रत्यक्ष में पदार्थ उपस्थित होता है और स्मृति में नहीं। मैं पुत्र का स्मरण करता हूँ। इसका अर्थ यह है कि पुत्र प्रत्यक्ष नहीं है, उसका प्रत्यक्ष करने की आशा करता हूँ। इसलिये यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि जागृत अवस्था में जो कुछ दीखता है वह मिथ्या है, क्योंकि जागृत की उपलब्धि स्वप्न की उपलब्धि के समान है, दोनों का भेद स्पष्ट ही है।

यहाँ श्री शंकराचार्यजी यह दिखलाते हैं कि जागृति अवस्था में बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु स्वप्न में उनके संस्कार मात्र होते हैं। इसके अतिरिक्त वह यह भी दिखाते हैं कि जागृत अवस्था में प्रत्यक्ष हुए पदार्थों को हम स्वप्न की उपमा देकर मिथ्या नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में भेद है। शांकरभाष्य की भामती टीका में इसी भाव को स्पष्ट किया गया है :—

संस्कारमात्रजं हि विज्ञानं स्मृतिः प्रत्युत्पन्नेन्द्रियसंप्रयोगलिंगशब्दसारूप्यान्यथानुपपद्यमानयोग्यप्रमाणानुत्पत्तिलक्षणसामग्रीप्रभवं तु ज्ञानमुपलब्धिः। तदिह निद्राणस्य सामग्र्यन्तरविरहात्संस्कारः परिशिष्यते। तेन संस्कारजत्वात् स्मृतिः, सापि च निद्रादोषाद्विपरीताऽवर्तमानमपि पित्रादिवर्तमानतया भासयति।

अर्थात् संस्कार मात्र से उत्पन्न हुए ज्ञान को स्मृति कहते हैं। इन्द्रियों और पदार्थों के संसर्ग से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। सोते में बाहर के पदार्थ नहीं रहते किन्तु संस्कारमात्र रह जाते हैं। उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। सोते में वह स्मृति भी नींद के दोष के कारण विपरीत हो जाती है। इसलिये पिता आदि सामने न होते हुए भी उपस्थित से प्रतीत होते हैं।

इससे यह सिद्धांत निकलता है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के पहले हुए बिना अनुमान, उपमान आदि नहीं हो सकते इसी प्रकार बिना पहले जागृत अवस्था के हुए स्वप्न भी नहीं हो सकते। जिस प्रकार अनुमान को गोतम मुनि ने

न्यायदर्शन में "तत्पूर्वकम्" (प्रत्यक्ष का अनुगामी) बताया है, इसी प्रकार स्वप्न को भी तत्पूर्वकः अर्थात् जागृत का अनुगामी समझना चाहिये।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि अद्वैतवाद में स्वप्न की उपमा कहाँ कहाँ दी गई है, और वह कहाँ तक अद्वैतवाद की सिद्धि करती हैं।

अद्वैतवाद के सब से प्रथम प्रचारक गौड़पादाचार्य * हुए हैं, जिनके शिष्य गोविन्दाचार्यजी शंकराचार्यजी के गुरु थे, इन्होंने मांडूक्य उपनिषद् पर पाँच कारिकाएँ लिखी हैं। श्रीशङ्कराचार्यजी ने इन्हीं कारिकाओं पर अपने अद्वैतवाद का भवन निर्माण किया है, दूसरी कारिका में बाह्य जगत् का अभाव सिद्ध किया गया है, और उसके लिये 'स्वप्न' की उपमा दी गई है।

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना॥
अदीर्घत्वाच्च कालस्यगत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते॥
अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्नआहुः प्रकाशितम्॥
अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते॥

---

* ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर भी गौड़पाद का भाष्य है। परन्तु वह गौड़पाद शायद कोई भिन्न पुरुष हैं। लेखक

**स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥**

(२, १—५)

अर्थः—सब बुद्धिमान लोग स्वप्न के समय के भावों को वैतथ्य अर्थात् मिथ्या समझते हैं, क्योंकि स्वप्न में जो चीजें देखी जाती हैं वह बाहर उपस्थित नहीं होतीं, केवल आत्मा के भीतर ही मौजूद होती हैं ॥ १ ॥

चूँकि स्वप्न देखने में समय नहीं लगता (अर्थात् हज़ारों कोस दूर की चीज उसी समय दीख जाती है) इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा उस चीज को दूर जाकर नहीं देखती । जब जाग पड़ता है तो भी उस स्थान पर नहीं होता, जहां पर कि वह स्वप्न की अवस्था में था । (इससे भी यह सिद्ध है कि आत्मा स्वप्न में अपने शरीर से बाहर नहीं जाता) ॥ २ ॥

स्वप्न में देखे हुए रथ वगैरः को युक्ति तथा श्रुति ✻ दोनों ने अभाव ही माना है, इसलिये सिद्ध है कि स्वप्न में जो कुछ दिखाई देता है, वह सब मिथ्या है ॥ ३ ॥

इसी प्रकार जागृत अवस्था में देखे हुए पदार्थ भी मिथ्या ही हैं । क्योंकि जैसे स्वप्न में देखे हुए पदार्थ आत्मा के भीतर ही विद्यमान रहते हैं, बाहर नहीं, उसी प्रकार जागृत अवस्था में देखे हुए पदार्थों का हाल है ॥ ४ ॥

स्वप्न और जागृत दोनों अवस्थाओं में एक-सी ही बात होती है, इसलिये बुद्धिमान् लोग दोनों अवस्थाओं को एक ही कहते हैं ।

✻ यहां शायद वृहदारण्यक ४ । ३ । १० की ओर संकेत है, जिसको हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं । लेखक

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का कोई अपना अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ, जिनको हम जागृत अवस्था में देखते हैं, अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। यदि वस्तुत: यह बात ठीक है, तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी प्रमाणों पर पानी फिर जाता है, और जो कुछ सूर्य-चन्द्र, तारागण, पहाड़, नदी, मनुष्य आदि संसार में उपस्थित देखे जाते हैं, वे सब मिथ्या सिद्ध होते हैं। यदि यह सब वस्तुत: मिथ्या ही है, तो स्वप्न की उपमा के अनुसार जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग अर्थात व्यापार, कृषि आदि तथा साइंसज्ञों की प्रयोगशालाओं के भिन्न-भिन्न अन्वेषण सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे। यदि स्वप्न में देखे हुए हाथी की भाँति ही जागृत में देखा हुआ हाथी है, तो उसको मोल लेने के लिये कौन प्रयत्न करेगा? यदि एक जाति द्वारा दूसरी जाति पर किये हुए अत्याचारों का स्वप्न के पदार्थों के समान ही अभाव है, तो फिर हाथ पैर मारना, स्वराज्य-प्राप्ति की कोशिश करना और दूसरों को अत्याचारी बताना यह सब व्यर्थ ही तो है।

परन्तु गौड़पादाचार्यजी की युक्तियों पर भी किंचित् विचार-दृष्टि डालनी चाहिए। केवल व्यावहारिक आपत्तियों को देखकर ही किसी सिद्धान्त का निश्चय नहीं कर देना चाहिए।

गौड़पादाचार्य की जो कारिकाएँ ऊपर उद्धृत की गई हैं, उन पर श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं :—

(१) जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्। (प्रतिज्ञा)

(२) दृश्यमानत्वात्। (हेतु)

(३) स्वप्नदृश्यभाववत्। (उदाहरण)

(४) यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यम्; तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति। (उपनय)

(५) तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यम् स्मृतमिति। (निगमन)

हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं कि अद्वैतवादी वेदान्ती लोग नैयायिकों की कैसी खिल्ली उड़ाते हैं। श्रीहर्ष ने खंडनखंड-खाद्य में गोतम-कृत न्याय-दर्शन के प्रमाण आदि सभी पदार्थों का खंडन किया है। परन्तु यह सन्तोष की बात है कि श्री शंकराचार्य ने संसार को मिथ्या सिद्ध करने के लिये गोतम-निर्दिष्ट पांचों अवयवों की आवश्यकता समझी, और अपनी युक्ति को इस रूप में प्रदर्शित किया। उनकी प्रतिज्ञा है—

कि जागृत अवस्था में देखी हुई चीजें मिथ्या हैं।

क्यों? इसके लिये हेतु देते हैं:—

क्योंकि वह दिखाई देती हैं।

इसके लिये उदाहरण क्या? लीजिये:—

जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ।

उपनय यह हुआ कि:—

जिस प्रकार स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जागते समय देखी हुई वस्तुएँ भी मिथ्या ही हैं।

इसलिए निगमन यह है कि:—

जागृत में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं।

अब पाठकगण इस विचित्र युक्ति की परीक्षा करें। श्रीशंकराचार्यजी महाराज को "जगत् का मिथ्या होना" सिद्ध करना था। इसके लिये वह एक "हेतु" देते हैं, अर्थात् "दृश्यमानत्वात" (दिखाई पड़ने से)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि "जो वस्तु दिखाई पड़े वह मिथ्या"। अर्थात् "दृश्यमानत्व" और "मिथ्यात्व" सगे भाई बहिन हैं। जो दिखाई पड़ता है, वह अवश्य मिथ्या है। क्या इससे यह भी नतीजा निकालना चाहिये

कि जो दिखाई न पड़े वह मिथ्या न होगी ? अर्थापत्ति से तो यही सिद्ध होता है।

परन्तु, यह भी तो देखना चाहिए कि "दिखाई पड़ती हुई वस्तुओं को "मिथ्या" सिद्ध करने के लिये श्रीशंकराचार्य के पास कौन सा प्रमाण है ? वस्तुतः कोई भी नहीं। उन्होंने इस बात की कल्पना कर ली है कि जो चीज़ दिखाई पड़ेगी, वह अवश्य मिथ्या होगी। स्वप्नवाद-रूपी भवन के लिये यह बहुत ही कमज़ोर बुनियाद है। फिर भी आश्चर्य है कि यह भवन किस प्रकार अब तक खड़ा रहा। संभव है कि मध्यकालीन सांख्य-वादियों के नास्तिक हो जाने के कारण आस्तिकों ने "डूबते को तिनके का सहारा" के अनुसार 'एकवाद' को ही ग़नीमत समझा और शंकराचार्यजी की युक्तियों की कभी मीमांसा नहीं की। वस्तुतः किसी पदार्थ के मिथ्या सिद्ध करने के लिये उसका "न दिख सकना" तो किसी किसी अवस्था में "हेतु" हो सकता है, परन्तु "दिख सकना" नहीं। पाठकवृन्द विचार तो करें। मैं देख रहा हूँ कि मेरे सामने कुर्सी रखी हुई है। मैं कहता हूँ कि कुर्सी मिथ्या है। कोई पूछता है कि इसके "मिथ्या" कहने के लिये तुम्हारे पास क्या प्रमाण है। मैं कहता हूँ "चूंकि यह दीखती है"। मेरे हाथ में क़लम है। हाथ इसको स्पष्ट स्पर्श करता है। मैं कहता हूँ कि क़लम मिथ्या है। क्यों ? इसलिये कि मैं इसका स्पर्श कर रहा हूँ। मुझे सुनाई दिया कि मेरे दरवाजे पर एक मित्र ने आवाज़ दी। नौकर कहता है, "अमुक बाबूजी आये हैं"। मैं कहता हूँ, "नहीं"। वह कहता है, "मैं आवाज़ तो सुन रहा हूँ, वह खड़े खड़े पुकार रहे हैं"। मैं कहता हूँ कि, "भाई, उनकी आवाज़ का सुनाई पड़ना ही तो इस बात की दलील है कि वह नहीं हैं।" क्योंकि श्री शंकराचार्यजी जैसे

धुरन्धर या जगद्धर दार्शनिक की व्यवस्था है कि "मिथ्यात्व" सिद्ध करने के लिये "दृश्यमानत्व" एक पर्याप्त हेतु है। सब से बड़ी भूल, जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि तक समस्त वैदिक ऋषि तथा अन्य शिक्षित तथा अशिक्षित पुरुष करते रहे, वह यह थी कि किसी पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि के लिये वह अपनी ज्ञान-इन्द्रियों का सहारा लेते रहे और आजकल के साइंसज्ञ भी ऐसा ही करते हैं। परन्तु श्री शंकराचार्यजी ने इस भूल से लोगों को रोका। उन्होंने विचित्र गुरु यह बताया कि "जो चीज़ तुमको दीखे वह झूठी"। किसी उर्दू-कवि ने भी तो ऐसा ही कहा है:—

आँखे ही बला लाती हैं इन्सान पे अक्सर।
अंधे ही यहाँ अच्छे हैं बीना नहीं अच्छा॥

"अच्छा" बनने के लिये यहाँ एकमात्र अच्छी औषधि बता दी गई कि आँखें फोड़ लो, अन्धे हो जाओ, फिर 'अच्छे' होने में कोई सन्देह न रहेगा।

परन्तु, शंकराचार्यजी क्या करें। उनके पास उदाहरण भी तो है, "स्वप्नदृश्यभाववत्"—जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जागृत में देखे हुए पदार्थ भी होने चाहिएँ। परन्तु खेद तो यह है कि श्रीशंकराचार्यजी ने "स्वप्न क्या वस्तु है ?" इसकी मीमांसा नहीं की; और यदि की भी, तो उसे अपने कल्पित सिद्धान्त की पुष्टि के लिये सर्वथा भुला दिया। (देखो शांकरभाष्य वेदांत २। २। २९)। यदि थोड़ा सा विचार कीजिए तो पता चलेगा कि "स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के वैतथ्य" का कारण उनका "दिख पड़ना" नहीं है। किन्तु "जागृत अवस्था में न दीख पड़ना" है। यदि जिस वस्तु को स्वप्न में देखते हैं, उसको जागृत में भी देखते होते, तो उसको

कभी मिथ्या न कह सकते। उसका स्वप्न में दिखाई पड़ना और जागृत में दिखाई न पड़ना यह इस बात की दलील है कि वह वस्तु मिथ्या है। कल्पना कीजिए कि मैंने स्वप्न में देखा कि मेरा भाई मेरे पास बैठा है। आँख खुली तो मैंने उसको अपने पास बैठा पाया। उस समय में यही तो कहूँगा कि मेरा स्वप्न सत्य निकला। और यदि इस प्रकार के सभी स्वप्न हो जाय तो संसार में स्वप्नों को मिथ्या कहने की प्रणाली ही उठ जाय। चूंकि साधारणतया यह नहीं होता इसलिये कहते है कि स्वप्न में देखी हुई वस्तु का क्या विश्वास ? जागने पर भी दिखाई दे तो ठीक। इससे यह बात सिद्ध हुई कि स्वप्न में देखी हुई वस्तु के मिथ्या होने का कारण यह नहीं है कि "वह दिखाई देती है" किन्तु यह कि वह जागने पर दिखाई नहीं देती। स्वप्न में देखी हुई वस्तु का दिखाई पड़ना उसके मिथ्या होने के दलील नहीं, किन्तु उसके संस्कार के सत्य होने की दलील है। किसी का फ़ोटो देखकर हम यह नतीजा निकालते कि वह पुरुष है ही नहीं, किन्तु उससे यही नतीजा नहीं निकालते हैं कि ऐसा पुरुष कभी न कभी, कहीं न कहीं अवश्य रहा होगा तभी तो उसका फ़ोटो लिया गया। यदि वह न होता तो उसका फ़ोटो भी न लिया जा सकता। इस प्रकार "स्वप्न" तथा उसके भाई बन्द— स्मृति, भ्रांति आदि—जिनका हमने इस अध्याय के आरम्भ में उल्लेख किया है, वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं न कि 'मिथ्यात्व' को। यदि मैं स्वप्न में अपने भाई को पास बैठा हुआ देखता हूँ, तो चाहे वह भाई इस समय मेरे पास न हो अर्थात् उसका उस समय उस स्थान पर अभाव हो, तो भी उस से यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि कभी न कभी और कहीं न कहीं उसका अस्तित्व अवश्य था। उसी के पुराने संस्कार मेरे मनःपटल हार अङ्कित हैं, और मैं स्वप्न देख रहा हूँ।

अब आप को मालूम हो गया कि श्री शंकराचार्यजी की युक्ति कितनी दूषित है, उन्होंने जागृत अवस्था में देखे हुए पदार्थों का "वैतथ्य" सिद्ध करने के लिये "दृश्यमानत्व" (दिखाई पड़ना) —नामी ऐसा "हेतु" दिया, जो स्वयं सिद्ध नहीं किन्तु साध्य कोटि में है; और इसलिये "साध्य समहेत्वाभास" कहलाने के योग्य है।

सम्भव है कि कोई अद्वैतवादी महोदय हम पर आक्षेप करने लगें कि हमने लौकिक उदाहरण देकर श्री शंकर स्वामी के परमार्थ सम्बन्धी तर्क की मीमांसा की है। परन्तु यह हमारा दोष नहीं है, स्वप्न का दृष्टान्त भी तो लौकिक ही है। वह अलौकिक नहीं हो सकता, और इसलिये, उसकी मीमांसा भी लौकिक रीत्या ही करनी पड़ेगी

हमारी इस मीमांसा से गौड़पादाचार्यजी की पाँचों कारिकाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पहली तीन कारिकाओं में उन्होंने जो बताया है कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या होती हैं। यह बात केवल एक ही अंश में ठीक है, सर्वांश में नहीं; अर्थात् जब मैं स्वप्न-देख रहा हूँ कि मेरा भाई मेरे पास बैठा हुआ है, तो यहां तक तो ठीक है कि वस्तुतः उस समय मेरे पास मेरा भाई उपस्थित नहीं है, अर्थात् स्वप्न में बिना पदार्थों के उपथित हुए भी उन के सम्बन्ध में भाव उपस्थित रहते हैं। परन्तु एक बात ठीक नहीं। गौड़पादाचार्यजी का यह मानना कि स्वप्नावस्था के भाव बिना किसी पदार्थ के उत्पन्न हो गए सर्वथा अनुचित और युक्तिशून्य है। क्योंकि स्वप्न के भावों की उत्पत्ति बाहरी पदार्थों द्वारा ही हुई है, बिना उनके नहीं। मेरा भाई एक समय मेरे पास बैठा था। उसी घटना ने मेरे मन पर यह भाव छोड़ रखे थे जो स्वप्न अवस्था में अनेक मानसिक

कारणों द्वारा उद्दीप्त हो गये। इसलिये यह कहना कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ सर्वांश में "वैतथ्य" को सिद्ध करती हैं, कदापि ठीक नहीं हो सकता। जो मनुष्य आँखों से देखता हुआ नहीं देखता और कानों से सुनता हुआ नहीं सुनता, उसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, जिस मनुष्य के पास 'दृश्यमानत्व' किसी वस्तु के 'वैतथ्य' की दलील है, उससे हम पूछते हैं कि वेदों में—

पश्येम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्।

अर्थात् सौ वर्ष तक हम देखते रहें, सौ वर्ष तक हम सुनते रहें आदि प्रार्थनाएँ क्यों की गईं। श्रीशंकराचार्यजी के कथनानुसार तो प्रार्थना ऐसी होनी चाहिये थी—

नेत्रहीनाः स्याम शरदः शतम्,
श्रोत्रहीनाः स्याम शरदः शतम्, इत्यादि।

तीसरी और चौथी कारिकाओं में गौड़पादाचार्यजी ने स्वप्न और जागृत का जो सादृश्य दिखाया है, उसका सब से अच्छा खंडन श्रीशंकराचार्य के ही शब्दों में दर्शाना अधिक उपयुक्त होगा। वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के २९ वें सूत्र अर्थात्—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् (२।२।२९)

का भाष्य करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं:—

(१) यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति तत्प्रतिवक्तव्यम्।

बाहर पदार्थ न माननेवाले कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए खम्भे आदि बाहर विद्यमान नहीं होते, उसी प्रकार जागृत में देखे हुए पदार्थ भी बाहर विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि जागृत और स्वप्न के भाव एक से ही हैं (अविशेषात्)। इसका खंडन किया जाता है।

(२) अत्रोच्यते —न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्ययाः भवितुमर्हन्ति ।

हमारा (शंकराचर्यजी का) कहना है कि स्वप्न के प्रत्यय के समान जागृत के प्रत्यय हो ही नहीं सकते ।

(३) कस्मात् । वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः ।

क्यों ? इसलिए कि स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में वैधर्म्य अर्थात अन्तर है।

(४) किं पुनर्वैधर्म्यम् । बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्तिमम महाजन समागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषाभ्रान्तिरुद्बभूवेति ।

अन्तर क्या है ? स्वप्न में देखे हुये पदार्थ की जागृत में देखे हुए पदार्थ से बाधा होती है। अर्थात् जिस वस्तु को मैंने स्वप्न के समय देखा उसको जागने पर न पाया। मैंने स्वप्न में देखा कि किसी महापुरुष के दर्शन हुए। आँख खोली, तो मालूम

हुआ कि वह पुरुष नहीं है। केवल नींद आने के कारण मेरे मन में एक विकार हो गया, जिससे यह भ्रांति हो गई।

(५) नैवं जागारितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते।

परन्तु जो वस्तु जागते समय दीखती हैं, जैसे खम्भे आदि। उनमें किसी अवस्था में भी बाधा नहीं पड़ती।

इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में उसी बात का खंडन किया है; जिसका वह कारिकाओं के भाष्य में मंडन करते हैं। परन्तु यहां उनको अपने मत के स्थापन की अपेक्षा बौद्धयोगाचार मत के खण्डन का अधिक ध्यान था। उन्होंने यह न सोचा कि हम अपने ही शब्द में अपने मत का खण्डन कर रहे हैं। और करते भी क्या? व्याससूत्र तो इतना स्पष्ट था कि उसका दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता था।

वह इसी के आगे स्वप्न का वही कारण बताते हैं, जो हम ऊपर बता चुके हैं :—

अपि च स्मृतिरेषा ❀ यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्म-

---

❀ इस वाक्य पर भामती व्याख्या इस प्रकार है :—

संस्कार मात्रजं हि विज्ञानं स्मृतिः। प्रत्युत्पन्नेन्द्रियसंप्रयोगलिंगशब्दसारूप्यान्यथानुपपद्यमानयोग्यप्रमाणानुत्पत्तिलक्षणसामग्रीप्रभवं तु ज्ञानमुपलब्धिः।

कमिष्टं पुत्रं स्मरामि † मोपलभ उपलब्धुमिच्छामीति ।

अर्थात् स्वप्न में जो कुछ देखते हैं, वह स्मृति के कारण देखते हैं । जागते में जो देखा जाता है, वह उपलब्ध अर्थात् वस्तुतः प्राप्त होता है । उपलब्धि और स्मृति में तो स्पष्ट ही बड़ा भेद है । एक प्राप्त है और दूसरी अप्राप्त । जब मैं पुत्र को याद करता हूँ तो इसका अर्थ यह है कि मेरे पास पुत्र नहीं है, मैं उसको पाना चाहता हूँ ।

इसलिये जागृत अवस्था की उपलब्धि को स्वप्न की उपलब्धि के समान मिथ्या नहीं कर सकते । शंकरस्वामी के इन शब्दों को देखकर कौन कह सकता है कि गौड़पादाचार्य का कथन युक्ति-युक्त है ।

आगे चल कर शंकरस्वामी और भी स्पष्ट करते हैं:—

अपिचानुभवविरोधप्रसंगाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरावलम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्न प्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते । न च यो यस्य स्वतो धर्मो न सम्भवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य सम्भविष्यति । न ह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदक साधर्म्याच्छीतो भविष्यति । दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ।

---

† यहां 'स्मरामि' शब्द को शंकर स्वामी ने "उपलब्धुमिच्छामि" (पाना चाहता हूँ) के अर्थ में प्रयुक्त किया है, जो सर्वथा प्रसङ्ग से विरुद्ध है । स्वप्न में स्मृति होती है, वह केवल जागृत में देखे हुए पदार्थों के संस्कार होते हैं । लेखक

चूंकि योगाचार मतानुयायी, अपने अनुभव के विरुद्ध, जागृत अवस्था में देखे हुए पदार्थों का मिथ्या होना उन्हीं अनुभवों के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते, अतः वह स्वप्न के अनुभवों की उपमा देकर उनका मिथ्यात्व सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु जो जिसका निज धर्म नहीं होता, वह दूसरे के साधर्म्य से भी निज धर्म नहीं हो सकता। सब जानते हैं कि आग गर्म होती है। तो केवल इसलिए कि आग और पानी में कुछ साधर्म्य भी है; आग को ठण्डा नहीं कह सकते। इसी प्रकार यद्यपि जागृत और स्वप्न के अनुभवों में कुछ सादृश्य भी है, तथापि वह एक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें वैधर्म्य भी है।

चौथा अध्याय

——०::०——

माया



अब हम माया की मीमांसा करते हैं। श्रीगौड़-पादाचार्यजी की कारिका यह है—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा,
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदांतेषु विचक्षणैः।

(२। ३१)

अर्थात जिस प्रकार स्वप्न, माया या गंधर्व नगर में देखी हुई चीजें मिथ्या होती हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान वेदांती लोग इस संसार को भी मिथ्या समझते हैं।

यहां माया का अर्थ है, वह पदार्थ जो हो न, परन्तु प्रतीत हो। गंधर्व-नगर का भी यही अर्थ है, स्वामी शकराचार्यजी भी माया को इसी अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। यहां हम कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञान-धातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते।

(शारीरिक-भाष्य १। ३। १९)

एक कूटस्थ नित्य और विज्ञान-धातु ईश्वर अविद्या द्वारा अनेक प्रतीत होता है। उसी प्रकार जैसे मायावी (जादूगर) माया द्वारा।

(२) यथा स्वयं पूसारितया मायाया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यते इति
(शा० भा० २ । १ । ९)

जिस प्रकार अपनी माया फैलाकर भी जादूगर उससे प्रभावित नहीं होता, क्योंकि जादू कोई चीज़ नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा में भी संसारी माया कुछ विकार नहीं करती।

(३) लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते। तथैकस्मिन्नपिब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यति। (शा० भा० २ । १ । २८)

जैसे लोक में देव आदि या जादूगर आदि बिना अपने स्वरूप को बिगाड़े, विचित्र हाथी, घोड़ा आदि सृष्टि उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अपने में विकार उत्पन्न किए बिना ही अनेक आकार की सृष्टि उत्पन्न कर देता है।

जादूगरों की जादूगरी प्रसिद्ध ही है। "एक, दो, तीन" किया और कभी उनके हाथ में सेब आ गया, कभी आम, कभी अमरूद और कभी रुपया और घड़ी। फिर 'एक, दो, तीन' किया और जो दृष्टि पड़ रहे थे, वह सब लुप्त हो गए। ऐसे जादूगर नगरों में तमाशा करते हुए बहुत पाए जाते हैं और लोगों का विश्वास यह है कि बिना आम, या अमरूद, या रुपया, या घड़ी हुए भी वह इन चीज़ों को दिखा देते हैं; कोई तो समझते हैं कि उनको कोई मंत्र आता है। उस मन्त्र में ऐसी शक्ति होती है कि उसका जप करते ही अनेक वस्तुएं दिखाई पड़ने लगती हैं।

जादूगर लोग इस प्रकार के कुछ शब्द अपने होठों में दुहराते हुए भी पाए जाते हैं, जिससे सर्वसाधारण का विश्वास और भी अधिक हो जाता है। मंतर जंतर का विश्वास लोगों में इतना बढ़ा हुआ है कि कम से कम इस देश के ग्रामों में लोग रोग अच्छा करने के लिये डाक्टर और वैद्य की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी ओझाओं या स्यानों की की जाती है। पेट का दर्द हुआ और स्याना आया, ज्वर हुआ स्याना आया, हैज़ा हुआ और वही स्याना आया, आँख दुःखने लगी वही स्याना बुलाया गया। इस प्रकार लोग समझते हैं कि स्याने के शब्दों में कोई ऐसी औषधि है, जिससे रोग भाग जाते हैं। परंतु यदि आप उन शब्दों को जानना चाहें, जिनके द्वारा रोगों को अच्छा करने का दावा किया जाता है, तो पता चलेगा कि वह साधारण और ऊटपटांग शब्द होते हैं, जिनका रोग और उसके इलाज से कोई सम्बन्ध नहीं और बहुत से ढोंग केवल रुपया ठगने के लिये किए जाते हैं। पहले लोगों का यह विश्वास था कि प्राचीन काल के अग्नि-अस्त्र, वरुण-अस्त्र आदि मंत्र के बल से ही चलते थे अर्थात् केवल किसी शब्द-समूह को जप देने से ही अग्नि-वर्षा, या जल-वर्षा हो सकती थी। परन्तु यह एक कल्पित बात थी, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में इस विषय में लिखा है—

"जो मन्त्र अर्थात् शब्द-मय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता और जो कोई कहे कि मन्त्र से अग्नि उत्पन्न होती है, तो वह मन्त्र के जप करनेवाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे। मारने जाय शत्रु को और मर रहे आप। इस लिए मन्त्र नाम है विचार का, जैसे "राज-मन्त्री" अर्थात् राज-कार्यों का विचार करनेवाला कहाता है। वैसा मन्त्र अर्थात् विचार से सब सृष्टि के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात्

क्रिया करने से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रिया-कौशल उत्पन्न होते हैं। जैसे कोई एक लोहे का बाण व गोला बनाकर उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने से वायु में धुआँ फैलाने और सूर्य की किरण व वायु के स्पर्श होने से अग्नि जल उठे, उसी का नाम आग्नेयास्त्र है। जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे, तो उसी पर वारुणास्त्र छोड़ दे अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की सेना पर आग्नेयास्त्र छोड़कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही अपनी सेना की रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेयास्त्र का निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से होता है, जिसका धुआं वायु के स्पर्श होते ही बादल होके झट वर्षने लग जावे, अग्नि को बुझा दे" (उन्नीसवाँ संस्करण पृ० १७७)।

इससे स्पष्ट है कि मन्त्र-यन्त्र के विषय में लोगों को निरतर धोखा हो रहा है। परन्तु अधिक आश्चर्य की बात यह है कि शंकर स्वामी ने, इसकी मीमांसा क्यों नहीं की। वह "देवादिव-दपि लोके" (वेदान्त २ । १ । २५) पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

"यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्-बाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासा-दादानि च रथादानि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् ।"

अर्थात् "जैसे लोक में देव, पितर, ऋषि आदि बड़े प्रभाव-शाली होते हुये भी बिना किसी बाहरी साधन के विशेष ऐश्वर्य

थो ध्यान-मात्र से बहुत सी संस्थाओं, शरीरों, महलों, रथ आदि का निर्माण करते हुये पाए जाते हैं—मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास पुराण आदि के प्रामाण्य से।"

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली यह कि श्री शंकराचार्य जी तथा उनके समकालीन लोगों का दृढ़ विश्वास था कि केवल मन्त्र या ध्यान से महल, रथ आदि बन सकते हैं। दूसरी यह कि उनके समय में किसी पुरुष ने ऐसा करके नहीं दिखलाया, केवल किंवदन्तियों, या कुछ पुस्तकों के आधार पर ही ऐसा माना जाता था। यदि उस समय भी देव, पितर या ऋषि ऐसे होते, तो शंकर स्वामी "इतिहास पुराणप्रामाण्यात्" कभी न लिखते।

इसी प्रकार आजकल के समान शंकराचार्य के समय में भी जादूगर बहुत थे और लोग समझते थे कि वह विशेष शक्ति द्वारा ही चीज़ों को उत्पन्न कर देते हैं। वह जादू को केवल हाथ की चालाकी नहीं समझते थे। आजकल साइंस के युग में हमको हर एक बात की पूरी मीमांसा करने की आदत हो गई है। आजकल कोई विद्वान् ऐसा नहीं मानता कि छूमंतर या जादू से कोई चीज़ उत्पन्न हो सकती है। जिन्होंने जादूगरी सीखी है, या इस विषय में जाँच की है, वह भली प्रकार जानते हैं कि जादूगर छूमंतर से न तो किसी चीज़ को उत्पन्न करता है, न लुप्त कर सकता है। यह उसकी हाथ की चालाकी होती है कि सेब या नारङ्गी या रुपया या घड़ी आदि को ऐसा छिपाता है कि लोग जान न सकें। कभी कभी यह चालाकी पकड़ी भी जाती है। अनेक प्रकार की ऐसी डिबियाएँ बनाई जाती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं को छिपाया जा सके। यदि छूमंतर से कोई चीज उत्पन्न हो सकती, तो जादूगर चार चार पैसे के

लिये तमाशा दिखाता न फिरता; किन्तु अपने लिये रुपये, फल तथा वस्त्र आदि उत्पन्न कर लेता।

कुछ लोग यह समझते हैं कि जादूगर तमाशा देखनेवालों की दृष्टि बाँध देता है, मैस्मेराइज़ (Mesmerise) और हिप्नोटाइज़ (Hypnotize) करनेवाले भी इसी प्रकार का दावा करते हैं। दृष्टि बाँधने का वास्तविक अर्थ क्या है? यह एक और बात है और हम यहाँ उससे अधिक सम्बन्ध नहीं रखते। हमारा आशय तो केवल इतना है कि माया या जादूगरी की उपमा दे कर बाह्य पदार्थों का मिथ्यात्व जो सिद्ध किया जाता है, वह कहाँ तक ठीक है। यदि जादूगर हाथ की चालाकी से चीजों को दर्शकों की दृष्टि से कभी छिपा सकता और कभी उनके सामने ला सकता है, तो उससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वह दिखाई देनेवाली वस्तुएँ मिथ्या हैं। दृष्टिभ्रम तो लोगों को साधारणतया बिना जादूगर के भी हुआ करते हैं। ऐसे भ्रमों का बहुत कुछ वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं; परन्तु जिस प्रकार उन भ्रमों से बाह्य पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार जादू को समझना चाहिए। जिस चीज़ का तीनों कालों में और सर्वत्र अभाव है, उसकी भ्रांति भी नहीं हो सकती और न उसको हिप्नोटाइज़ कर के दिखाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मेरा विचार है कि गौड़पादाचार्य से पूर्व 'माया' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। और न इस को 'माया-वाद' की उत्पत्ति से पूर्व वह गौरव ही प्राप्त था।

ऋग्वेद में यह शब्द लगभग ७५ मंत्रों में आता है।

मायाः (प्रथमांत, द्वितीयांत बहुवचन) २४ बार*,
मायया (तृतीयांत एक वचन) १९ बार,
मायाभिः (तृ० बहु०) १३ बार,
माया और मायाम् तीन तीन बार

---

*यह सारिणी प्रो० प्रभुदत्त शास्त्री की पुस्तक The Doctrine of Maya से ली गई है।

मायाः—ऋग्वेद--२४ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	३२	४
,,	११७	३
२	११	१०
,,	२७	१६
३	२०	३
,,	५३	८
५	२	९
,,	३१	७
,,	४०	६
,,	,,	८
६	१८	९
,,	२०	४
,,	२२	६
,,	४४	२२
,,	४५	९
,,	५८	१
७	१	१०
,,	९८	५

अब थोड़ा सा 'माया' शब्द के अर्थों पर विचार कीजिये। निघंटु में जो वैदिक शब्दों के पर्याय का अति प्राचीन कोषहै, 'माया' को 'प्रज्ञा' के ११ पर्यायों में से एक माना है। यास्काचार्य ने निघंटु का भाष्य करते हुए निरुक्त में भी 'माया' के इसी अर्थ के उदाहरण दिये हैं; जैसे ऋग्वेद में एक मंत्र है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु। (ऋ० ६।५८।१)

मंडल	सूक्त	मंत्र
७	९९	४
८	४१	८
१०	५३	९
,,	७३	५
,,	९९	२
,,	१११	६

मायया—१९ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	८०	७
,,	१४४	१
,,	१६०	३
२	१७	५
३	२७	७
४	३०	१२
,,	,,	२१
५	६३	३
,,	,,	७

यहाँ 'मायाः' द्वितीया का बहुवचन है और 'अवसि' क्रिया का कर्म है। अर्थात् "विश्वा हि माया अवसि" तू सब मायाओं की रक्षा करता है।

इस पर यास्क लिखते हैं—

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यद्विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवस्यन्नवन्भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु। तस्यैषा परा भवति।

(निरुक्त १२। १७)

मंडल	सूक्त	मन्त्र
६	२२	६
७	१०४	२४
८	२३	१५
८	४१	३
९	७३	५
"	"	९
"	८३	३
१०	७१	५
"	८५	१८
"	१७७	१

मायाभिः—१३ बार

१	११	७
"	३३	१०
"	५१	५
"	१५१	९

अर्थात् "सब प्रज्ञाओं या ज्ञानों की रक्षा करता है।" यदि 'माया' का अर्थ यहां "अविद्या" होता, जैसा कि गौड़पादाचार्य का मत है, तो 'पूषा' को कभी 'अविद्या' का रक्षक न बताया जाता।

एक और मन्त्र हैं:—

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायाम् तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्। (ऋ० १०। ८८। ६)

मण्डल	सूक्त	मन्त्र
३	३४	६
"	६०	१
५	३०	६
"	४४	२
"	७८	६
६	४७	१८
"	६३	५
८	१४	१४
१७	१४७	२
	माया—३ बार	
३	६१	७
५	६३	४
१०	५४	२
	मायाम्—३ बार	
५	८५	५
"	"	६
१०	८८	६

इस पर निरुक्तकार लिखते हैं—

मूर्धा मूर्त्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषाँ भूतानां भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव। प्रज्ञाँ त्वेताँ मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्। अपो यत्कर्म चरति प्रजानन् सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय। (निरुक्त ७। २७)

"मायावी" शब्द के रूपों का प्रयोग ऋग्वेद में इस प्रकार है—

मायिनः—१५ बार

मडल	सूक्त	मन्त्र
१	३९	२
"	५१	५
"	५४	४
"	६४	७
"	१५९	४
२	११	१०
३	३८	७
"	"	९
"	५६	१
५	४४	११
६	६१	३
७	८२	३
८	३	१९
"	२३	१४

यहाँ बतलाया गया है कि अग्नि अपने (अप:) कर्त्तव्यों को (प्रजानन्) जानता हुआ (तूर्णिश्चरति) शीघ्र ही घूम जाता है। रात में पृथ्वी का मूर्धा (सिर) होता है और प्रातःकाल सूर्य

मंडल	सूक्त	मंत्र
१०	१३८	३
	मायिनम्—१० बार	
१	११	७
,,	५३	७
,,	५६	२
,,	८०	७
२	३०	६
,,	५८	२
६	४८	१४
८	७६	१
१०	१४७	२
	मायी—३ बार	
७	२८	४
१०	९९	१०
,,	१४७	५
	मायिनाम्—३ बार	
१	३२	४
३	२०	३
,,	३४	३
	मायिनी—२ बार	
५	४८	१
१०	५	३
	मायिनि—१ बार	
५	४८	६

होकर चमकता है। यह सब (यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञ को संपादन करनेवाले देवों की माया अर्थात् 'प्रज्ञा' है। यहां 'माया' शब्द अविद्या से सर्वथा ही विरुद्ध अर्थ में लिया गया है।

तीसरा मन्त्र लीजिए—

इमाम् नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष। एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्ती रवनयः समुद्रम्। (ऋ० ५। ८५। ६)

इस पर निरुक्त में लिखा है कि—

"तं प्रज्ञया स्तौति" (निरुक्त ६। १३)

इस मन्त्र का देवता 'वरुण' है। वरुण के विषय में कहा गया है कि वरुण की इस बड़ी 'माया' (अर्थात् प्रज्ञा) को कोई नहीं दबा सकता है।

मडल	सूक्त	मंत्र
	मायिना—१ बार	
६	६३	५
	मायाविना -१ बार	
१०	२४	४
	मायावान्—१ बार	
४	१६	९
	मायाविनम्--१ बार	
२	११	९
	मायाविनः—१ बार	
९	८३	३

एक और मन्त्र देते हैं···

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। (ऋ० १०।७१।५)

इस मन्त्र का देवता "ज्ञान" है, इस पर निरुक्त की टिप्पणी है···

अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थान इतिवा विज्ञातार्थं 'यन्नाप्नुवन्ति वाग् ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक् प्रतिरूपया नाऽस्मै कामान् दुग्धे वाग् दोह्यान्देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। (नि० १।२०)

अर्थात् जो पुरुष बिना अर्थ समझे वाणी को पढ़ता या सुनता है, उसको वाणी से कुछ फल प्राप्त नहीं होता।

सायणाचार्य ने भी 'माया' का अर्थ अधिकतर 'प्रज्ञा', 'ज्ञान-विशेष', 'कर्म-विशेष' आदि ही किया है।

यजुर्वेद के ११ वें अध्याय के ६९ वें मन्त्र में 'आसुरी माया' शब्द आया है। इससे शायद लोग समझें कि राक्षसों के

छिलावे का वर्णन है। इस भ्रम को दूर करने के लिये हम मन्त्र का अर्थ देते हैं—

इ॑हस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि। जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् (यजु० ११। ६९)

इस पर उव्वट का भाष्य...

यत आसुरी माया। **असुः प्राणः। रेफ उपजनः।** प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा।

अर्थात् प्राण-सम्बन्धी प्रज्ञा या ज्ञान का नाम आसुरी माया है। महीधर लिखते हैं—

कस्मात्त्वमिदमुच्यसे स्वधयान्नेन निमित्तेन त्वमासुरी माया प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा कृतासि। असूनां प्राणनामियमासुरी। यद्वा असुरसम्बन्धिनी माया अचिन्त्यरचनारूपं चित्रं वस्तु भूत्वा यद्वत् प्रतिभाति तद्वत् त्वमपि स्तनरचनायुक्ता निष्पन्नासीत्यर्थः।

इससे विदित होता है कि यद्यपि महीधर भी उव्वट के सदृश माया का अर्थ 'प्रज्ञा' करते हैं, तथापि उनके भाष्य में 'राक्षसी माया' की भी कुछ छटा है; परन्तु इसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। माया का प्रज्ञा अर्थ करने में तो निरुक्त का भी प्रमाण है, और उव्वट का भी जो महीधर से पुराने भाष्यकार हैं।

'आसुरी माया' शब्द १३ वें अध्याय के ४४ वें मन्त्र में भी आया है—

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाꣳ रजसः परस्मात्। महीꣳ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। (यजुर्वेद १३। ४४)

यहाँ 'माया' के दो विशेषण हैं। एक 'मही' और दूसरी 'साहस्री' और 'अग्निदेव' से प्रार्थना की गई है कि आप इस 'मही', 'साहस्री', और 'असुरस्य' 'माया' का नाश न कीजिए। स्पष्ट है कि यदि इसमें 'राक्षसी माया' का लोकवाद के समान कुछ भी लवलेश होता, तो उसकी रक्षा की प्रार्थना कभी न की जाती। इस पर उव्वट लिखते हैं--

महीं महतीं साहस्रीं सहस्रोपकारक्षमाम्। असुरस्य असुवतः प्राणवतः प्रज्ञानवतो वा वरुणस्य मायां प्रज्ञां हे अग्ने, मा हिंसीः।

अर्थात् 'मही' नाम है 'बड़ी' का। 'साहस्री' का अर्थ है 'अनेक उपकार करनेवाली'। (यहाँ याद रखना चाहिये कि 'माया' को छल या कपटमयी माया या अविद्या नहीं माना गया; परन्तु उसको 'सहस्रों उपकार करनेवाली' बताया गया है। न इसको गौड़पादाचार्य की वेदांत-सम्बन्धी 'माया' के अर्थ में लिया गया है। क्योंकि वेदांती 'माया से उपकार नहीं, किंतु अपकार ही होता है) 'असुर' नाम है प्राणवाले या ज्ञानी का; माया का अर्थ है 'प्रज्ञा' या बुद्धि।

महीधर ने भी इसी को दुहराया है; जैसे—

असुरस्य मायामसवः प्राणा विद्यन्ते यस्य

सोऽसुरः मत्वर्थे रः। प्रज्ञावतो मायां प्रज्ञां मीयते ज्ञायतेऽनया माया प्रज्ञा प्राणिनां प्रज्ञाप्रदामित्यर्थः।

यहाँ महीधर ने, यह भी दिखा दिया कि 'प्रज्ञा' को 'माया' क्यों कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा 'मीयते', 'ज्ञायते' या ज्ञान प्राप्त होता है, उसका नाम है 'माया'। यहाँ 'माया' को 'प्रज्ञाप्रदा' कहा गया है। प्रज्ञाप्रदा या बुद्धि देनेवाली वस्तु कदापि अविद्या नहीं हो सकती।

तेईसवें अध्याय के ५२ वें मंत्र में 'मायया' शब्द आया है—

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि। एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥ (यजुर्वेद अ० २३; मं० ५२)

इसकी व्याख्या करते हुए महीधर ने—

किंच मायया बुद्ध्या मत् मत्तः उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि। मत्तो बुद्धिमान्नासीत्यर्थः।

'माया' का अर्थ 'बुद्धि' किया है।

३० वें अध्याय के ७ वें मंत्र में—

"मायायै कर्मारम्"

से भी लुहार की विशेष विद्या का ग्रहण किया गया है। स्वामी दयानन्द 'मायायै' का अर्थ करते हैं '[illegible]' अर्थात [illegible] के लिये।

अथर्ववेद में 'माया' शब्द २७* स्थलों पर आया है—

'माया' १ बार—

कांड	सूक्त	मं०
८	९	५

'मायया' १०बार—

काँ०	सू०	मं०	काँ०	सू०	मं०
४	३८	३	१३	२	३
६	७२	१	१३	२	११
७	८६	१	१४	१	२३
८	४	२४	१५	६८	१
१०	८	३४	२०	३६	६

'मायिनः' ३ बार—

काँ०	सू०	मं०
१९	२७	५
१९	२७	६
१९	६६	१

'मायाम्' ३ बार—

कां०	सू०	मं०
२	२९	६
८	१३	३
८	१३	४

'मायाः' ४ बार—

काँ०	सू०	मं०
४	२२	५
८	३	२४
२०	३६	९
२०	८७	५

'माये' १ बार—

कां०	सू०	मं०
८	१०	२२

'मायायाः' १ बार—

कां०	सू०	मं०
८	९	५

---

* इस सारिणी का आधार प्रो० प्रभुदत्तजी शास्त्री की पुस्तक 'Doctrine of Maya' है। उन्होंने जो अंश छोड़ दिया है, वह पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी की सूची से पूरा किया गया है।

'मायाभिः' ३ बार—

कां०	सू०	मं०
१२	१	८
२०	११	६
२०	२९	४

'मायी' १ बार—

कां०	सू०	मं०
५	११	४

'मायिनाम' १ बार—

कां००	सू०	मं०
२०	११	३

'मायिनम्' १ बार—

कां०	सू०	मं०
२०	२१	७

अब क्रमशः अर्थों पर विचार कीजिए—

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चा, सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् । (अथर्ववेद काण्ड २, सूक्त २९; मं० ६)

इस मन्त्र में "हृदय" को "शिवाभिः" कल्याण करनेवाली वस्तुओं से तृप्त करने का वर्णन है, और "सवासिनौ" अर्थात् 'साथ रहनेवाले' स्त्री-पुरुषों को 'मायाम्', 'परिधाय' अर्थात् माया को धारण करके 'मन्थं पिबतां' रस पीने का उपदेश है, इससे स्पष्ट है कि यहाँ भी 'माया' का अर्थ 'प्रज्ञा' या बुद्धि है । छलावा या अविद्या नहीं ।

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणा-मयुञ्जन्त मायाः ।

येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स मुञ्चत्वंहसः ।

(४ । २३ । ५)

(येन युजा) जिस सहायता करनेवाले की सहायता से (ऋषयः) ऋषियों ने (बलम्) बल को (अद्योतयन्) प्रकाशित

किया और (असुराणाँ माया:) प्राण-संबंधी प्रज्ञा या विद्याओं के (अयुवन्त) प्राप्त किया और (येनाग्निना) जिस पूजनीय को सहायता से (इन्द्र: पणीन् जिगाय) राजा ने व्यापार करनेवालों पर आधिपत्य प्राप्त किया (स:) वह ईश्वर (न:) हमको भी (अंहस:) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावें।

इस मन्त्र में 'अयुवन्त' क्रिया 'यु' धातु का रूप है, जिस का अर्थ है 'मिश्रणामिश्रणयो:' "अर्थात् मिलाना और पृथक् करना दोनों।" 'असुरों की माया' की यजुर्वेद के मन्त्रो के साथ व्याख्या की जा चुकी है।

इसी काँड का एक और मन्त्र देखिए—

"याऽयैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषतो प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥

(४ । ३८ । ३)

(या) जो शक्ति (ग्लहात्) कृपा से (कृतम् आददाना) कर्मों को ग्रहण करती हुई (अयै:) सुखों के साथ (परिनृत्यति) नाचती है या प्रकाशित होती है (सा) वही शक्ति (न: कृतानि सीषती) हमारे कामों को नियम में रखती हुई (मायया) बुद्धि के साथ (प्रहाम्) अच्छी गति को (आप्नोतु) प्राप्त होवे। (सा) वही शक्ति (न:) हमारे लिये (पयस्वती) मङ्गलकारी होकर (एतु) आवे। (न:) हमारे (इदम् धनम्) इस धन को (मा जैषु:) कोई न जीतें।

इस मन्त्र में स्पष्ट दिया हुआ है कि हमारी कृतियाँ अर्थात् कर्म माया के साथ नियमबद्ध होवें। इसलिये 'माया' का अर्थ यहाँ वही लग सकता है, जो निरुक्तकार यास्क का अभिमत है अर्थात 'प्रज्ञा' या बुद्धि।

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्; त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चित्नु त्वज्जनो मायी बिभाय (अथर्व० का० ५ सूक्त ११। मन्त्र ४)

हे (स्वधावन् वरुण) शक्तिवाले वरुण (न त्वत् अन्यः कवितरो) तुझसे अधिक कोई धीरतर नहीं है (त्वम्) तू (ता विश्वाभुवनानि) उन सब लोकों को जानता है (सः मायी जनः) वह ज्ञानी पुरुष (चित् नु) अवश्य ही (त्वत्) तुझसे (बिभाय) डरता है।

यहाँ 'कवितर' और 'मेधया' शब्दों का 'मायी' के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण 'मायी' का अर्थ 'प्रज्ञावान्' अर्थात ज्ञानी है।

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया। एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु।

(अथर्ववेद काण्ड ६। सूक्त ७२, मं० १)

यहाँ 'असुरस्य माया' का वही अर्थ है, जो ऊपर किया जा चुका है।

पूर्वापरं चरतौ माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम्। विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः (अथ० ७। ८१। १)

इस मन्त्र का देवता "सोमार्कौ" सूर्य और चंद्र हैं, जो (मायया) ईश्वर के ज्ञान से (यातः) चलते हैं। यही शब्द

१३ । २ । ११ तथा १४ । १ २३ में भी है। अंतिम भाग में कुछ भेद है।

आठवें काण्ड में यह शब्द पाँच मन्त्रों में आया है, इनमें से दो दसवें सूक्त के हैं—

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् । तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति । (८ । १० । ४ । १)

तां द्विमूर्धात्व्यों धोक् तां मायामेवाऽधोक् (८ । । १० । ४ । ३)

पहले में असुरों के लिये कहा गया है कि उन्होंने 'माया' को बुलाया (माये एहि) हे माया तू आ।

दूसरे में (मायाम् अधोक्) माया को दुहा। यहाँ दोनों स्थानों में माया का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान या वेद विद्या के दुहने का कथन मनुस्मृति में भी है। दुहना शब्द 'विद्या' के संबंध में संस्कृत में आता ही है। गीता में भी श्रीकृष्ण को उपनिषदों का दुहनेवाला बतलाया गया है। यहाँ माया का अर्थ छलावा करना कदापि ठीक नहीं।

९ सूक्त का मन्त्र यह है—

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥
(अथर्व० ८ । ९ । ५)

इसका साधारण अर्थ यह हुआ (मातुः) जगदम्बा ने मात्रा से मात्रा बनाई और माया से माया बनाई अर्थात् जगत बनाया और ज्ञान से ज्ञान या वेद-सम्बन्धी प्रज्ञा दी। वेदों के लिये अन्य स्थानों पर 'जज्ञिरे' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस कांड के दो मन्त्र यह हैं—

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निरा विविश्वानि कृणुते महित्वा। प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृंगे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे। (अथर्व० ८।३।२४)

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्। विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्। (अथर्व० ८।४।२४)

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ (अथर्व० १०।८।३४)

जहाँ देव और मनुष्य पहिये की नाभि में आरा के समान लगे हुये हैं, उस (अपां पुष्पं) कर्मों के फल को पूछता हूँ, जिसमें वह (मायया) ज्ञान द्वारा (हितम्) स्थित है।

यार्णवेधिसलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः। यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (अथर्व० १२।१।८)

जो पृथिवी पहले (अधिसलिलम्) जल के सहारे थी (यां) जिसको (मनीषिणः) बुद्धिमान लोगों ने (मायाभिः) प्रज्ञा द्वारा (अन्वचरन्) जान पाया इत्यादि।

नानारूपे अहनी कर्षि मायया। (१३।२।३)

अर्थात् ज्ञान से अनेक प्रकार के रात और दिन को तू बनाता है।

अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन्। (१९।२७।५)

बुद्धिमान लोगों को चाहिये कि अग्नि, सूर्य और चंद्र की शक्ति का नाश न करें।

मा वः प्राणं मावोपानं मा हरो मायिनो दभन्
(१९।२७।६)

अर्थात् विद्वान् लोग तुम्हारे प्राण, अपान और तेज को नष्ट न करें। अर्थात् इनकी बुद्धि में सहायक हों।

असुरा मायिनः। (१९।६६।१)

असुर और मायी का पहले अर्थ दिया जा चुका है।

विष्यामि मायया। (१९।६८।१)

ज्ञान से खेलता हूँ।

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्रमायिनाममिनाद् वर्षणीतिः। (अथर्व० २०।११ ३)

(मायिनाम्) ज्ञानियों के (इन्द्रः) राजा ने, जो (शर्द्धनीतिः) बल-युक्त नीतिवाला और (वर्षणीतिः) ढकने की नीतिवाला है, वृत्र को (अवृणीत्) ढक लिया और (मिनाद्) दुःख दिया।

पिपेष मायाभिर्दस्यून्। (अथर्व० २० ११।६)

बुद्धियों द्वारा चोरों को पीस डाला।

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्राद्यामारुरुक्षतः।

अव दस्यूँरधूनुथाः। (अथर्व० २० २९ । ४)

(मायाभिः) बुद्धियों द्वारा (दस्यून्) चोरों को (अधूनुथाः) परास्त किया है। इत्यादि।

मायया वावृधानम् (२० । ३६ । ६)

बुद्धि से बढ़ते हुए की।

दयसे वि मायाः। (२० । ३६ । ९)

बुद्धियों को देता है।

यहाँ हमने अथर्ववेद के अनेकों उदाहरण इसलिये दिये हैं कि प्रायः अथर्ववेद के विषय में, लोगों में, अनेक भ्रम फैले हुए हैं। लोगों का विचार है कि अथर्ववेद में राक्षसों, जादूगरों, स्यानों या ओझाओं, मोहन-मारण और उच्चाटन करनेवालों, तावीज़, गंडा आदि पहनानेवालों या झाड़-फूँक करनेवालों का वर्णन है। हमारा विचार इससे सर्वथा विपरीत है। हम अथर्ववेद को भी उसी प्रकार की धार्मिक पुस्तक मानते हैं, जैसे ऋग्वेद तथा अन्य वेदों को। हमारे विचार में अथर्ववेद के शब्दों में भी उतना ही परिवर्तन हो गया है, जितना अन्य वेदों के। 'आसुरी माया' कहने मात्र से आजकल लोग राक्षसों के माया-जाल का ही अर्थ समझते हैं। कम से कम उस समय तक जब उव्वट या महीधर ने, यजुर्वेद का भाष्य रचा, लोगों में यह धारणा अवश्य थी कि वेदों में 'आसुरी माया' के यह अर्थ नहीं, और न 'असुर', न 'माया' ही, ऐसे घृणित अर्थों में प्रयुक्त होते थे। सायण के भाष्य से भी यही पता चलता हैं। अथर्ववेद के कई मंत्रों के अर्थ इस संबंध में विचारणीय हैं। वैदिक शब्दों के अर्थों का जब तक भरपूर अन्वेषण न होगा, उस समय तक वैदिक साहित्य-रूपी अग्नि भ्रम-रूपी राख के नीचे ही दबी पड़ी रहेगी। संभव है कि

कुछ सज्जन अथर्व के हमारे किए अर्थों से संतुष्ट न हों। परंतु यहाँ हमारा प्रयोजन केवल 'माया' शब्द के अर्थों का अन्वेषण है। यदि हमारे अर्थों को न भी माना जाय, तो भी किसी प्राचीन भाष्यकार या वैदिक शब्दों के कोष से यह तो सुगमतया पता चल सकता है कि वेदों में कहीं माया शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, जिसमें श्रीगौड़पादाचार्य या श्रीशंकराचार्य लेते हैं। वेदों के पश्चात् 'माया' शब्द छल कपट के अर्थों में अवश्य आने लगा। परंतु इस विषय में उसकी वही गति हुई, जो अंगरेजी के शब्द कनिंग (Cunning) की हुई। कनिंग शब्द की जननी ऐंग्लो सेक्सन भाषा की (Cunnan) क्यूनन, धातु थी। जिसका अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है। परन्तु आजकल कनिङ्ग शब्द कपटी, मक्कार, चालाक के अर्थों में आता है। बहुधा उच्चवंशीय लोगों की भी ऐसी दुर्गति हो जाती है। राम और कृष्ण के वंशज सूर्य और चन्द्रवंशीय कहलाते हुये भी बड़ी दुर्दशा में है, फिर बेचारे 'कनिंग' शब्द का क्या कहना? माया का भी यही हाल है। उसी 'मा' धातु रूपी जननी के अनेक पुत्र अनुमान, प्रमाण, सम्मान, अभिमान आदि बड़े-बड़े उच्च पदों को प्राप्त किए हुए हैं। परन्तु 'माया' शब्द को या 'असुर' शब्द को अब वह गौरव प्राप्त नहीं रहा, जो वेदों के समय था। परन्तु यदि इस गिरावट के कारण विपक्षी लोग होते, तो कुछ आश्चर्य न था। खेद तो इस बात का है कि श्रीशङ्कराचार्य जैसे वेदोद्धारक ने भी इसमें दो लातें मार ही दीं। और उनके अनुयायी उसको तिरस्कृत ही समझते रहे।

कुछ लोगों ने अपने मतलब की सिद्धि के लिये 'माया' शब्द की यह व्युत्पत्ति की है "मा + या' (या) जो (मा) न हो, अर्थात् उसका नाम माया है, जो हो न, परन्तु दिखाई पड़े।

परन्तु इस व्युपत्ति के लिये कोई व्याकरण, कोई कोष या कोई वैदिक ग्रन्थ साक्षी नहीं है।

न कोई व्युत्पत्ति करने का नियम ही ऐसा है कि शब्दों का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सके। ऐसा विश्लेषण तो उस बच्चे का खेल होगा; जो विश्लेषण का अर्थ वस्तु को तोड़ डालना ही समझता है। हाँ; यदि किसी काव्य-रस के प्रेमी ने शब्द-लालित्य के लालच में फँस कर ऐसी युक्ति दी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।। क्योंकि संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का भी एक युग आ चुका है, जब लोग ऐसी ऊट-पटाँग युक्तियाँ देते व्युत्पत्तियाँ किया करते थे।

अब थोड़ा-सा उपनिषदों पर भी दृष्टिपात करना चाहिये। यों तो उपनिषदों की संख्या सौ से भी अधिक है, परन्तु श्री शंकराचार्यजी के समय तक १० या ११ उपनिषदें ही प्रचलित थीं, और प्रायः उन्हीं को शंकर महराज ने श्रुति के नाम से पुकारा है। इनमें ८ उपनिषदों में 'माया' शब्द का चिह्न भी नहीं है। बृहदारण्यक में एक बार आया है, और प्रश्न में एक बार। श्वेताश्वतर में अवश्य माया के ५ रूप मिलते हैं; परंतु श्वेताश्वतर को सभी विद्वानों ने १० उपनिषदों से बाहर और उनकी अपेक्षा नया माना है।

बृहदारण्यक का उदाहरण देते हैं—

"इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयंवै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्

ब्रह्मा पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ।" (बृ० २ । ५ । १९ या शतपथ ब्रा० १४ । ५ । ५ । १९)

यहाँ यह वर्णन है कि परमात्मा ने सृष्टि कैसे रची ? इसी सम्बन्ध में कहा है कि इन्द्र मायाओं द्वारा पुरुरूप हो गया अर्थात् ईश्वर ने प्रज्ञाओं द्वारा सृष्टि क्यों उत्पन्न किया । वस्तुतः यहाँ ऋग्वेद का एक पूरा मन्त्र ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया गया है ।—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥" ऋग्वेद मण्डल ६ । ४७ । १८)

प्रश्नोपनिषद् में अवश्य 'माया' का अर्थ वह नहीं है जो वेदों में है —

"तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ।" (प्रश्न १ । १६)

अर्थात् वही लोग ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं जो जिह्म (धोखा), (अनृत) झूठ और (माया) कपट-छल से बचते हैं । परन्तु यहाँ भी माया शब्द का वह अर्थ नहीं है, जो शंकर स्वामी ने लिया है । दश उपनिषदों के देखने से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदों के समय में भी 'माया' शब्द का वह गौरव प्राप्त न था, जो वेदान्तियों के समय में हो गया; और न उसके यह अर्थ ही थे । गौड़पादाचार्य और शंकराचार्य के पश्चात् माया का इतना प्रचार हुआ कि वेदांत-सम्बन्धी पुस्तकों में जिधर देखो 'माया' ही 'माया' दिखाई

पड़ती है। श्रीमधुसूदनाचार्य की पंचदशी अद्वैतवाद के ग्रथों में से मुख्य समझी जाती है। उसमें तो 'माया' को इतना बढ़ाया कि ईश्वर की भी माता बना दिया। वह कहते हैं—

"कूटस्थासंगमात्मानं जगत्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे।"

(पंचदशमी, चित्रदीपप्रकरण १३३)

कूटस्थ और असंग आत्मा को जगत् बना देती है। चेतन के आभासरूप से जीव और ईश्वर को रचती है। यही नहीं, किन्तु—

"मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरोवुभौ।"

(श्लो० २३६)

अर्थात्—ईश्वर और जीव दोनों माया नामी कामधेनु के दो बछड़े हैं।

जब 'माया' जीव और ईश्वर की जननी हुई, तो श्रीराम-चन्द्र-जैसे पितृ-भक्त आर्यों का अनुकरण करके इनको माया की आज्ञा भी माननी चाहिये, अन्यथा पितृ-द्रोह का दोष लग जायगा। इसीलिये कहा है—

"एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।" (२२६)

अर्थात् आनन्द और विज्ञानमय जीव तथा ईश्वर दोनों माया और बुद्धि के वश में हैं।

ऐसी जगदम्बा नहीं, नहीं सर्वाम्बा माया की माता ढूँढ़ना व्यर्थ है। वह तो माताओं की मा है, उसकी मा कोई नहीं; और न उसको सिद्ध करने की ज़रूरत है। क्योंकि कहा है—

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि;

मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः"

(१ ३५)

अर्थात् जैसे पानी में बहना, अग्नि में गर्मी और पत्थर में कड़ापन स्वयं सिद्ध है। इसी प्रकार 'माया' का दुर्घटत्व भी स्वयं सिद्ध ही है।

न चोदनीयं मायायां। (१३७)

और 'माया' के विषय में तर्क नहीं करना चाहिए।

वेदों को 'माया' के न तो इन अर्थों का ही पता था; और न वह उसको स्वयं सिद्ध, अतर्कय तथा जीव और ईश्वर की माता ही समझते थे। वेदों में तो पदे पदे यही कहा है कि ईश्वर ने समस्त सृष्टि की रचना की—

परन्तु मधुसूदनाचार्य कहते हैं कि—

"मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतवतः।"

(पंचदशी, तृप्तिदीपप्रकरण श्लोक ३)

अर्थात श्रुति में कहा है कि माया आभास के द्वारा जीव और ईश्वर दोनों को बनाती है। यहां यह नहीं बताया कि कौन-सी श्रुति में कहा है। अद्वैतवादियों की श्रुतियों की शृङ्खला भी तो अद्भुत है। वेद से लेकर सैकड़ों उपनिषदों तक जिनमें से बहुत सी नवीन हैं; और शङ्कराचार्य के पश्चात् बनी हैं; सभी श्रुतियों में गिनी जाती हैं।

प्रो० प्रभुदत्त शास्त्री ने ठीक कहा है कि—

"The *word* in its usual sense, of course, occurs for the first time in the Svetasvatara Upanishad (IV. 10)" (The Doctrine of Maya p, 55.)

"अर्थात् माया शब्द साधारण अर्थ में (अद्वैतवादियों के अर्थ से आशय है) पहले पहल श्वेताश्वतर उपनिषद् (४ । १०) में आया है।"

"But the *idea* may de traced to the later stage of the Vedic civilization." (Ibid p. 36.)

परन्तु यह भाव वैदिक सभ्यता के पिछले समय तक मिलता है।'

इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग तक मायावाद का पता भी न था।

हमारी अपनी धारणा यह है कि बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय के समय मायावाद ने ज़ोर पकड़ा, यह लोग शून्यवादी थे। गौड़पाद तथा शङ्कर ने, इसी वाद को कुछ थोड़ा-सा उलट-पलट कर एक नया रूप दे दिया।

पांचवां अध्याय

—०::०—

कुछ कल्पित स्वयं सिद्धियाँ



यं सिद्धि उसको कहते हैं जिसको सत्य मानने में किसी को आशङ्का न हो। गणितशास्त्र में ऐसी अनेक स्वयं सिद्धियां मानी जाती हैं जिनके आधार पर अन्य बातों को तो सिद्ध करते हैं परन्तु जिनको स्वयं सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती और न उनका सिद्ध करना ही सम्भव है। वस्तुतः सिद्धि उसकी की जाती है जो 'साध्य-कोटि' में हो अर्थात् जिसको कुछ लोग मानें और कुछ न मानें। परन्तु जिसको प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के सभी लोग मानते रहे और जिसके अस्तित्व के विषय में कभी किसी ने शङ्का उठाई ही नहीं उसको न साध्यकोटि में रख सकते हैं न उसको सिद्ध ही करते हैं। जैसे गणित की स्वयं सिद्धि है कि 'जो वस्तुयें किसी एक वस्तु के बराबर होती हैं वह आपस में भी बराबर होती हैं' या 'बराबर चीजों में से बराबर अंश घटा दिये जायं तो शेष बराबर होंगे' या 'प्रत्येक वस्तु अपने अंश से बड़ी होती है'। इत्यादि इनको कोई सिद्ध नहीं करता किन्तु बिना सिद्ध किये ही मान लेता है।

परन्तु हम आश्चर्य से देखते हैं कि लोक-व्यवहार में बहुत सी ऐसी बातें भी स्वयंसिद्ध समझ ली जाती हैं जिनको मानना

सर्वथा। असम्भव है और फिर इन्हीं के ऊपर सिद्धान्तों का एक विशाल भवन खड़ा कर दिया जाता है। यह भवन देखने में अति सुन्दर और सर्वगुण-सम्पन्न प्रतीत होता है परन्तु इसकी बुनियाद एक काल्पनिक स्वयंसिद्धि के ऊपर होने के कारण यह भवन भी एक प्रकार से काल्पनिक ही होता है। उदाहरण के लिये तुलसीदास जी की एक सूक्ति है :—

समरथ को नहिं दोष गुसाईं।

कवि ने काव्य की लहर में आकर एक वाक्य कह दिया। परन्तु संसार ने उसको याथातथ्यत: ग्रहण कर लिया। कभी इस वचन को सिद्ध करने का यत्न नहीं किया गया कि सामर्थ्यवान पुरुष को क्यों दोष नहीं लगता। यह एक स्वयंसिद्धि होगई और इसी स्वयंसिद्धि के आश्रय राजों के अत्याचार, देवी देवताओं के अत्याचार; ईश्वर के अत्याचार आदि सभी ऊटपटांग बातों को जिनसे पुराण तथा अनेक धर्मों की गप्प कथायें भरी पड़ी हैं ठीक मानी जाने लगीं।

"इसी प्रकार गुलज़ार नसीम का एक शैर है :—

पत्ता कहीं हुक्म बिना हिला है ?"

अर्थात ईश्वर की आज्ञा के बिना पत्ता भी हिल नहीं सकता। लोगों में यह उक्ति स्वयसिद्धि होगई है। साधारणतया सभी लोग मानते हैं कि संसार की प्रत्येक गति ईश्वर की ओर से हुआ करती है। इसी स्वयंसिद्धि के आश्रय पर लोग यह मानने लगे हैं कि मनुष्य चोरी, मिथ्याभाषण आदि जितनी बुराइयाँ करता है वह भी ईश्वर की ही प्रेरणा से करता है। यदि ऐसा हो तो मनुष्य को इसका सुख अथवा दुख:रूपी फल क्यों मिलना चाहिये ? वस्तुत: बात यह है कि दोनों सूक्तियां स्वयंसिद्धियां नहीं हैं और मीमाँसा करने पर या तो यह झूठी सिद्ध होंगी

या इनके अर्थों को सीमा-बद्ध करना पड़ेगा। यदि यह सची भी हैं तो आधी सच्ची हैं इसलिये सर्वसाधारण को धोखा हो जाता है।

यह तो हुई लौकिक स्वयं-सिद्धियां। और एक प्रकार से यह ज्ञन्तव्य हैं क्योंकि सर्वसाधारण से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह प्रत्येक बात को तर्क या मीमांसा की कसौटी पर रखकर परखें और तब उसको मानें। प्रायः संसार में यही देखा जाता है कि लोग सुनी सुनाई बातों को ही सिद्धान्त-रूप मान लेते हैं और उनका निराकरण करने का या तो कष्ट नहीं उठाते या उनमें ऐसा करने की योग्यता नहीं होती। कभी कभी मौलिक वक्ता के मौलिक वचनों के प्रसङ्ग या शब्दार्थों को थोड़ा सा इधर उधर कर देने से भी बड़ा अन्तर हो जाता है। हम यहाँ एक हास्यजनक उदाहरण देते हैं। वैशेषिक-दर्शन का एक सूत्र है:—

कारणाभावात् कार्य्याभावः

अर्थात् कारण के अभाव से कार्य्य का अभाव होता है। इस वचन की सत्यता प्रत्येक युग तथा देश में मानी जाती है। जिस वृक्ष को काटना हो उसकी जड़ काट दो और वह कट जायगा। जिस रोग को निवृत करना हो उसका मूल कारण नष्ट कर दो और यह रोग भी नष्ट हो जायगा। इसी सिद्धांत को मानते हुए इङ्गलैण्ड और स्काटलैंड में पहले यह प्रथा थी कि यदि किसी तलवार से किसी के घाव लग जाता था तो घाव पर मरहम न लगाकर तलवार पर लगाते थे क्योंकि उनका विचार था कि घाव को अच्छा करने के लिये घाव के कारण अर्थात तलवार पर दवा लगनी चाहिये। न्यायशास्त्र-वेत्ता भले प्रकार समझ सकते हैं कि यह हेतु नहीं किन्तु हेत्वाभास है।

करण का व्यापार से उसी समय तक सम्बन्ध रहता है जब तक वह व्यापार होता रहे। जहां व्यापार समाप्त हुआ तहां करण का और व्यापार का सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। केवल उपादान कारण के नष्ट करने से ही कार्य्य का नाश हो सकता है। करण के नष्ट करने से नहीं। जिस कलम से मैं लिख रहा हूँ वह लेख का करण है उपादान कारण नहीं। इसलिये यदि यह मेरा कलम सर्वथा नष्ट हो जाय तो भी यह लेख ज्यों का त्यों बना रहेगा। परन्तु जिस स्याही से यह अक्षर लिखे जा रहे हैं वह उसका उपादान कारण है। अतः उस स्याही के धो देने से अक्षर भी धुल जायंगे। यह गलती करण और उपादान को एक समझ लेने के कारण हुई।

इस प्रकार की कल्पित स्वयंसिद्धियाँ लोक में बहुत सी हैं। परन्तु हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती जब हम प्रबल-युक्ति-सम्पन्न दार्शनिकों को ऐसी ही स्वयंसिद्धियों की कल्पना करते हुये पाते हैं। अद्वैतवादियों में बड़े बड़े तार्किक हुये हैं और कम से कम नैय्यायिकों के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये तो वह उधार खाये बैठे रहते हैं। परन्तु जब हम उनके विशाल भवन की बुनियाद काल्पनिक स्वयंसिद्धियों के ऊपर पाते हैं तो हमको एक प्रकार से खेद ही होता है, क्योंकि सर्वसाधारण लोग बुनियाद तक तो पहुँच ही नहीं सकते—वह केवल ऊपरी भवन की ऊपरी विशालता पर ही मुग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सत्यता का प्रचार कम हो कर मिथ्यात्व का प्रचार ही बढ़ जाता है, और जगत के स्थान पर मिथ्या ही जगत् प्रतीत होने लगता है। हम यहाँ कुछ धुरन्धरों द्वारा कल्पित स्वयंसिद्धियां की मीमांसा करेंगे।

सब से पहले अद्वैतवाद के प्रपितामह श्री गौड़पादाचार्य को लीजिये।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

(गौड़पादीय माण्डूक्योपनिषत्कारिका द्वितीय प्रकरण श्लोक ६)

इस पर श्री शंकराचार्यजी भाष्य करते हैं :—

यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके। तथेमे जागृद्दृश्या भेदाः। आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाऽप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः।

अर्थात् जो चीज़ आदि में और अन्त में न हो वह बीच में भी नहीं होती। ऐसा लोक में निश्चित है। उसी प्रकार यह जागृत अवस्था में देखे हुये दृश्यों के भेद हैं। मृगतृष्णिका न आदि में होते हैं न अन्त में इसलिये उनको वितथ अर्थात् झूठा समझा जाता हैं इसी प्रकार जागृत के दृश्य भी वितथ अर्थात् मिथ्या हैं। परन्तु मूर्ख लोगों को वह अवितथ अर्थात् सत्य से प्रतीत होते हैं।

यहाँ गौड़पादाचार्य ने एक लौकिक स्वयंसिद्धि की ओर संकेत किया है। वह यह कि "जो चीज़ आदि और अन्त में न हो वह बीच में भी नहीं होती।" यह किस लोक की स्वयंसिद्धि है यह हमको ज्ञात नहीं। वस्तुतः जिस लोक में हम रहते हैं उस लोक में इसको कोई नहीं मानता। सम्भव है कि शंकर स्वामी के लोक में ऐसा ही प्रचलित होगा। जिस चारपाई पर मैं बैठा हूँ वह बनने से पूर्व न थी और कुछ दिनों पीछे भी न रहेगी। तो क्या यह समझा जाय कि इस समय भी नहीं है? जो वृक्ष उगने

से पूर्व नहीं था और उखड़ने के पीछे न रहेगा वह क्या इस समय में भी नहीं है ? जिस घर में मैं बैठा हूँ वह बनने से पूर्व नहीं था और बिगड़ने के पीछे न रहेगा तो क्या यह समझा जाय कि इस समय भी नहीं है ? जो खेत उगने से पूर्व न था और कटने के पीछे न रहेगा वह क्या इस समय भी नहीं है ? गौड़पाद महाशय का शरीर जन्म से पहले न था और मृत्यु के पश्चात् भी नहीं रहा तो क्या यह समझा जाय कि वह थे ही नहीं। उनकी कारिका बनने से पहले न थी और इसका अन्त भी कभी न कभी होगा ही। फिर क्या यह समझा जाय कि इस समय भी नहीं है ? शंकरस्वामी लिखते हैं कि यह बात "लोक में निश्चित" है। भला लोक में कौन ऐसा पुरुष या स्त्री है जो इसकी सत्यता को मानता हो ? यदि लोग ऐसा मानने लगें तो आज ही ससार के समस्त कार्य बन्द हो जाँय। जो भूखा आदमी रोटी देखकर प्रसन्न हो रहा है उससे कहो कि रोटी आदि और अन्त में नहीं इसलिये मध्य में भी नहीं। फिर देखिये वह क्या कहता है ? वह यही कहेगा कि तुम पागल हो। मैं साक्षात् देख रहा हूँ कि इस रोटी से मेरी भूख निवृत होती है। संसार की जितनी क्रियायें हो रही हैं वह सब आदि और अन्त में नहीं होतीं। परन्तु मध्य में होती हैं। क्रिया का अर्थ ही यह है कि पहले और पीछे न रहे। गौड़पादाचार्य की कारिका का अर्थ यह है कि संसार की समस्त क्रियायें असत हैं। शायद कोई कहे कि क्रियायें लोक की बात हैं। गौड़पाद जी परमार्थ की बात कह रहे हैं। परन्तु यह केवल छलावा है। शंकर स्वामी तो इसको (लोके निश्चितं) लोक की बात बताते हैं। जो सर्वथा विपरीत है। लोक का कोई भी शंकर स्वामी से इसमें सहमत न होगा।

यदि यह कहो कि शंकर स्वामी के 'लोके निश्चितं' को

जाने दो। गौड़पादजी की दार्शनिक बात है जिसका लोक से कुछ सम्बन्ध नहीं। तो भी हम पूछते हैं कि उन्होंने दृष्टान्त के अभाव में यह दार्शनिक सिद्धान्त निश्चय ही कैसे किया? उनके पास इसका क्या प्रमाण है कि जो वस्तु आदि और अन्त में न हो वह मध्य में भी नहीं होती? सिवाय इसके कि यह मान लिया जाय कि यह उनकी काल्पनिक स्वयंसिद्धि है। इस प्रकार की स्वयंसिद्धि प्रत्येक पुरुष गढ़ सकता है। परन्तु उसको अन्य क्यों मानने लगे?

शायद कोई कहे कि शंकर स्वामी ने मृगतृष्णिका का दृष्टान्त भी तो दिया है। आनन्द गिरि लिखते हैं।

यत् आदिमत् अन्तवत् च तत् मिथ्या यथा मृगतृष्णिका आदि इति अर्थ।

कि जिसका आदि और अन्त है वह मिथ्या होती है जैसे मृगतृष्णिका (रेत का जल प्रतीत होना)।

परन्तु क्या यह दृष्टान्त है? मृगतृष्णिका मिथ्या अवश्य है परन्तु आदिमत् और अन्तवत् होने के कारण नहीं। और न लोग आदिमत् और अन्तवत् वस्तुओं को मिथ्या समझते हैं। यदि संसार की सभी आदिमत् और अन्तवत् वस्तुयें मिथ्या समझी जातीं तो उनमें से एक अर्थात् मृगतृष्णिका दृष्टान्त के रूप में पेश किया जा सकता था परन्तु जब संसार की सैकड़ों वस्तुयें जैसे मेज, कुर्सी, रोटी, दाल, आदि, आदिमत् और अन्तवत् होते हुये भी मिथ्या नहीं समझी जातीं तो एक दो आदिमत् और अन्तवत् मिथ्या वस्तुयें जैसे मृगतृष्णिकादि इस हेतु का कदापि उदाहरण नहीं हो सकतीं। मृगतृष्णिका किस अंश में मिथ्या है और किस अंश में सत्य इसकी विवेचना

हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं। यहां पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः गौड़पादाचार्य का एक कल्पित स्वयंसिद्धि के ऊपर मायावाद का भवन बनाना और शंकर स्वामी तथा आनन्दगिरि आदि का मृगतृष्णिका आदि उदाहरणों से उसकी लीप पोत करना एक दार्शनिक अन्याय है।

एक और कारिका लीजिये :—

अन्तस्थानान्तु भेदानाँ तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते।

(प्रकरण २, श्लोक ४)

इस पर शंकर स्वामी भाष्य करते हैं :—

जाग्रद् दृश्यानां भावानाँ वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टाँतः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः इत्यादि इत्यादि।

यहाँ जाग्रत अवस्था में देखी हुई चीज़ों का वैतथ्य सिद्ध करने के लिये 'दृश्यत्व' या दिखाई पड़ना हेतु दिया गया। परन्तु 'दृश्यत्व' का वैतथ्य सिद्ध करने के लिये किसी हेतु की आवश्यकता नहीं समझी गई। मानो यह एक स्वयंसिद्धि बात है। परन्तु क्या लोक में कोई भी इसको स्वयंसिद्धि मानता है? इसके विपरीत तो सभी मानते हैं। 'दृष्यत्व' किसी वस्तु के अस्तित्व का तो हेतु हो सकता है परन्तु वैतथ्य का नहीं। 'दृश्यत्व' को 'वैतथ्य' का हेतु मानना एक ऐसा अन्याय है जिसका कुछ वारापार नहीं। सोचिये तो सही। हम यहां

कुछ समानान्तर उदाहरण देते हैं जिनसे इस अध्याय को पाठक-गण भली प्रकार समझ सकेंगे।

(१) अलमारी में पुस्तकें नहीं हैं ... प्रतिज्ञा
क्योंकि मैंने पुस्तकों को उसमें अपनी
आँख से देखा है ... ... हेतु
जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज़ नहीं होती ... उदाहरण
इत्यादि।

(२) लन्दन नगर नहीं है ... ... प्रतिज्ञा
क्योंकि अनेकों ने उसे देखा है ... हेतु
जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज़ नहीं होती ... उदाहरण

(३) तुम्हारे मुंह पर नाक नहीं है ... प्रतिज्ञा
क्योंकि मुझे दिखाई पड़ती है ... हेतु
जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज़ नहीं होती ... उदाहरण

(४) शंकर स्वामी ने कोई भाष्य नहीं लिखा ... प्रतिज्ञा
क्योंकि बहुत से पण्डितों ने उसे देखा है ... हेतु
जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज़ नहीं होती ... उदाहरण

(५) सूर्य कभी नहीं निकलता ... ... प्रतिज्ञा
क्योंकि सभी उसको रोज़ देखते हैं ... हेतु
जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज़ नहीं होती ... उदाहरण:

अब इसकी अर्थापत्ति पर भी विचार कीजिये :—

(१) बन्ध्या का पुत्र होता है ... प्रतिज्ञा
क्योंकि किसी ने नहीं देखा ... हेतु
स्वप्न की भाँति इसमें दृश्यत्व नहीं है ... उदाहरण

(२) आकाश के फूल होते हैं ... प्रतिज्ञा
क्योंकि किसी ने नहीं देखे ... हेतु
स्वप्न की भांति इसमें दृश्यत्व नहीं है ... उदाहरण

(३) गधे के सिर पर सींग होते हैं ... प्रतिज्ञा
क्योंकि दिखाई नहीं पड़ते ... हेतु
स्वप्न की भाँति इसमें दृश्यत्व नहीं है ... उदाहरण

(४) घर में चोर है ... प्रतिज्ञा
क्योंकि किसी ने उसे नहीं देखा ... हेतु
स्वप्न की भाँति इसमें दृश्यत्व नहीं है ... उदाहरण
इत्यादि ।

अब शंकर स्वामी महाराज के शारीरिक सूत्रों के भाष्य पर भी दृष्टिपात करना चाहिये । सब से पहला वाक्य जो वेदान्त-भाष्य में मिलता है यह है :—

युष्मत् अस्मत् प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभावयोः इतर इतर भाव अनुपपत्तौ सिद्धायां तद् धर्मणाम् अपि सुतरां इतर इतर भाव अनुपपत्तिः ।

अर्थात् "तुम" कहते हैं विषय को अर्थात् जिस वस्तु को जानना हो ।

"मैं" कहते हैं विषयी अर्थात् जानने वाले को ।

इन दोनों में उतना ही भेद है जितना अन्धकार और प्रकाश में है ।

इन दोनों के स्वभाव नहीं मिलते ।
यह सिद्ध है कि एक के भाव दूसरे में नहीं मिलते ।
इस लिये उनके धर्म भी एक दूसरे में नहीं मिल सकते ॥

इसको कुछ और स्पष्ट करने की जरूरत है । शङ्कर स्वामी को अध्यासवाद का भवन बनाना था । उन्होंने संस्थानत्रय अर्थात्

वेदान्त, उपनिषदों, तथा गीता का भाष्य ही इसी अभिप्राय से लिखा था अतः उसकी नींवशिला के रूप में यह वाक्य कहा गया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि 'मैं' और 'तुम' में प्रकाश और अन्धकार का अंतर है। अर्थात् ज्ञाता या जानने वाले के धर्म 'ज्ञात' या जानी हुई वस्तु के धर्म से इतने भिन्न २ हैं कि उनका किसी प्रकार एक दूसरे से संबंध नहीं हो सकता। जब यह सिद्ध हो गया तो केवल एक ही नतीजा निकल सकता है, अर्थात् 'जानने वाला' ही एक सत्य है। और 'जानी हुई वस्तु' केवल 'अध्यास' मात्र है। जिस प्रकार सांप नहीं होता परन्तु सांप का रस्सी में अध्यास कर लेते हैं उसी प्रकार 'तुम' कोई वस्तु नहीं, केवल 'मैं' में उसका अध्यास किया जाता है। 'अध्यास' कहते हैं "अतस्मिंस्तद् बुद्धि" को अर्थात् एक वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म का अध्यारोप कर लिया जाय।

जिस प्रकार शंकर स्वामी के गुरु के गुरु श्रीगौड़पादजी ने कुछ स्वयंसिद्धियां कल्पित कर लीं उसी प्रकार श्री शंकराचार्यजी ने भी एक स्वयंसिद्धि की कल्पना क ली। इसको सिद्ध करने की उन्होंने कोई आवश्यकता ही न समझी। 'मैं' और 'तुम' में प्रकाश और अन्धकार का अन्तर है या नहीं इसको बिना सिद्ध किये मान लेना 'स्वयंसिद्धि' के अर्थ से विपरीत जाता है क्योंकि इसको लोक में कोई नहीं मानता। जब मैं कुर्सी को देखता हूँ तो समझता हूँ कि ज्ञात वस्तु कुर्सी और ज्ञाता 'मैं' में एक प्रकार का सम्बन्ध है। मैं कदापि यह नहीं समझता हूँ कि कुर्सी के धर्मों का मैंने अपने ऊपर अध्यारोप कर लिया है। यदि मैं देखता हूँ कि कोई शत्रु आक्रमण कर रहा है तो मैं शत्रु का अपने ऊपर अध्यास नहीं करता। वस्तुतः मैं अपने को शत्रु नहीं मान रहा हूँ परन्तु शत्रु को ही शत्रु समझ रहा हूँ। यहां यह अतस्मिंस्तत् बुद्धि है ही नहीं, यह ठीक है कि "मैं" और 'तुम'

के धर्म अलग अलग हैं। 'मैं' तुम नहीं और 'तुम' "मैं" नहीं, परन्तु प्रकाश और अन्धकार जिस प्रकार एक दूसरे के विरोधी हैं उसी प्रकार 'मैं' और 'तुम' या विषयी और विषय नहीं। प्रकाश आते ही अन्धकार दूर हो जाता है। वस्तुतः प्रकाश के अभाव का नाम ही अन्धकार है। परन्तु न तो विषयी के आते ही विषय भाग जाता है और न विषयी के अभाव का नाम ही विषय है। श्री शंकराचार्यजी दृष्टांत देने में अद्वितीय हैं। वह विषम दृष्टान्तों को ऐसी योग्यता के साथ प्रदर्शित करते हैं कि उनकी विषमता सुगमता से प्रतीत नहीं होती, उन्होंने प्रकाश और अन्धकार का दृष्टान्त ऐसा चुभता हुआ दिया है कि यदि मीमांसक उसकी विषमता को पकड़ने से चूक जाय तो वह उस बुनियाद पर बनाये हुये भवन को फिर छू ही नहीं सकता। क्योंकि यदि जिस प्रकार प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है उसी प्रकार 'मैं' के अभाव का नाम 'तुम' हो या 'विषयी' के अभाव का नाम 'विषय' हो तो समस्त जगत को 'आत्मा' का अभाव और इसलिये वैतथ्य या मिथ्या सिद्ध करने में कौन सी आपत्ति हो सकेगी ? परन्तु थोड़ा सा विचार करने से ही पता चल जाता है कि विषय और विषयी में वह सम्बन्ध कदापि नहीं जो अन्धकार और प्रकाश में है। विषय और विषयी का परस्पर संग हो सकता है। तुम और मैं मिल सकते हैं परन्तु प्रकाश और अन्धकार कभी नहीं मिल सकते। हम पहले किसी स्थान पर बता चुके हैं कि इस सम्बन्ध में जो उदाहरण शंकर स्वामी ने दिये हैं उनका वास्तविक अर्थ वह नहीं जो उन्होंने लिया है। जैसे जब मनुष्य कहता है कि "स्थूलोऽहम्" 'मैं मोटा हूँ' तो शंकर स्वामी का कहना कि शरीर के धर्मों का आत्मा अपने में अध्यास कर लेता है ठीक नहीं, 'स्थूलोऽहम्' का अर्थ है 'स्थूल शरीरयुक्तोऽहम्' अर्थात् 'मैं स्थूल शरीर

वाला हूँ' गँवार से गँवार पुरुष भी जब कहता है कि मैं मोटा हूँ तो उसका यह समझना मिथ्या ज्ञान कदापि नहीं। मिथ्या ज्ञान उस समय होता जब वह दुबला होते हुये भी अपने को मोटा समझने लगता। इसी प्रकार जब वह कहता है कि 'अन्धोऽहम्' अर्थात 'मैं अन्धा हूं' तो इससे उसका तात्पर्य यही होता है कि मैं नेत्रहीन हूं, यहां नेत्रों का अपने में अध्यास कदापि नहीं हुआ। और शंकर स्वामी का यह लिखना कि :—

अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्यं 'अहमिदं' 'ममेदमिति' नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः ॥ (शांकर भाष्य-भूमिका)

अर्थात् "मिथ्या ज्ञान के वश सच और झूठ को एक कर देने से 'मैं यह हूं' या 'यह मेरा है' आदि स्वाभाविक लोक व्यवहार होता है" सर्वथा बेठीक है। शंकर स्वामी को यह सिद्ध करना था कि जगत् और जगत् के व्यवहार सब मिथ्या हैं। इसके लिये क्या युक्ति दी ? कुछ नहीं। केवल एक ऐसे व्यवहार का उल्लेख कर दिया जिसको लोक में कोई मिथ्या नहीं मानता। जब हम कहते हैं कि "यह पुस्तक मेरी है" तो इस वाक्य में कौन सी बात मिथ्या हो जाती है ? क्या "मैं" मिथ्या हूँ ? इसको तो शंकर स्वामी भी स्वीकार न करेंगे क्यों कि विषयी को तो वह भी प्रकाशवत् सत्य ही मानते हैं ? फिर क्या "पुस्तक मिथ्या" है ? जब तक इसका मिथ्यात्व सिद्ध न हो जाय कैसे मान लें ? इसका मिथ्यात्व बन्ध्या के पुत्र के समान सर्वतन्त्र तो है नहीं। जब सर्वतन्त्र नहीं तो स्वयं सिद्ध कैसा ? लोक में सभी मानते हैं कि "बन्ध्या का पुत्र" मिथ्या है। यहां 'बन्ध्या' मिथ्या नहीं। 'पुत्र' भी मिथ्या नहीं। केवल

बन्ध्यात्व' और "पुत्रवतीत्व" का सम्बन्ध मिथ्या है क्योंकि 'बन्ध्यात्व' और 'पुत्रवतीत्व' दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक ही वस्तु में पाये नहीं जा सकते। परन्तु "बन्ध्या का भाई" यह मिथ्या नहीं। क्योंकि 'बन्ध्यात्व' और 'भ्रातृवतीत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं हैं। शंकर स्वामी दोनों सम्बन्धों को एक ही कोटि में रख देते हैं। उनके विचार में जिस प्रकार "बन्ध्या का पुत्र" असत्य है उसी प्रकार "बन्ध्या का भाई", "बन्ध्या की मा", "बन्ध्या का बाप" भी असत्य हैं और इसी प्रकार संसार के सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं। यह सम्भव है कि 'मेरी यह पुस्तक है' यह बात असत्य हो अर्थात् यह पुस्तक मेरी नहीं किसी अन्य की हो। परन्तु यदि 'मेरी यह पुस्तक है' यह मिथ्या है तो 'किसी और की यह "पुस्तक है' यह ठीक होगा। और यह कहना ठीक न होगा कि 'का' 'के' 'की' द्वारा प्रकाशित सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं। जब मैं कहता हूँ कि 'मम इदम्' अर्थात यह पुस्तक मेरी है तो मेरा यह व्यापार "नैसर्गिक" तो अवश्य है परन्तु "सत्यानृते मिथुनी कृत्य" अर्थात् सच और झूठ को मिलाकर नहीं है। श्री शंकराचार्यजी महाराज की पहली बात ही दूसरी का खण्डन करती है। अर्थात् नैसर्गिक बातों का मिथ्या होना। यदि नैसर्गिक बातें मिथ्या होने लगीं तो सत्य कौन सी बातें होंगी। मैं कहता हूँ कि "मम इयं नासिका" "यह मेरी नाक है"। श्रीशंकराचार्य्यजी के मत के अनुसार तो सभी सम्बन्ध सत्य और अनृत को मिलाकर (मिथुनी कृत्य) होते हैं। परन्तु मुझमें केवल सचाई ही सचाई ज्ञात होती है। हाँ यदि मैं अपनी नाक को अपनी न कह कर किसी दूसरे की नाक को अपनी कह दूँ तो अवश्यमेव सच और झूठ का मिक्सचर बन जायगा और वह नैसर्गिक भी न होगा। परन्तु प्रत्येक सम्बन्ध को

सत्य' और 'अनृत' का मिक्सचर बताना कभी भी युक्तियुक्त नहीं ठहराया जा सकता।

बड़ा प्रश्न यह है कि यदि दो बातें नैसर्गिक हों तो किसको सत्य कहें और किसको अनृत। क्या इनकी कोई कसौटी भी है। खोटे सोने के परखने की विधि यह है कि उसको खरे सोने से मिलाते हैं। यदि वह खरे सोने के समान है तो खरा है यदि भिन्न है तो खोटा। खोटा सोना नैसर्गिक नहीं है। यह सोने में अन्य वस्तुओं के मिलाने से बनता है। जो नैसर्गिक हैं वह स्वयं सिद्ध है। नैसर्गिक ही सत्य की कसौटी है। जो व्यापार नैसर्गिक हैं वह सत्य हैं। जो उनसे भिन्न हैं वह सत्य भी नहीं। आँख से देखना नैसर्गिक, कान से सुनना नैसर्गिक, नाक से सूंघना नैसर्गिक। इसलिये आँख से देखी हुई, कान से सुनी हुई या नाक से सूँघी हुई वस्तु निस्सन्देह सत्य ही मानी जानी चाहिये जब तक उसके असत्य मानने में कोई अन्य प्रबल हेतु न हो।

परन्तु बड़ी विलक्षण बात यह है कि अद्वैतवादियों के जितने दृष्टान्त हैं वे सब लाखों उदाहरणों के अपवाद मात्र एक दो उदाहरणों पर आधारित कर लिये गये हैं। जैसे आंख कभी रेत को जल करके देखती है या रस्सी को साँप करके देखती है या सीप को चांदी करके देखती है इस लिये आंख से जितनी वस्तुयें देखी जाती हैं उनको भी अन्यथा ही समझा जाता है। यह क्यों? आंख ने जल को जल और रेत को रेत तो लाखों बार देखा। रेत को जल शायद कभी कभी ही। परन्तु उसके एक बार रेत को जल समझ लेने से ही उसके समस्त नैसर्गिक सत्यता के साथ किये हुये व्यापारों पर पानी फेर दिया गया। यह क्यों ? न्याय तो यह था कि इस एक व्यापार को अपवाद मात्र समझ

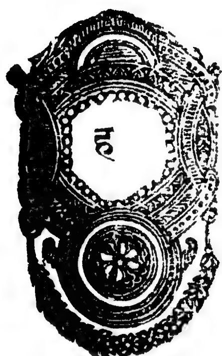
कर उस अपवाद के 'अपवादत्व' का कारण मालूम करने का यत्न किया जाता जैसे हमने दूसरे अध्याय में किया। परन्तु ऐसा न करके उस अपवाद को साधारण व्यापार समझ लेना नितांत अन्याय है। इसी प्रकार आंख लाखों बार तो रस्सी को रस्सी ही या साँप को साँप ही देखती है। कभी २ अंधेरे में एक रस्सी को साँप समझ बैठी तो उसकी इस भूल को अपवाद न समझ कर साधारण नैसर्गिक व्यापार समझना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। साधारणतया यह सत्य है कि मनुष्य के दो आंखें होती हैं। लाखों करोड़ों मनुष्यों के दो ही आंखें हैं। हां कहीं २ अपवाद मात्र (as exceptions) काने और अंधे भी मिलते हैं। तो क्या एक दो काने या एक दो अन्धे मिल जाने के कारण यह कहा जा सकेगा कि नहीं "मनुष्य को दो आंखें रखना" यह असत्य बात है ?

इसी प्रकार अन्य कई स्वयंसिद्धियां हैं। जो वस्तुत: स्वयंसिद्धियां नहीं हैं। किंतु उनको कल्पना कर ली गई है। यदि कल्पना करने से पहले इनकी मीमाँसा कर ली जाय तो बहुत कुछ भ्रम दूर हो सकता है।

छठा अध्याय

ईश्वरैक्यवाद

——:०:——



म पूर्व लिख चुके हैं कि अद्वैतवाद का अर्थ है एकवाद। एकवाद के कई अर्थ हो सकते हैं और उन अर्थों की अपेक्षा से उसके प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। इनकी तीन मोटी कोटियाँ हो सकती हैं—

(१) **ईश्वरैक्यवाद**——ईश्वरैक्य वादी कहते हैं किईश्वर एक ही है। दो या अधिक ईश्वर नहीं हो सकते। पहले भी एक ही ईश्वर था, अब भी एक ही ईश्वर है और फिर भी एक ही ईश्वर रहेगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि केवल एक ईश्वर ही है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। उनका कहना यह है कि जिस प्रकार एक ईश्वर नित्य है अर्थात् सदा से है और सदा रहेगी उसी प्रकार उसके साथ साथ अनन्त सत्तायें और भी हैं; जो उसी के समान नित्य हैं, सदा से हैं, सदा रहेंगी। उन सत्ताओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है यह और बात है।

(२) **कारणैक्यवाद**-दूसरा मत है कारणैक्यवाद। इस मत के लोगोंका कहना है कि समस्त सृष्टि का कारण एक है। सृष्टि के पूर्व वही एक था। उसके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ था ही नहीं।

उसी एक कारण से समस्त जगत उत्पन्न हो गया केवल एक ही पदार्थ नित्य है। अन्य सब पदार्थ अनित्य हैं। अर्थात् वह इस समय तो हैं परंतु पहले नहीं थे और प्रलय के उपरान्त भी नहीं रहेंगे, केवल वही पदार्थ सदा रहता है। वही सब का कारण है। अन्य सब वस्तुयें उसके कार्य रूप हैं।

(३) **वस्त्वैक्यवाद**—तीसरा मत यह है कि एकसे अधिक वस्तु न कभी थी, न है, न होगी। जो संसार इस समय दिखाई पड़ता है वह सब मिथ्या है, **अवस्तु** है, वस्तु नहीं। वस्तु केवल एक ही सत्ता है जिसको 'ब्रह्म' कहते हैं।

इन तीन के भी अनेक भेद हो सकते हैं।

इस पुस्तक के लेखक का सम्बन्ध पहले मत से है इस अध्याय में उसी का वर्णन सिद्धान्त रूप से किया जाता है।

इस सिद्धान्त के मानने वालों का ऐसा मत है कि संसार की सभी वस्तुयें मिथ्या नहीं है। जो कुछ हम देखते, सुनते, छूते या सूँघते या चखते हैं वह सब धोखा नहीं है। कभी कभी धोखा भी हो जाता है। परन्तु यह कहना कि हम सब एक ऐन्द्रजालिक टापू (Enchanted island) में डाल दिये गये हैं जहां प्रत्येक वस्तु अपने रूप में नहीं किंतु कुछ और ही रूप में दिखाई पड़ती है, सर्वथा अयथार्थ है। यह नहीं कि हम न हों और मालुम पड़ते हों। यह नहीं कि हमारे शरीर न हों और मालूम पड़ते हों। यह नहीं कि हमारे शरीर में इंद्रियां नहीं और मालूम पड़ती हों। यह नहीं कि जिन पदार्थों को हम अपनी इन्द्रियों द्वारा साक्षात् करते हैं वह न हों और केवल मालूम पड़ते हों। यह नहीं कि जिन पदार्थों को हम यथार्थ प्रमाणों द्वारा तर्क से सिद्ध करके मानते हैं वह न हों और मालूम पड़ते हों। रोग या भ्रांति

की अवस्था में कभी कभी कुछ का कुछ भी दिखाई पड़ता है। जैसे अत्यन्त मूर्छा आने पर हमको अपना होना भी अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति में हम यह भी भूल जाते हैं कि हमारे शरीर है। रोगी शरीर होने पर कुछ का कुछ देख या कुछ का कुछ चख सकते हैं अर्थात् मिथ्या रूप या मिथ्यारस का ज्ञान हो जाता है। इन्द्रिय या बुद्धि के सुशिक्षित न होने की अवस्था में भ्रान्ति या ग़लत नतीजे भी निकाल लेते हैं। परन्तु यह कहना कि हम निरन्तर मूर्छा या सुषुप्ति में हैं या निरन्तर ही रोगी रहते हैं। या निरन्तर ही हमारी बुद्धि हमको ग़लत रास्ते पर ले जाती है किसी प्रकार भी ठीक नहीं समझा जा सकता। ग़लत नतीजे पर पहुँचना ही सिद्ध करता है कि सही नतीजा भी कोई चीज़ है। भ्रान्ति ही प्रकट करती है कि शुद्ध ज्ञान भी होता है। रोग ही बताता है कि स्वास्थ्य भी कोई वस्तु है। सुषुप्ति की पहचान ही जागृत द्वारा होती है। बेहोशी की पहचान ही होश से होती है। मिथ्या या अनृत भी सत्य के द्वारा ही जाना जाता है। यदि सत्य न होता तो झूठ भी न होती, यदि जागृत अवस्था न होती तो सुषुप्ति भी न होती, यदि होश न होता तो बेहोशी भी न होती। यदि स्वास्थ्य न होता तो रोग भी न होता। यदि सम्यक् ज्ञान न होता तो भ्रान्ति भी न होती। क्योंकि जागृत का अभाव ही सुषुप्ति है। होश का अभाव ही बेहोशी है। स्वास्थ्य का अभाव ही रोग है। सम्यक् ज्ञान का अभाव ही भ्रान्ति है। सत्य का अभाव ही अनृत है। हेतु का अभाव ही हेत्वाभास है। इसीलिये हेत्वाभास से बचने के लिये नियम हैं। झूठ से बचने के लिये नियम हैं। रोग से बचने के लिये नियम हैं और बेहोशी से बचने के लिये भी नियम हैं। यदि इन नियमों का यथोचित पालन किया जाय तो कभी बेहोशी न हो या रोग न हो या भ्रान्ति न हो या मिथ्या

ज्ञान न हो। वैशेषिक दर्शन में लिखा है कि-

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या।

(वै० ९। २। १०)

अर्थात् इन्द्रिय दोष या शिक्षा के दोष से विपरीत ज्ञान होता है। इसी प्रकार भोजन के दोष या भोजन करने की विधि के दोष से रोग होता है। इन्द्रियों से विपरीत देखे हुये, या सही देखे हुये द्वारा नियम विरुद्ध तर्क करने से ग़लत नतीजा निकाल लेते हैं। अशुद्ध घी खाने से रोग होगा या शुद्ध घी के नियम-विरुद्ध खाने से भी रोग होगा। इसी प्रकार आँख से कुछ का कुछ देखने से मिथ्या ज्ञान होगा। और अगर आंख से ठीक ठीक भी देखा हो परन्तु तर्क करने की योग्यता न हो तो भी कुछ का कुछ परिणाम निकलेगा। यही कारण है कि दृष्टान्त वही होते हैं परन्तु भिन्न भिन्न लोग उनसे भिन्न भिन्न नतीजे निकालते हैं।

यदि मायावादियों के कथनानुसार सब संसार मिथ्या ही मिथ्या होता तो **व्यवहार दशा में भी हम किसी को सत्य न कह सकते**—मृगतृष्णिका की प्रतीति ही बताती है कि सचमुच का जल भी होता। जब हम दूर से सहस्रों बार जलाशय को देखकर उसके समीप जा कर जल की प्राप्ति कर लेते हैं तो कभी कभी रेत को देख कर भी जल का धोखा हो जाता है। मिथ्या ज्ञान की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ भी सत्य की अपेक्षा से हैं। अर्थात सत्य का परिणाम किसी में कितना ही है और किसी में कितना ही। उसी अपेक्षा से हम कहते हैं कि अमुक चीज अमुक चीज की अपेक्षा अधिक मिथ्या है।

लोक में हम देखते हैं कि सच को प्राप्त करने और झूठ से बचने के लिये निरन्तर यत्न हुआ करता है। भिन्न २ श्रेणियों

की शिक्षा ही यह बताती है कि कौन कितना झूठ से बच सकता है, एक पशु को झूठ और सत्य के निराकरण की उतनी योग्यता नहीं जितनी एक जंगली मनुष्य को हैं। जगली मनुष्य को उतनी नहीं जितनी अर्द्ध-शिक्षित को है, अर्द्ध-शिक्षित का उतनी नहीं जितनी सुशिक्षित को है। सुशिक्षित को इतनी नहीं जितनी विशेषज्ञ को है। भैंस या गाय का बच्चा मर जाता है तो ग्वाले मरे हुये बच्चे की खाल में भुस भरवा कर माता को बच्चे का धोखा देते हैं। किसी जंगली से जंगली मनुष्य की माता भी इस धोखे में न आवेगी। बच्चों को निर्धन मातायें दूध के स्थान में चांवल का पानी गर्म करके पिला देती हैं या घी के स्थान में पानी दाल में डाल देती हैं। परन्तु वही बच्चे बड़े होने पर इस धोखे में नहीं आते। चाँद खिलौने का चाहने वाला बच्चा थाली में पड़ती हुई परछाईं से सन्तुष्ट हो सकता है परंतु बड़ा आदमी कभी इस प्रकार से सन्तुष्ट न होगा। बाजीगर श्रोता या दर्शकों के ध्यान को बाजे गाजे या गपशप में लगाकर कहीं से किसी चीज़ को निकाल कर दिखा देता है और लोग चकित रह जाते हैं परन्तु इस पेशे के विशेषज्ञ या सावधान लोग उसकी चालाकी को पकड़ ही लेते हैं। सायंस की प्रयोगशालाओं में निरन्तर उन नियमों की खोज होती रहती है जिनके द्वारा वस्तुओं की ठीक ठीक तोल या ठीक ठीक जांच हो सके। इससे सिद्ध होता है कि मायावादियों का सब चीज़ों के ऊपर एक झाड़ू फेर देना और कहना कि व्यवहार दशा की सभी वस्तुयें मिथ्या हैं बड़ा अन्याय है। यदि यही बात हो तो मायावाद और मिथ्यावाद में कोई भेद न रहे।

जब यह सिद्ध हो गया कि संसार मिथ्या नहीं है। तो यह देखना चाहिये कि संसार में हमको दो प्रकार की वस्तुयें मिलती हैं। एक कार्य और दूसरा उसका कारण। जितनी चीज़ें हम

संसार में देखते हैं वह बनती और बिगड़ती हैं। जो बनने से पहले न हो और बिगड़ने के पीछे न रहे उसे कार्य कहते हैं। कार्य के लिये कारण होते हैं। रोटी कार्य है, घड़ा कार्य है, मेज़ कार्य्य है, पुस्तक कार्य्य है। इस कार्य्य का कारण अवश्य चाहिए।

प्रत्येक कार्य्य के कई कारण होते हैं। रोटी का एक कारण आटा तथा जल है। यदि आटा और जल न होता तो रोटी न बन सकती। इसलिये आटा और जल को रोटी का उपादान कारण कहते हैं। परन्तु आटा और जल के होते हुये भी जब तक आटे को गूँधने वाला और पकाने वाला न हो उस समय तक रोटी नहीं बन सकती। इसलिये रोटी पकाने वाले को रोटी का निमित्त कारण कहते हैं। परन्तु उपादान और निमित्त कारणों के अतिरिक्त कई और कारणों की भी आवश्यकता होती है जैसे देश या स्थान जहाँ वह क्रिया की जाय, समय जिसमें वह क्रिया हो, करण या साधन जिसके द्वारा वह क्रिया हो जैसे रोटी के के लिये चकला। प्रयोजन जिसके लिये वह क्रिया हो; इन सब कारणों को हम साधारण कारण कह सकते हैं।

जितनी क्रियायें संसार में देखी जाती हैं उनमें दो बातें शामिल होती हैं—एक संयोग या सश्लेषण और दूसरी वियोग या विश्लेषण। जैसे आटे से रोटी बनानी है। पहले पानी और आटे को मिलाया, यह संयोग हुआ। फिर गुंधे हुये आटे में से एक लोई तोड़ी। यह वियोग हुआ।

संयोग और वियोग दोनों से पता चलता है कि केवल एक ही वस्तु नहीं किन्तु कई वस्तुयें हैं। इससे ऐक्य नहीं किन्तु अनैक्य की सिद्धि होती है। यदि आटे के अनेक कण न होते तो पानी डालकर मिलाने की क्या आवश्यकता होती। यदि

आटा एक ही वस्तु होता तो अनेक लोइयां उसकी न बन सकतीं। इसलिये जब तक कई वस्तुयें न हों उस समय तक संयोग और वियोग रूपी दोनों क्रियायें नहीं हो सकतीं। इससे एक बात यह सिद्ध होती है कि उपादान एक नहीं होता, किन्तु **उपादान कई होते हैं।** किसी कार्य्य को लेलो। घड़ा मिट्टी के असंख्यों कणों और जल के अनेक कणों से बना है। यदि मिट्टी ही मिट्टी एक वस्तु होती या जल ही जल एक वस्तु होता तो उससे घड़ा न बन सकता। यह दूसरी बात है कि वह सब उपादान एक जाति के हों या भिन्न २ जातियों के। जैसे कागज़ एक प्रकार का उपादान है। उसी में से काट कर हम वृत्ताकर या त्रिभुजाकार शकलें बना सकते हैं। परन्तु कागज़ काटा तभी जा सकता है जब यह मालूम हो कि कागज़ अनेक कणों के संयोग से बना है। उन कणों के एक प्रकार से अलग कर देने से वृत्ताकार शकल बनेगी और दूसरे प्रकार से अलग करने से त्रिभुजाकार। परन्तु यदि कागज़ एक चीज़ होती जिसको विभक्त न कर सकते होते तो क्या उस कागज़ में से वृत्त या त्रिभुज बना सकते? कदापि नहीं। इसलिये उस वृत्ताकार या उस त्रिभुजाकार का साधारण बोली में तो एक उपादान है अर्थात् कागज़। परन्तु यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो कागज़ के कणों का एक समूह है। अर्थात् एक उपादान से कोई छोटी से छोटी चीज़ भी नहीं बन सकती। उसके लिये अनेक उपादान चाहिये। साधारण बोली में बर्फ़ का उपादान एक है अर्थात् पानी। परन्तु यदि पानी एक चीज़ का नाम होता तो पानी की बर्फ़ कभी बन ही नहीं सकती थी। क्योंकि पानी के कणों का विशेष रीति से फैल जाना ही बर्फ़ कहलाता है। फैलना और सिकुड़ना हो ही तब सकता है जब वह वस्तु कई चीज़ों से बनी हो।

दर्शन-शास्त्र के सम्मुख सदा से यह जटिल प्रश्न उपस्थित रहा है कि एकत्व से बहुत्व कैसे उत्पन्न हो गया ? वस्तुत: यह है भी बड़ा जटिल प्रश्न। क्योंकि एकत्व से बहुत्व कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इसके निराकरण के लिये विद्वानों ने अनेक साधन बताये हैं परन्तु उन सब में कुछ न कुछ दोष रह ही जाता है। इसका सब से अच्छा समाधान यह है कि वस्तुत: एकत्व कभी बहुत्व को उत्पन्न कर ही नहीं सकता। बहुत्व नित्य है इसी बहुत्व से बहुत्व उत्पन्न होता है।

उपादान कारण से कार्य्य उत्पन्न करने के विषय में तीन* वाद या मत प्रचलित हैं—एक आरम्भकवाद, दूसरा परिणाम-वाद और तीसरा विवर्त्तवाद। कई चीज़ों से मिलकर कई चीज़ बन जाने को **आरम्भक** कहते हैं जैसे ईंटों से घर बन जाना। एक चीज़ का बदल कर दूसरी चीज़ हो जाना, **परिणाम** कहलाता है, जैसे पानी से बर्फ़ जम जाना। और किसी चीज़ का विपरीत प्रतीत होना **विवर्त्त** कहलाता है जैसे रस्सी का साँप प्रतीत होना।

---

*देखो पञ्चदशी—ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्द प्रकरण—

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च।
आरंभकं च तत्रांत्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ॥ ६॥
आरंभवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे।
तंतोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तंतुपटौ खलु ॥७॥
अवस्थाँतरतापत्तिरेकस्य परिणामिता।
स्यात् क्षीरं दधि मृत् कुंभः सुवर्ण कुंडल यथा ॥८॥
अवस्थाँतरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ॥९॥

या रेत का जल प्रतीत होना। इनमें 'आरम्भक' और 'परिणाम' तो चीज़ों में अपनी अपेक्षा से होते हैं और 'विवर्त्त' केवल ज्ञाता की अपेक्षा से। कार्य और कारण शब्दों का तात्त्विक प्रयोग हम केवल आरम्भक और परिणाम की दशा में ही कर सकते हैं। विवर्त्त की दशा में नहीं। विवर्त्त वस्तुतः कार्य नहीं है। आटे की रोटी या पानी की बर्फ़ तो वस्तुतः रोटी या बर्फ़ ही है। परन्तु रेत उसी पुरुष के लिए जल है जो एक विशेष दूरी से विशेष अवस्था में उसको देख रहा है या रस्सी उसके लिये सांप है जो पहले साँप को देख कर डर के मारे रस्सी को भी सांप समझ लेता है। पानी की बर्फ़ बन गई। जो काम पानी से निकल सकता था वह बर्फ से नहीं निकलता। आटे की रोटी बन गई। जो काम आटे से निकल सकता था वह रोटी से नहीं निकलता। परन्तु रस्सी का सांप बना नहीं। उससे वही काम निकलता है जो रस्सी से निकला करता है और वह काम नहीं निकल सकता जो सांप से निकलना चाहिये। इसलिये विवर्त्त एक प्रकार का भ्रम है जिसका कारण और कार्य से कोई सम्बन्ध है ही नहीं। वेदान्त सार में परिणाम और विवर्त्त के यह लक्षण दिये हैं:—

यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥ †

(वेदान्तसार ७२)

अर्थात् विकार या परिणाम उसको कहते हैं कि एक वस्तु से सचमुच कोई दूसरी चीज़ बन जाय। परन्तु विवर्त्त, उसका

---

† कहीं कहीं ऐसा पाठ है:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

नाम है कि चीज़ तो वही रहे परन्तु मालूम पड़े और की और। हम कई स्थानों पर लिख चुके हैं कि संसार की समस्त क्रियायें या चीज़ें विवर्त्त नहीं हैं। विवर्त्त तो कभी कभी ही हुआ करता है और सब का नहीं। यदि समस्त संसार विवर्त्त होता तो परिणाम और आरम्भक शब्दों का कुछ भी अर्थ न होता। इसका पूरा विवरण हम यथास्थान करेंगे!

परन्तु जो लोग आरम्भक और परिणाम को जुदा जुदा समझते हैं वह भी ग़लती ही करते हैं। क्योंकि परिणाम और आरम्भक भी अन्त में एक ही हो जाते हैं। वस्तुतः एक विशेष प्रकार के आरम्भक का नाम ही परिणाम है। साधारणतया पानी से बर्फ़ बन जाने को परिणाम कहते हैं और ईंट, गारे आदि से मकान बन जाने को आरम्भक। इसके विषय में शायद लोगों का ऐसा विचार है कि पानी एक चीज़ था। उसी का रूपान्तर बर्फ़ हो गया। परन्तु ईंटें बहुत सी थी, उनको गारे से जोड़कर मकान बन गया। परन्तु यदि गहरी दृष्टि से देखा जाय तो दोनों बातें समान हैं। जिस प्रकार मकान के बनाने में बहुत सी ईंटों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार बर्फ़ को जमाने में पानी के असंख्यों-कणों की आवश्यकता होती है। मोटी दृष्टि वालों के लिये तो भेद है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि वालों को नियम का भेद प्रतीत नहीं होता। तुम एक को आरंभक और दूसरे को परिणाम क्यों कहते हो? यह माना कि जिन जल-कणों से बर्फ़ बनी है वह एक से ही हैं अर्थात् उनकी जाति और आकृति समान है परंतु एक नहीं, "समान" का वही अर्थ नहीं जो "एक" का है। रामदत्त और कृष्णदत्त समान हो सकते हैं। परन्तु एक नहीं। संसार में एक भी उदाहरण इस बात का नहीं मिलता कि एक ही वस्तु में किसी प्रकार का परिणाम हो सका हो। पिघले हुये घी के जम जाने का उदाहरण बहुधा दिया जाता है परन्तु यह भी

वैसा ही उदाहरण है जैसा-पानी से बर्फ़ बनने का। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जल एक अखंड एक रस वस्तु होती तो उससे कभी बर्फ़ बन ही नहीं सकती थी। जिस प्रकार ईंट और गारे से मकान बनता है उसी प्रकार जल के भिन्न २ कणों में ताप भेद करके विशेष अवकाश उत्पन्न करने से ही बर्फ़ बन जाती है फिर जिस प्रकार कहीं पत्थर और कहीं ईंट जोड़ देने से मकान बनता है उसी प्रकार आक्सीजन और हाईड्रोजन को विशेष परिमाण और विशेष रीति से मिलाने से जल बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे उसको परिणाम कहें चाहे आरम्भक, दोनों वादों के अनुसार एक कार्य के लिये कई उपादानों की आवश्यकता होती है।

यदि आरंभक का अर्थात् सीधा-साधा संयोग (Mechanical) लिया जाय, जैसे चूना, ईंट आदि और 'परिणाम' का अर्थ रासायनिक संयोग (Chemicat) लिया जाय जैसे बर्फ़ तो भी एकत्व और अनेकत्व के विषय में कोई भेद नहीं पड़ता। दोनों अवस्थाओं में अनेक उपादान चाहिये।

ईश्वरैक्यवादी **उपादानों के बहुत्व से इन्कार नहीं करते**। वह मानते हैं कि असंख्य परमाणु उपस्थित हैं। परन्तु उनका कहना है कि इन सब परमाणुओं में व्यापक और उनकी अधिष्ठात्री एक और सत्ता है जो इनका संश्लेषण और विश्लेषण किया करती हैं। परमाणु कारण अवस्था में नाना (अनेक) हैं। यदि एक ही अखण्ड और एक रस परमाणु होता तो उसका कुछ नहीं बन सकता था। परन्तु असंख्य परमाणुओं के होने से उनको असंख्य प्रकार से संयुक्त या वियुक्त किया जा सकता है।

इसीको कार्य कहते हैं ❀। जलेबी और गुलाबजामन दोनों मिठाइयों में वही तीन वस्तुयें हैं अर्थात् आटा, घी और चीनी। आटा एक वस्तु नहीं किन्तु एक प्रकार के अनेक कणों का नाम है, इसी प्रकार घी और चीनी भी। यदि आटा एक, अखण्ड, और एक रस वस्तु होती, और यदि घी चीनी भी इसी प्रकार एक, अखंड और एक रस होते तो उनको **एक ही परिमाण** में मिलाया जा सकता था और उससे या तो जलेबी बनती या गुलाबजामन, दोनों न बन सकते। परन्तु चूँकि यह बहुत से कणों का समुदाय रूप हैं अतः उनसे एक परिमाण में जलेबी, दूसरे में गुलाबजामन और तीसरी में अन्य मिठाइयाँ बन सकती हैं। एक सहस्र सिपाहियों की सेना को हम अनेक प्रकार के समुदायों में रख सकते हैं चाहे उनकी दो दो चार चार पंक्तियाँ बनावें चाहे उनको वर्गाकार रूप में खड़ा करें और चाहे उनको वृत्ताकार में। परन्तु यदि सेना एक अखण्ड और एक रस वस्तु होती तो उसका केवल एक ही रूप हो सकता था।

इससे सिद्ध होता है कि संसार के नाना पदार्थों के उपादान भी नाना हैं। एक नहीं। परन्तु उनके संयुक्त करने का प्रकार एक नहीं है। यह प्रकार परमाणुओं का गुण नहीं। जिस प्रकार जलेबी का आकार हलवाई का दिया हुआ है उसी प्रकार

❀ श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं :—

यावान् ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता।

(शाँकर वेदाँत भाष्य २।३।१७)

अर्थात् जो चीज विभक्त हो सकती है वह सब विकार है और उसको उत्पन्न हुई वस्तु समझनी चाहिये।

वस्तुओं के रूप एक ईश्वर के दिये हुये हैं। कल्पना कीजिये कि हमारे पास दस हज़ार ईंटें हैं। इन ईंटों से हम एक दरवाज़ा बनाना चाहते हैं। पहले सोचना चाहिये कि दरवाज़ा बनाने का अर्थ क्या है? यही न कि आकाश के एक विशेष भाग को ईंटों से ढकना चाहते हैं। आकाश में सभी आकृतियां उपस्थित हैं। वस्तुत: समस्त आकृतियों (शकलों) का उपादान आकाश है। उसमें चौकोर, महराबी, गोल, सभी प्रकार के दरवाज़े मौजूद हैं। जिस आकार का दरवाज़ा बनाना है उसी आकार का चित्र बढ़ई अपने मन में बनाता है। और उसी चित्र के अनुकूल वह दरवाज़ा बना देता है। इस दरवाज़े में ईंट और गारे के अतिरिक्त आकार और है। दो दरवाज़ों को लो, एक महराबी, दूसरा गोल। दोनों दरवाज़ों में क्या भेद है? क्या वह दोनों एक एक हैं? नहीं। उनके उपादान ईंट, गारा या लकड़ी तो एक हैं। परन्तु फिर भी वह दरवाज़े एक नहीं। क्योंकि उनके आकार में भेद है। यह आकर कहाँ से आया? क्या ईंट और गारे में वह आकार मौजूद था? नहीं। फिर वह आकर कहाँ था अव्यक्त दशा में वह आकार आकाश* में मौजूद था। उसके व्यक्त करने का सामर्थ्य थवई के मस्तिष्क में था उस थवई ने आकाश के उस आकार को जो अव्यक्त था और किसी को दिखाई नहीं पड़ता था ईंट और गारा रखकर पूरित कर दिया। महाराबी दरवाज़ा आकाश में पहले भी था। केवल दिखाई नहीं पड़ता था। और थवई के मनोचक्षु तो उस समय भी उसको

*** आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वहिता**

(छान्दोग्य अध्याय ८। प्रपाठक ८ खण्ड १४। १)

आकाश ही नाम और रूप का निर्वाहिक है।

देख रहे थे। परन्तु ईंट गारा रख देने से वह सब को भली प्रकार प्रतीत होने लगा।

अब प्रश्न यह है कि थवई का उस महराबी दरवाज़े के निर्माण में कितना भाग है? ईंट उसने नहीं बनाई। वह पहले से उपस्थित थी। गारा उसने नहीं बनाया, वह पहले से उपस्थित था। आकार उसने नहीं बनाया। वह भी आकाशमें पहले से उपस्थित था। फिर थवई ने क्या काम किया? किया अवश्य। यह तो कह नहीं सकते कि उसने कुछ नहीं किया। यदि थवई कुछ न करता तो लोग सहस्रों रुपये खर्च करके थवई को क्यों रखते? हाँ उसने एक काम किया और वह बड़ा ज़रूरी काम था। वह यह कि पहले तो थवई ने अपने मन में वह चित्र खींचा जो उसे आकाश के समस्त चित्रों में से छांट कर व्यक्त करना था। फिर उसने यह सोचा कि मैं किस किस वस्तु को किस किस परिमाण से इस प्रकार मिलाऊँ कि वह उसी प्रकार के चित्र को व्यक्त कर सके।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। एक चित्रकार पेंसिल हाथ में लेकर एक सुन्दर युवती का चित्र एक कागज़ पर बनाने बैठता है। प्रश्न यह है कि उस चित्र में कितना भाग चित्रकार का है? उस कागज़ में सभी प्रकार के चित्र उपस्थित हैं। यदि उपस्थित न होते तो चित्रकार कैसे पैदा कर देता। उसी कागज़ में युवती सुन्दरी का, उसी में बुड्ढी खूसट का, उसी में कुत्ते बिल्ली का उसी में गधे या वृक्ष का। कौन सा चित्र है जो कागज़ में नहीं है? एक प्रकार से कागज़ सभी आकारों का कोष या भण्डार है। परन्तु एक उत्तम चित्रकार उसी चित्र को पेंसिल से मर्यादित करेगा जो उसे अभीष्ट है। चित्र का खींचना क्या है? केवल उस चित्र का पेंसिल द्वारा मर्यादित या सीमित कर देना, पेंसिल क्या करती है? वह एक सीमा खींच देती है जिसको

रखा को outline या contour कहते हैं। जहाँ पेंसिल से सीमा बनी चित्र खिंच गया। यह सीमा खींचने का काम साधारण नहीं है। वस्तुतः यही काम है जा चित्रकार अपने मस्तिष्क से निकालता है। यही काम उसको साधारण मनुष्यों से उच्च ठहराता है। इसी काम पर उसकी योग्यता निर्भर है। यही काम है जिसको ज्ञान कहते हैं। यही काम है जो चेतनता का विशेष चिह्न है। उसी कागज़ को बच्चे को दे दो और वह ऊट पटांग लकीरें बना देगा। वह ऊट पटाँग लकीरें भी उसी कागज़ में मौजूद हैं जिसमें उत्तम से उत्तम चित्र हैं। परन्तु वह कौन सी वस्तु है जिसने चित्रकार को विशेष लकीरें छांटने के लिये प्रेरित किया और वह किस वस्तु का अभाव है जिसने बच्चे को वह लकीरें न सुझांई ? इसी का नाम तो बुद्धि है। इसी का नाम प्रज्ञा या ज्ञान है। कागज़ के पृष्ठ पर अनेक अक्षर लिखे जा रहे हैं। यह सब अक्षर कागज़ में मौजूद हैं। परन्तु उन अक्षरों का इस प्रकार व्यक्त करना कि उनसे अर्थ निकल सके ज्ञान और बुद्धि का काम है। प्रेस में कम्पोजीटर ने जिन अक्षरों को जोड़-कर वेद का पुस्तक छापा उन्हीं अक्षरों को जोड़कर 'हीरारांझे' की कहानी छापी। अक्षर वही हैं परन्तु पुस्तकों में कितना भेद है ? जिन अक्षरों से god बनता है उन्हीं से dog बनता है जिनसे "राम" बनता है उन्हीं से मार बनता है। परन्तु god और (dog) एक नहीं। न राम और मार ही एक हैं। आखिर कौन सी बात है जो इनमें भेद करती है ? वही बुद्धि ! वही प्रज्ञा ! इसी प्रज्ञा ने अक्षरों के एक समुदाय का नाम प्रशंसा रख दिया और दूसरे का गाली।

बस यही हाल समस्त जगत् का है। जगत् निर्माण की सामग्री वही है। परन्तु भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ आकार की वस्तुयें बनी हुई हैं। यह आकार झूठ नहीं, धोखा नहीं, ब्रम

नहीं। इसी आकार से तो निर्माता की अपूर्व बुद्धि का परिचय होता है। इसीलिये वेद में कहा है:—

इन्द्रो मायाभिः पुरु-रूप ईयते (ऋ० ६। ४७। १८)

अर्थात् परमात्मा '(मायाभिः) प्रज्ञा या बुद्धि द्वारा (पुरु-रूप) जगत् रूप हो जाता है अर्थात् जगत् का निर्माण करता है। 'माया' का अर्थ यहाँ छलावा या धोखा या अविद्या नहीं है। इसकी मीमांसा हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं। ऋग्वेद के समय 'माया' को 'धोखा' या 'अविद्या' के अर्थ में लेने की प्रथा न थी। यास्क ने इसका अर्थ प्रज्ञा ही किया है। वस्तुतः जगत् क्या है ? अनादि और अनन्त परमाणुओं को ईश्वर ने अपनी प्रज्ञा द्वारा इस प्रकार संयुक्त कर दिया कि भिन्न २ नाम और रूप की चीजें बन गई अर्थात् अव्यक्त जगत् अब व्यक्त हो गया। अव्यक्त को व्यक्त तक पहुँचाने के लिये महती बुद्धि की आवश्यकता है। इसी बुद्धि द्वारा ईश्वर यह सब कुछ करता है। इसीलिये उसको सर्वज्ञ, कवि, मनीषी आदि शब्दों द्वारा वेदों में कथित किया गया है। ऊपर दिये हुये मंत्र का यह अर्थ नहीं कि ईश्वर धोखा या इन्द्रजाल के समान जगत्-रूप प्रतीत होता है। सच पूछिये तो 'इन्द्र' शब्द के साथ 'जाल' लगाने की प्रथा ही उस समय से चली जब 'माया' जैसे उच्च शब्द को धोखे के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा या मायावाद और विवर्त्तवाद का आधिपत्य हुआ।

मायावादियों ने परमाणुओं के विरोध में बहुत कुछ लिखा है। यद्यपि परमाणुओं की सिद्धि स्पष्ट ही है।

जब कोई वस्तु सामने आती है तो पहली प्रवृत्ति मनुष्य को यही होती है कि वह यह देखने की कोशिश करे कि यह किन किन चीजों से बनी है। संसार में जितनी वस्तुयें हम देखते हैं

वह सब की सब संयुक्त हैं। अर्थात् वह अनेक वस्तुओं के संयोग से बनी हैं। जिस घर में मैं बैठा हूँ उसमें एक लाख से अधिक ईंटें लगी हैं। यदि इनमें से प्रत्येक ईंट का विचार किया जाय तो एक एक ईंट में लाखों या करोड़ों कण होंगे। यदि प्रत्येक कण का हम विश्लेषण कर सकें तो हर एक कण बहुत से छोटे छोटे कणों का समुदाय होगा। यह तो एक छोटे से घर का हाल है। यदि इस प्रकार हम संसार की प्रत्येक वस्तु का विचार करें तो जिस वस्तु को हम एक कह कर पुकारते हैं वह असंख्यों कणों का एक समुदाय है। साधारण दृष्टि से सूर्य एक है। परन्तु यदि समुदाय का विचार छोड़ दें तो क्या वस्तुतः वह एक ही ठहरता है। कदापि नहीं, उसकी ही एक एक किरण के असंख्यों टुकड़े हो सकते हैं और फिर किस की सामर्थ्य है कि सूर्य की किरणों को गिन सके। कल्पना कीजिये इस ब्रह्माण्ड के अनेकों सूर्यों की। फिर कल्पना कीजिये उस बहुत्व की जो हम को संसार में दिखाई पड़ रहा है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह एक है। परन्तु इस एक का क्या यह अर्थ है कि वह अखंड और एक रस है। यदि पृथ्वी अखण्ड और एक रस होती तो उसको न तो रत्न-गर्भा ही कह सकते और न पृथ्वी ही। क्योंकि पृथ्वी नाम इसका इसलिये है कि उसमें विस्तार है और रत्न-गर्भा इसलिये कि उसके गर्भ में असंख्यों रत्न विद्यमान हैं। वस्तुतः पृथ्वी एक नहीं किन्तु किसी किसी अंश में समानता रखने वाले असंख्यों कणों का समुदाय है।

समुद्र को लीजिये। हम गणना के लिये कहा करते हैं कि सात समुद्र हैं परन्तु क्या वस्तुतः यह सात समुद्र सात ही चीजें हैं जो अखंड और एक रस हों? क्या शान्त महासागर एक वस्तु है? अरे शान्त महासागर तो हजारों मील लंबा, हजारों मील चौड़ा है, छोटी सी गंगा या यमुना को ही क्यों नहीं देखते,

जिस गंगा की धारा को हम एक कहते हैं वह भी एक धारा नहीं किंतु धाराओं की सेना है, जिसकी प्रत्येक धारा में असंख्यों जल के कण हैं। गंगा या यमुना तो दूर रही। एक गिलास भरे पानी को ही देख लो, इसमें असंख्यों जल बिन्दुएं मिलती हैं।

अपने शरीर की ओर दृष्टिपात कीजिये। पहला विश्लेषण तो यही बताता है कि इसमें दो वस्तुयें हैं। एक चेतन जीव और दूसरा अचेतन या जड़ शरीर। पहले जीव का हम फिर विश्लेषण नहीं कर सकते। परन्तु दूसरे जड़ शरीर को संयुक्त मान लेना तो एक स्वयंसिद्धि ही है। जिसको विद्वान् से विद्वान् और कुपढ़ से कुपढ़ भी मानता है। कौन ऐसा होगा जो यह कह दे कि मेरा शरीर एक अखंड, और एक रस वस्तु है? यह एक स्वयं-सिद्धि है जिसको मनगढ़ित या कपोल-कल्पित नहीं कह सकते। यह तो ऐसी बात है जो सर्वतन्त्र सिद्धान्त ही कही जा सकती है। इस शरीर के न केवल सिर, धड़ आदि अवयव ही अलग अलग हैं किन्तु प्रत्येक अवयव में फिर असंख्यों अवयव हैं। रक्त की एक बूंद को कणों में विभाजित कर सकते हैं। हड्डी के एक एक टुकड़े को छोटे छोटे भागों में बांट सकते हैं। इसीलिये वैशेषिक में कहा है।

कारण बहुत्वात् कारण महत्वात् प्रचय विशेषाच्च महत् (वै० ७।१।१०)

इन सब दृष्टान्तों से केवल यही नतीजा निकालना पड़ता है कि इस जगत् के बनाने के लिये असंख्यों चेतन जीव और असंख्यों जड़ परमाणुओं की उपादान कारण रूप से आवश्यकता हुई होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि इन परमाणुओं को हम आँख से देख नहीं सकते, हाथ से छू नहीं सकते। परन्तु जिस प्रकार किसी

मनुष्य के पेट की आंतों को बिना शरीर की चीड़ फाड़ किये न देख न छू सकते हैं परन्तु जानते अवश्य हैं कि आंतें विद्यमान हैं इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के गर्भ में जो परमाणु विद्यमान हैं उनको न देखते और न छूते हुये भी बुद्धि उनको मानने के लिये मजबूर हो जाती है। कल्पना कीजिये कि मनुष्य के पास एक शरीर को चीड़ने फाड़ने के साधन न होते तो क्या वह उसको अखंड और एक रस मानने लगता ? कदापि नहीं। अरे जो वस्तु बनी है, संयुक्त है वह विभक्त भी हो सकती है और विभाग का अर्थ ही यह है कि जिन दो या अनेक वस्तुओं से यह बनी हो उसको अलग अलग कर दिया जाय। यह माना कि हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे हम किसी वस्तु के ऐसे टुकड़े कर सकें कि फिर उनके टुकड़े न हो सकें। परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि वह टुकड़े हैं ही नहीं ? यदि न होते तो संयुक्त वस्तु ही कैसे बनती ? रहो विभाजक साधन के अभाव की बात सो वह भी स्पष्ट है। क्योंकि जितने साधन हम इस शरीर द्वारा प्रयोग में ला सकते हैं वह सब के सब संयुक्त या मोटे हैं। सूक्ष्म वस्तु स्थूल को काट डालती है। स्थूल सूक्ष्म को नहीं काट सकती। पत्थर को काटने के लिये उससे पतला लोहा चाहिये। जिस लोहे से पत्थर कट सकता है उसी से लोहा नहीं। क्योंकि लोहा पत्थर से पतला है और उसके लिये अन्य पतले साधन चाहिये। सुई की नोक के टुकड़े करने के लिये सुई की नोक से भी पतले साधन की आवश्यकता होगी। इस प्रकार जो साधन हमारे पास हैं वह सब के सब कार्य अवस्था या संयुक्त अवस्था में हैं अतः वह मोटे हैं। इन मोटे साधनों से सूक्ष्म कणों के विभाजन का काम नहीं लिया जा सकता। फिर इन परमाणुओं का प्रत्यक्ष करना भी हमारी सामर्थ्य से बाहर है। आँख संयुक्त है, वह उस वस्तु को कैसे

देख सकती है जो आँख से भी सूक्ष्म हो ? हाथ उस वस्तु को कैसे छू सकता है जो हाथ से भी बारीक हो ?

कुछ लोग शायद कहें कि जब तुम परमाणुओं तक किसी चीज़ का विभाजन कर ही नहीं सकते, जब तुम ने परमाणुओं को न देखा और न छुआ तो तुम इस नतीजे पर कैसे पहुँचे कि असंख्यों परमाणुओं से यह जगत् बना है ? परन्तु हमारा उत्तर सीधा है। या तो तुम यह इनकार कर दो कि संसार की वस्तुयें संयुक्त हैं या यह मानों कि वह एक से अधिक वस्तुओं से मिलकर बनी हैं। इन दोनों के बीच का कोई उत्तर हो ही नहीं सकता। जिस पुरुष में बुद्धि है वह भी और जिसमें बुद्धि नहीं है वह भी (उन्मत्तों को छोड़ कर) यही कहेगा कि हम इस जगत् में एक भी वस्तु ऐसी नहीं देखते जो संयुक्त न हो या अखंड और एक रस हो। फिर जब यह वस्तुयें संयुक्त हैं तो वह एक से अधिक से ही संयुक्त हो सकती हैं। एक वस्तु से भी संयोग कभी होता सुना है ? क्या एक सिपाही की भी फौज होती है। क्या एक पुस्तक की भी पुस्तकमाला होती है ? क्या एक ही आदमी हो तो वह यह कह सकता है कि अन्य कोई मनुष्य नहीं था परन्तु मैं भेंट कर आया ? यदि तुम को एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता कि एक वस्तु से संयोग या वियोग हो सके और तुम संसार में चारों ओर संयोग और वियोग के दृष्टान्त देखते हो तो तुम्हारे पास इस बात से इनकार करने का कौन सा हेतु है कि यह सब वस्तुयें बहुसंख्यक परमाणुओं के मेल से बनी हैं ?

कुछ लोग कहा करते हैं कि यदि किसी वस्तु का विश्लेषण करते जाइये तो अन्त में ऐसी अवस्था आ जायगी कि कुछ भी नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा कहने वाले थोड़ा भी सोचने

को कोशिश नहीं करते। कल्पना कीजिए कि एक वस्तु के दो टुकड़े कर दिये फिर टुकड़े करने बैठोगे तो दो के चार होंगे। दो से कम नहीं हो सकते। जब चार टुकड़ों के टुकड़े करोगे तो आठ होंगे। चार से कम कदापि न होंगे। आठ के टुकड़े सोलह होंगे, आठ से कम कदापि न होंगे। सोलह टुकड़ों के फर टुकड़े करोगे तो सोलह से कम न होंगे। बत्तीस होंगे। इस प्रकार जितना अधिक परिश्रम करोगे उतना ही बहुत्व प्रकट होता जायगा। बहुत्व से छुट्टी कब मिल सकेगी ? कल्पना कीजिये कि आपने अन्त तक टुकड़े कर डाले तो बहुत्व बढ़ेगा ही। घट किसी प्रकार नहीं सकता। और ऐसी अवस्था तो किसी प्रकार नहीं आ सकती कि कुछ भी न रहे। यदि कुछ न रहता तो उससे "कुछ" कैसे बन सकता ? "अकुछ" से कुछ कदापि नहीं बन सकता। इसलिये यह कहना सर्वथा बे-ठीक है कि टुकड़े करते करते हम शून्य तक पहुँच सकते हैं।

एक और प्रकार से विचार कीजिये। कल्पना कीजिये कि आपका कहना ठीक है और एक अवस्था ऐसी आ सकती है जब केवल शून्य ही शून्य रह जाय। उस अवस्था से इस पार की पहली अवस्था का विचार कीजिये। उस अवस्था में तो आपके कथनानुसार भी शून्य न होगा। क्योंकि अभी शून्य की अवस्था नहीं आई। यह अवस्था शून्य की अवस्था के इस पार की पहली अवस्था है। इस अवस्था में कणों या अणुओं की एक नियत संख्या उपस्थित है। एक और विभाजन करने से हम शून्य की अवस्था तक पहुँच सकेंगे। अभी नहीं पहुँचे। अब मैं पूछता हूँ कि अगली विभाजन क्रिया उस नियत संख्या को बढ़ायेगी या घटायेगी ? आप यही कह सकते हैं कि बढ़ा-येगी क्योंकि विभाग कहते ही हैं संख्या के बढ़ा देने को। संयोग संख्या को कम करता है और वियोग बढ़ाता है। इसीलिये जब

आप शून्य की अवस्था तक पहुँचेंगे तो इस पार की पहली अवस्था की अपेक्षा कई गुने शून्य पायेंगे। परन्तु इससे अधिक युक्तिशून्य या भौंडी बात क्या हो सकती है? साधारण बुद्धि का पुरुष भी जानता है कि वस्तुओं की गणना तो की जा सकती है परन्तु शून्य की गणना करना या करने की चेष्टा करना ही उन्मत्तों के सिवाय और किसी का काम नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि इस घर में कोई नहीं परन्तु गिनने जा रहा हूँ। इस टापू में कोई नहीं रहता परन्तु मर्दुमशुमारी होगी। उसके पास पैसा भी नहीं परन्तु गिन रहा है। तो ऐसे पुरुष को उसके इष्ट-मित्र शीघ्र ही डाक्टर को दिखाने की चेष्टा करेंगे, इसलिये यह कहना कि विभाजन करते करते हम शून्य तक पहुँच सकते हैं कभी समझ में नहीं आ सकता।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि जिस परमाणु को तुम अविभाज्य कहते हो उसके टुकड़े हो सकते हैं। वैशेषिक दर्शन के

परम वा त्रुटेः

सूत्र को वह नहीं मानते। उनका कहना है कि कोई ऐसा परमाणु हो ही नहीं सकता जिसका फिर विभाग न हो सके श्री शंकराचार्य जी

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा (वेदांत २।२।१७)

सूक्त पर भाष्य करते हुये लिखते हैं :—

परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद् यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः। सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत।

अर्थात् परमाणु परिच्छिन्न (एक देशी) हैं। इसीलिये जितनी छः आठ या दस दिशायें हो सकती हैं उतने ही उनके अवयव भी हो सकते हैं और जब उनके अवयव हुये तो वह नित्य नहीं किन्तु अनित्य होंगे क्योंकि नित्य वही वस्तु होती है जो निरवयव हो।

यहाँ शंकराचार्य जी दो बातें कहते हैं। एक यह कि जिसका परमाणु होना उनकी समझ में आता है उसका अवयव वाला होना भी समझ में आता है और जो अवयव वाला है यह अनित्य होता है। यह तो सर्वथा ही ठीक है कि जो अवयव वाला है वह नित्य नहीं। नित्य वही होता है जिसके अवयव न हों परन्तु शंकराचार्य जी की ऊपर दी हुई युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता कि चीजों के विश्लेषण करते २ ऐसी अवस्था ही न आवे जो अविभाज्य हो। जहाँ तक अवयवों का संभव है वहाँ तक हम परमाणु कहेंगे ही नहीं। परमाणु उस छोटे से छोटे टुकड़े का नाम होगा जिसके आगे अवयव मानने की सम्भावना ही न हो। शंकर स्वामी ने पहले एक ऐसी बात की कल्पना कर डाली जो परमाणु से इस पार की है और इसी कल्पना के सहारे उन्होंने अवयव सम्बन्धी आक्षेप जड़ दिया। आगे चलकर इसी सम्बन्ध में वह लिखते हैं:—

यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान् कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत्, न। स्थूल सूक्ष्मतारतम्य-क्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः। यथा पृथ्वी द्व्य-णुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्म सूक्ष्मतरं च पृथिव्येक जातीयकं विन-श्यति, ततो द्व्यणुकं तथा परमाणवोऽपि पृथि-

त्र्येक जातीयकत्वाद्विनश्येयुः। (२।२।१७)

"अगर तुम कहो कि जिसको दिशाभेदी अवयव कहा जाता है वही परमाणु है तो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्यों ज्यों स्थूल से सूक्ष्म होता जाता है त्यों त्यों उस स्थूल का नाश होता जाता है। जैसे पृथ्वी द्वयणुक की अपेक्षा से स्थूल तो है परन्तु उसका नाश हो जाता है। उसी प्रकार अन्य सूक्ष्म वस्तुयें भी जो पृथ्वी के समान ही सूक्ष्म या सूक्ष्मतर हैं नाश हो जाती हैं। उसी प्रकार द्वयणुक का भी नाश होता है। इसी प्रकार परमाणु का भी नाश अवश्य होगा क्योंकि वह भी तो पृथ्वी के समान उसी जाति की वस्तु है।"

यह युक्ति इतनी प्रबल नहीं है जितनी प्रतीत होती है। शंकराचार्यजी द्वयणुक को उसी जाति में रखते हैं जिसमें पृथ्वी। क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वी सावयव है इसी प्रकार द्वयणुक भी सावयव होते हैं और जिस प्रकार पृथ्वी के टुकड़े टुकड़े हो सकते हैं वैसे ही द्वयणुक के भी। परन्तु आगे चलकर वह परमाणु को भी पृथ्वी की ही जाति में रख देते हैं। यह उनकी धींगा-धींगा है। परमाणु पृथ्वी की जाति के उस समय होते जब वह भी पृथ्वी की भांति सावयव होते। पहले उनको सावयव सिद्ध करके तब उनको पृथ्वी की जातीयता में रक्खा जा सकता है। परन्तु पहले उनको पृथ्वी का सजातीय मान लेना फिर कहना कि वह सावयव हैं अन्योन्याश्रय दोष है। जब यह मानते हैं कि पृथ्वी सावयव है तो अवश्य उसके कोई न कोई अवयव होंगे। यहाँ तक कि द्वयणुक तक सावयव पदार्थ हैं इसलिये उनके अवयव हो सकते हैं। परन्तु इनका सावयव होना ही प्रकट करता है कि इसके अन्त को ऐसे अवयव होंगे जिनके फिर आगे अवयव न हो सकें। परमाणुओं के नाश होने की युक्ति

भी विचित्र ही है। नाश वह चीज़ होती है जो सावयव हो। जब तक एक चीज़ सावयव न सिद्ध हो उस समय तक उसका नाश ही कैसे होगा ? हम ऊपर कह चुके हैं कि जितने सावयव पदार्थ होंगे उनसे उनके अवयवों की संख्या अधिक ही होगी। कम नहीं। इस प्रकार पृथ्वी के टुकड़े पृथ्वी से अधिक, उनके टुकड़े उन टुकड़ों से अधिक, उनके टुकड़े उन टुकड़ों से अधिक यहां तक कि द्वयणुक सब अन्य स्थूल टुकड़ों से अधिक और परमाणु द्वयणुकों की अपेक्षा अधिक होंगे। पृथ्वी के टुकड़े करने से पृथ्वी का केवल इस अर्थ में नाश हो गया कि उसके अवयव अलग अलग हो गये। इस प्रकार द्वयणुकों का नाश भी केवल इसी अर्थ में हो सकता है कि उनके अवयव अलग अलग होकर परमाणु हो जाय परन्तु जिस प्रकार पृथ्वी के टुकड़े करने से उसके अवयवों का सर्वथा अत्यन्ताभाव नहीं होता उसी प्रकार द्वयणुकों के अवयवों का भी सर्वथा अत्यन्ताभाव नहीं होगा। और जब ऐसी अवस्था आ जायगी कि फिर अवयव न रहें तो उनका विश्लेषण भी न हो सकेगा।

आगे चलकर शंकर स्वामी इससे भी अनूठी बात कहते हैं—

विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्, नायं दोषः; यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादीनाम विभाज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद्द्रवभावापत्या काठिन्य विनाशो भवति, एवं परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि नावयवसंयोगेनैव केवलेन

भवति; क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगां-तरं दधिहिमादि कार्यारम्भदर्शनात् ।

इसका अर्थ यह है कि शंकराचार्य के मत में किसी चीज़ का विनाश केवल उसके अवयवों को अलग कर देने से ही नहीं होता। अर्थात् बिना अवयवों के विभाग के भी नाश हो सकता है। इसके लिये वह दो दृष्टान्त देते हैं एक घी के पिघलने का और दूसरा सोने आदि धातुओं के पिघलने का। इससे वह यह नतीजा निकालते हैं कि बिना अवयवों के संयोग के भी कार्यारम्भ हो सकता है जैसे दूध से दही और पानी के बर्फ़ बन जाती है।

दही या बर्फ़ के बनने का दृष्टान्त बहुधा दिया जाता है। इसीलिये हम ने इस अध्याय के आरंभ में भली प्रकार इस बात को दिखलाने का प्रयत्न किया है कि जिसको तुम परिणाम कहते हो वह भी एक प्रकार का आरम्भक ही है। यह शंकर स्वामी की बड़ी भारी भूल है कि वह जल से बर्फ़ बनने या बर्फ़ से जल बनने को अवयवों का संयोग और वियोग नहीं कहते। जब सोना पिघलाया जाता है तो क्या होता है? यही न कि सोने के जो अवयव अधिक निकटस्थ थे वे अब दूर हो गये। जो सोना ठोस था वह द्रवीभूत हो गया। यह सब अवयवों के वियोग के ही कारण तो हुआ। इसी प्रकार जब दूध का दही बनता है या जल का बर्फ़ बनता है तो दूध और जल के अवयव जो दूर दूर होते हैं अधिक निकटस्थ हो जाते हैं अर्थात् द्रवीभूत जल या द्रवीभूत दूध जमकर ठोस हो जाता है। यह अवयवों के संयोग का एक अच्छा दृष्टान्त है। आश्चर्य है कि इतना स्पष्ट दृष्टान्त होते हुये शंकर स्वामी इससे वह नतीजा निकालते हैं जो किसी को कभी निकालना नहीं चाहिये।

फिर शंकर स्वामी के एक शब्द पर विचार करने से तो उनके मत का सर्वथा खण्डन हो जाता है। वह कहते हैं :—

कार्यारम्भोऽपि नावयव संयोगेनैव केवलेन भवति।

अर्थात् कार्य केवल अवयव के संयोग से ही नहीं होता। पाठक बृन्द शंकर स्वामी के "केवल" शब्द की ओर ध्यान दें। केवल शब्द का यही अर्थ हो सकता है कि कुछ कार्य तो अवयवों के संयोग से होते हैं और कुछ बिना अवयवों के संयोग के। यदि हम शंकर स्वामी की ख़ातिर यह बात स्वीकार भी कर लें तो दो बातें स्पष्ट होंगी अर्थात् एक तो यह कि कुछ कार्य अवयवों के संयोग से होते हैं और दूसरी यह कि कुछ कार्य अवयवों के संयोग के बिना भी होते हैं। यदि दोनों बातें ठीक हैं तो एक नियम के अनुसार कुछ कार्यों के अवयव अर्थात परमाणुओं का सर्वथा खण्डन न हो सकेगा। यदि घी या बर्फ़ का दृष्टान्त ठीक भी होता तो इन दो एक दृष्टान्तों की उन सैकड़ों दृष्टान्तों के सन्मुख क्या चलती जिसमें समस्त कार्य अवयवों के ही संयोग या वियोग द्वारा होते हैं जैसे मकान का बनना, वृक्ष का उगना, शरीर की क्षय और वृद्धि, घड़े का बनना बिगड़ना, कपड़े का बुना जाना या फट जाना इत्यादि इत्यादि, क्योंकि जिन दृष्टान्तों को आरम्भकवादी देता है उनसे तो शंकर स्वामी को कोई इनकार हो नहीं सकता। हां जिनको शंकर स्वामी परिणाम वाद के पक्ष में देते हैं वह अवश्य संदिग्ध ही नहीं किन्तु समस्त भौतिक विज्ञान जानने वालों को अस्वीकृत होंगे। और यदि घी के जमने, पिघलने या दही के बनने बिगड़ने में अवयवों के संयोग और वियोग के बिना काम नहीं चलता तो शंकरस्वामी के यह दो तीन छुटे हुये दृष्टान्त भी उनके मत के पोषक होने के बजाय खंडक ही सिद्ध होंगे।

अब हम यहाँ एक बात की मीमांसा करते हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि कोई अवस्था ही ऐसी नहीं आ सकती जब कि अवयव निरवयव हो जाय। अर्थात् हम कभी ऐसी अवस्था को ध्यान में नहीं ला सकते जब परमाणु ऐसे होंगे जिनके फिर टुकड़े न हो सकें। यदि यह बात ठीक है तो प्रथम तो अनवस्था दोष आयेगा जो समस्त दार्शनिक जगत् में एक दोष समझा जाता है। दूसरे यह कि प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक अवस्था में हम टुकड़े कर सकेंगे। सच पूछो तो हमारे पास तो ऐसे भी साधन नहीं हैं कि हम द्व्यणुक तक ही पहुँच सकें। सैकड़ों सावयव सूक्ष्म पदार्थ ऐसे हैं जिनके और अवयव करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके अवयव नहीं हो सकते। रही कल्पना की बात। सो जिस प्रकार तुम प्रत्येक परमाणु को सावयव मान कर उसके विभाजन की कल्पना कर लेते हो उसी प्रकार उसको सूक्ष्मतम मान कर उसके अविभाज्य होने की कल्पना क्यों नहीं कर सकते ? क्योंकि संसार में हम दोनों बातों की अपेक्षा देखते हैं। एक हार मणियों द्वारा बना है। उसको अलग अलग मणियों में विभक्त कर देते हैं। फिर उन मणियों को नहीं तोड़ते। क्योंकि हार की अपेक्षा से मणि सूक्ष्मतम हैं। इसी प्रकार घर की अपेक्षा से ईंट सूक्ष्मतम हैं। इस भांति प्रत्येक विश्लेषण क्रिया (Analytic Process) में यह होता है कि उस पदार्थ के उन सब अवयवों को अलग अलग कर दिया जाय जिनसे वह बनी हैं। जब वह अवयव प्राप्त हो गये तो आगे विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यह कल्पना करना कि परमाणुओं की एक ऐसी अवस्था आ गई जिसके आगे फिर बिभाग नहीं हो सकता किसी प्रकार भी अस्वाभाविक नहीं है। हाँ यह बात अवश्य अस्वाभाविक सी है कि ऐसी अवस्था कभी हो ही नहीं।

जो लोग यह कहते हैं कि हम कल्पना द्वारा परमाणुओं के भी टुकड़े कर सकते हैं उनसे कहना चाहिये कि तुम्हारी कल्पना का क्या कहना। तुम जो चाहो सो कल्पना करलो। दूसरे प्रसङ्ग में इसी सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी को स्वयं लिखना पड़ा कि :—

अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसंगात्। इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वार्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियम हेत्वभावात्। कल्पनायाश्च स्वाध्यत्तत्वात् प्रभूतत्वसंभवाच्च।

अर्थात् "जो वस्तु विद्यमान नहीं उसकी कल्पना कर लेने से तो हर एक बात की सिद्धि हो जायगी। यह अविद्यमान वस्तु विरुद्ध है और यह अविरुद्ध। इतनी कल्पना करो इससे अधिक न करो। इसका तो कोई नियम रहेगा नहीं। यों तो जो चाहेगा वह उसी बात की कल्पना कर लिया करेगा। हम भी ठीक यही बात कहते हैं। हमारा कहना है कि केवल परमाणुओं के टुकड़े होने की कल्पना से ही तो परमाणुओं के टुकड़े या नाश न हो जायगा। तुम जो चाहो कल्पना करो। जो मनुष्य प्रत्येक वस्तु के नाश या टुकड़े टुकड़े होने की कल्पना कर सकता है वह ब्रह्म के भी टुकड़े टुकड़े या नाश होने की कल्पना क्यों न करेगा? हमने तो सैकड़ों मनुष्यों को यह प्रश्न करते सुना है कि जब ईश्वर सब चीज़ों को बनाता है तो ईश्वर को कौन बनाता है। और जब उनसे कहा जाता है कि ईश्वर ऐसा है जिसको कोई नहीं बनाता तो वह यह कहने लगते हैं "भला ऐसा कैसे हो सकता है। जो चीज़ है उसका बनाने वाला कोई होना तो चाहिये ही।" अब उनसे क्या कहा जाय? लाख समझाओ

उनकी बुद्धि ही इतनी सूक्ष्म नहीं कि वह अकारण कारण को ध्यान में ला सकें। इसी प्रकार जो लोग निरवय और अविभाज्य परमाणु को ध्यान में नहीं ला सकते और प्रत्येक अविभाज्य वस्तु को भी अपनी कल्पना द्वारा दो भागों में विभक्त कर बैठते हैं उनकी कल्पना का क्या इलाज ? परन्तु यदि बुद्धि-पूर्वक विचार किया जाय तो परमाणुओं की अविभाज्यता में कोई सन्देह नहीं रहता। यह याद रखना चाहिये कि मनुष्य सदा ठीक ठीक कल्पना ही नहीं करता। बहुधा झूठी कल्पनायें भी किया करता है। आकाश में फूल, बन्ध्या के पुत्र आदि की कल्पनायें प्रसिद्ध ही हैं। तुम चाहो तो गधे के सींगों की भी कल्पना कर सकते हो। कोई रोकने वाला नहीं। परन्तु तुम्हारी कल्पना से विचारा गधा सींगों से सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार केवल तुम्हारी कल्पना से परमाणु के भी वास्तविक टुकड़े न हो सकेंगे।

रही शंकर स्वामी की "नाश की बात"। वह कहते हैं कि जिस प्रकार बर्फ़ का नाश होकर पानी हो गया ऐसे ही।

परमाणूनामपि···विनाशोभविष्यति।

"परमाणुओं का भी विनाश हो जायगा" सो इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार शंकर स्वामी अन्य कई विषम-दृष्टान्तों को पेश करके कुछ का कुछ नतीजा निकाला करते हैं वैसे ही यह भी बात है। अब तक तो परमाणुओं के टुकड़े होने का ही प्रसङ्ग था। अब कुछ आगे बढ़कर उनके नाश का भी प्रसङ्ग आ गया। यह कैसे ? इस नाश का शंकर स्वामी ने कौन सा दृष्टान्त दिया ? क्या घी के पिघलने से उसका नाश हो जाता है ? क्या सोने का पिघलाना उसका नाश करना है ? यदि घी के पिघलने से उसका नाश हुआ करता तो कौन

गृहस्थिनी है जो रुपया खर्च करके पहले घी मंगाती और फिर अपना ईंधन खर्च करके नाश करती ? कौन ऐसा पुरुष है जो अपनी गाढ़ी कमाई का रुपया खर्च करके सोना खरीदता और फिर मजदूरी देकर सुनार से नाश करने के लिये पिघलवाता ?

नासतोऽदृष्टत्वात् (वेदान्त २ । २ । २६)

का भाष्य करते हुये शंकर स्वामी लिखते हैं:—

नाभावाद्भाव उत्पद्यते । यद्यभावद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् ।

"अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता । यदि अभाव से भाव उत्पन्न होता तो अभाव सब वस्तुओं में एक सा होने के कारण विशेष कारण की आवश्यकता न पड़ती" । तात्पर्य यह है कि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हुआ करती तो मकान के लिये ईंटों, घड़े के लिये मिट्टी, जेवर के लिये स्वर्ण की आवश्यकता न होती । क्योंकि मिट्टी का अभाव, ईंटों का अभाव और स्वर्ण का अभाव सब एक से । उनमें एक दूसरे से कोई विशेषता नहीं ।

यदि शङ्कर स्वामी के इसी सिद्धान्त और इसी युक्ति का (जिसको हम भी सर्वथा स्वीकार करते हैं) प्रयोग हम इस प्रसङ्ग में करने लगें तो जिस प्रकार अभाव से भाव नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार भाव से अभाव भी न हो सकेगा । फिर परमाणुओं का नाश वह किस प्रकार सिद्ध कर सकेंगे ? और यदि अभाव से भाव नहीं उत्पन्न होता तो बिना परमाणुओं के यह सृष्टि की उत्पत्ति ही कैसे कर सकेंगे ? यदि कहो कि शङ्कर स्वामी यहाँ ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तो

इसकी मीमांसा अगले अध्यायों (आठवें अध्याय) में करेंगे।

यहाँ शङ्कर स्वामी का एक आक्षेप रहा जाता है उसका भी समास रूप से समाधान करना आवश्यक है। वह यह कि परमाणु में छः आठ या दस दिशायें होती हैं और इस लिये उसके भाग हो सकते हैं। यह आक्षेप परमाणुवादियों के विरुद्ध सब से बड़ी तोप समझी जाती है। और बहुत से परमाणु-वादियों का भी विचार है कि यद्यपि परमाणुओं के अस्तित्व के अनेकों अटूट्य प्रमाण हैं तथापि एक इस आक्षेप का उत्तर नहीं है। श्री डाक्टर गङ्गानाथ झा अपनी पुस्तिका 'न्याय प्रकाश' में लिखते हैं:—

"परमाणु सूक्ष्म हैं—स्थूल नहीं। तब दो परमाणुओं का संयोग कैसे हो सकता है या इनके मिलने से इनसे मोटा स्थूल द्व्यणुक कैसे होगा क्योंकि एक एक सेर के दो टुकड़ों के मिलने से एक दो सेर का वस्तु बनता है। परन्तु जब परमाणु सूक्ष्म है—उसके अंश या हिस्से नहीं हैं—तो ऐसे दो के मिलने से मोटी चीज़ कैसे उत्पन्न होगी? इस बात का शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में अच्छी तरह उपपादन किया है।

इसका समाधान ठीक ठीक नहीं मिलता।

वार्तिक ४—३—२५ में और तात्पर्यटीका १—४६० में इतना ही कहा है कि जिनका संयोग होता है उनके अंश या टुकड़े होंगे ऐसा आवश्यक नहीं है। केवल उनको मूर्त अर्थात् क्रियावान् होना चाहिये अर्थात् वे इधर उधर चलने वाले हों इतना ही आवश्यक है। जब दो चीज़ें मूर्त होंगी तो उनका संयोग अवश्य होगा और उनके संयोग से एक ज्यादे मोटा मूर्त वस्तु उत्पन्न होगा अस्तु यह तो ठीक है—दो परमाणु जब इधर उधर चलेंगे तो उनका संयोग अवश्य होगा, परन्तु यह संयोग

जब दो ढेलों में होता है—तब एक का एक अंश दूसरे के एक अंश से मिलता है, दो आदमी जब मिलते हैं तब एक का दाहिना हाथ दूसरे के बायें हाथ से मिलता है परन्तु परमाणुओं में ऐसा अंग ही नहीं है फिर इनका संयोग कैसे होता है?

इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता।

"परमाणु के संयोग के विषय में नैय्यायिकों की सम्मति यह है कि ईश्वर की चिकीर्षा से परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है। क्रिया से संयोग होता है। सयोग होने से ही परमाणु अनित्य होजायगा, यह बात नहीं है। **एक जगह सावयवसंयोग तथा सावयव होने से सर्वत्र ही वैसा है यह बात नहीं है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम संयोग है** सो परमाणु में भी है। यद्यपि शांकर भाष्य में लिखा है कि एक परमाणु का परमाण्वन्तर के साथ संयोग सर्वात्मना है या एक देशेन, यह विकल्प करके दोनों पक्ष का खंडन किया है। पर नैय्यायिक ने संयोग प्रादेशिक माना है और मानकर भी आत्मनः संयोग भी माना है। आत्मा भी निष्प्रदेश मन भी निष्प्रदेश, लेकिन संयोग होता है। उसी चाल का परमाणु का भी संयोग होने में भी बाधा नहीं है।"

(न्याय प्रकाश, पृ० १०३, १०४,)

हमारे विचार से आक्षेप इतना प्रबल नहीं है जितना प्रतीत होता है। हम पहले शंकराचार्य्य जी के उसी वाक्य को उद्धृत करते हैं जिसका डाक्टर गंगानाथ झा के कथन में संकेत है। शंकर स्वामी के शब्द यह हैं:—

संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा (वे० भाष्य २।२।१२)

अर्थात् एक परमाणु का दूसरे परमाणु से संयोग या तो समस्त परमाणु के साथ होगा या एक परमाणु के एक भाग का दूसरे परमाणु के एक भाग के साथ।

दूसरी दशा के लिये आक्षेप करते हैं कि

एक देशेन चेत् सावयवत्वप्रसंगः

(वेदान्तभाष्य २।२।१२)

अर्थात् यदि एक परमाणु का एक भाग दूसरे परमाणु के एक भाग से मिलता हुआ माना जाय तो परमाणुओं को सावयव अर्थात् कई भागों वाला मानना पड़ेगा। परमाणु निरवयव माने जाते हैं इसलिये इस प्रकार का संयोग नहीं हो सकता।

अब रही पहली दशा अर्थात् कुल परमाणु कुल परमाणु के साथ मिले। इस पर शङ्कर स्वामी का आक्षेप यह है कि:—

सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्व प्रसंगो दृष्टविपर्यय प्रसंगश्च; प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्।

(वेदान्त भाष्य २।२।१२)

अर्थात् पहला आक्षेप तो इस पर यह है कि अगर कुल परमाणु कुल परमाणु से मिलेगा तो उपचय अर्थात् वृद्धि नहीं होने की, और दो अणु मिलकर भी परिमाण में एक अणु के बराबर ही रहेंगे। कई परमाणुओं के मिलने से जो लम्बी चौड़ी और बड़ी चीज़ें दिखाई पड़ती हैं वह न बन सकेंगी। दूसरा आक्षेप यह है कि केवल प्रदेश अर्थात् भागों वाली चीजें तो आपस में मिलती देखी जाती है। बिना भागों वाली नहीं। जब बिना भागों वाली चीज़ें मिलती देखी ही नहीं गईं, जब दृष्टान्त का ही अभाव है तो फिर कैसे माना जाय कि कुल

परमाणु कुल परमाणु के साथ मिल जाता है।

दूसरी दशा का आक्षेप तो परमाणुओं के साथ लागू ही नहीं होगा क्योंकि जब परमाणुओं के विभाग या अवयव हैं ही नहीं तो यह कहना कि एक परमाणु का एक भाग दूसरे परमाणु के एक भाग से मिलता है सर्वथा असम्भव है। हाँ परमाणुवादी यह मानते हैं कि कुल परमाणु का कुल परमाणु के साथ संयोग होता है। वस्तुतः हम 'कुल' शब्द का प्रयोग भी नहीं कर सकते क्योंकि 'कुल' शब्द भी सावयव पदार्थों के लिये आता है जिनके आधा, चौथाई आदि की सम्भावना हो सके। जिसके टुकड़े ही नहीं उसके लिये यह कहना कि कुल परमाणु कुल परमाणु के साथ मिलता है परमाणु शब्द के अर्थ को न समझना या समझ कर उसके साथ मखौल करना है। इसलिये हम शंकर स्वामी की भाँति "सर्वात्मना" तो नहीं कह सकते। हाँ "आत्मना" अवश्य कह सकते हैं। अर्थात् एक परमाणु स्वयं दूसरे परमाणु से मिलता है। भागों या अवयवों द्वारा नहीं।

इस पर शंकर स्वामी का आक्षेप है कि यदि परमाणु स्वयं दूसरे परमाणु से मिलेगा तो 'उपचय' अर्थात परिमाण वृद्धि न होगी। परन्तु यह कैसे ? यदि परिमाणु कोई खुखली वस्तु होती जैसे ढाल होता है तो एक परमाणु दूसरे परमाणु के भीतर समा जाता और संयुक्त द्वयणुक का परिमाण भी वही होता जो परमाणु का है। परन्तु जब परमाणु भिन्न २ आकाश को घेरते हैं तो उनके मिलने से भी दुगना आकाश घिरेगा और इस प्रकार परिमाण का उपचय भी अवश्य होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस स्थान में एक परमाणु है उसी स्थान में दूसरा परमाणु नहीं आ सकता। जब संयुक्त होते समय भी दो परमाणु भिन्न भिन्न आकाश को घेरे हुये हैं तो उपचय में सन्देह ही क्या रहता है ?

यदि कहो कि आकाश एक ही है उसमें भिन्नता का विचार नहीं किया जा सकता तो हम कहते हैं कि हम तुम्हारे ही शब्दों को दुहरा देंगे कि—

दृष्टविपर्ययप्रसंगः

अर्थात् ऐसा देखने में नहीं आता कि भिन्न २ वस्तुयें एक ही आकाश को घेरे हों। अर्थात् जहाँ मेज रक्खी है वहाँ कुर्सी नहीं और जहां कुर्सी है वहां मेज़ नहीं। शङ्कर स्वामी स्वयं

आकाशे चाविशेषात् (वेद० २। २। २४)

सूत्र पर भाष्य करते हुये लिखते हैं:—

एकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसंग।

अर्थात् एक पक्षी के उड़ने से आकाश के ढक जाने पर दूसरे पक्षी के उड़ने के लिये अवकाश न रहेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिस अवकाश को एक परमाणु घेरेगा उससे भिन्न अवकाश को ही दूसरा परमाणु घेर सकेगा अतः शङ्कराचार्य्य जी का यह कहना सर्वथा असङ्गत है कि दो परमाणुओं के स्वयं मिलने से परिमाण उपचय न होगा। शायद शंकर स्वामी यह समझते हैं कि एक परमाणु के दूसरे परमाणु के भीतर घुस जाने का नाम संयोग है। परन्तु यह बात नहीं है। जब एक आदमी दूसरे अदमी से मिलता है तो एक दूसरे के भीतर घुस नहीं जाता। वस्तुतः निकटस्थ आने का नाम ही संयोग है। संयुक्त वस्तुयें एक ही आकाश को नहीं घेरतीं। केवल निकट आ जाती हैं। एक ईंट जब दूसरे से संयुक्त होती हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह एक ही अवकाश को घेर लें। पाणिनि मुनि ने भी अष्टाध्यायी में कहा है:-

परः सन्निकर्षः संहिता

अर्थात् निकटतम आ जाने का नाम ही संयोग है। इसलिये एक परमाणु के स्वयं दूसरे परमाणु के सन्निकर्ष होने से उपचय अवश्य होगा।

यदि जिस प्रकार चीज़ें संसार में सयुक्त या विभक्त होती हैं उस पर दृष्टि डाली जाय तो पता लगता है कि एक परमाणु दूसरे से मिलकर न केवल दुगना ही किन्तु कभी कभी कई गुणा उपचय उत्पन्न करता है। यह बात उनके बीच की दूरी पर निर्भर है। ठोस पदार्थों के अणु अधिक निकट होते हैं। द्रव्य के कुछ दूर और वायव्य के अधिक दूर। अणु वही हैं परन्तु भिन्न भिन्न दूरी के कारण भिन्न भिन्न परिमाण रख सकते हैं। एक इञ्च रबर में वही अणु हैं जो बढ़ी हुई २ इञ्च रबर में। केवल भेद इतना है कि पहली दशा में अणु निकट हैं और दूसरी में वही अणु फैल गये हैं।

यहाँ एक बात का और विचार करना चाहिये। यदि परमाणुओं में अवयव होते तो उनका संयोग शंकर स्वामी भी मान लेते। क्योंकि वह स्वयं लिखते हैं।

प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात् (२।२।१२)

अर्थात् देखने में यही आता है कि अवयवों वाली चीज़ अवयवों वाली चीज़ के साथ मिलती है। अच्छा दो अवयवों वाली चीज़ों को ही संयुक्त करें। लकड़ी के दो टुकड़ों को लो। उनको मिलाओ। शङ्कर स्वामी कहते हैं कि एक लकड़ी का एक भाग दूसरी लकड़ी के एक भाग से मिलेगा? बहुत ठीक! परन्तु हम पूछते हैं कि यह दोनों मिलने वाले भाग एक ही

अवकाश को घेरेंगे या भिन्न भिन्न अवकाशों को। यदि एक ही अवकाश को घेरेंगे तो दो फुट लम्बे टुकडे से दो फुट लम्बा टुकड़ा मिलकर चार फुट कभी न होंगे किन्तु ४ फुट से उतने कम होंगे जितना उस भाग का परिमाण है जो मिल रहा है। कल्पना कीजिये कि मिलने वाला भाग य इंच लम्बा है तो शेष भाग रहा २ फुट — य इच। "य इंच" भाग "य इच" भाग से मिलकर "य इंच" ही हुआ २ य इंच न हुआ। इसलिये (२ फुट—य इञ्च) + य इञ्च + (२ फुट—य इञ्च) + य इंच = ४ फुट — य इंच। परन्तु ऐसा देखने मे नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि दोनों भाग मिलकर एक नहीं हो जाते। और दूसरा प्रश्न यह होगा कि कुल वस्तु का कौन सा भाग संयोग के लिये पर्याप्त समझा जाय और कौन सा नहीं? हम रोज़ देखते हैं कि दो फुट लम्बा धागा दो फुट लम्बे-धागे से मिल कर ठीक चार फुट होता है काम नहीं। यदि कहो कि दोनों लकड़ियों के दो मिलने वाले भाग भिन्न भिन्न अवकाश को घेरते हैं। इसलिये उपचय या परिमाण वृद्धि होती है तो उसी प्रकार दो परमाणुओं के भी भिन्न भिन्न अवकाश घेरने से उपचय में कोई हानि नहीं होगी।

अब एक बात रह जाती है। शंकर स्वामी कहते हैं कि सावयव वस्तु ही सावयव वस्तु के साथ संयुक्त होती हुई देखी जाती है, निरवयव वस्तु नहीं। "दृष्टत्वात्" या "देखा जाना" शब्द भी शंकर स्वामी के हाथ में कठपुतली है। इससे जब चाहा तब वैसा काम ले लिया, अभी पिछले अध्याय में स्वप्न के प्रसंग में दिखा चुके हैं कि जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये भी "दृश्यमानत्वात्" अर्थात् देखा जाना ही एक हेतु था। परन्तु अब सावयव पदार्थों के ही संयोग को सच्चा सिद्ध करने के लिये भी "दृष्टत्वात्" ही युक्ति दी। अच्छा तमाशा है कि 'सत्यत्व' सिद्ध करो तब भी कह दो कि हम तो ऐसा ही "देखते

हैं", और "झूठ" सिद्ध करो तब भी वही युक्ति दे कि हम "देखते" हैं, । धींगाधींगी तो इसी का नाम है, चित्त भी मेरी और पट्ट भी मेरी । दूसरा कहे कि अमुक वस्तु ठीक है क्योंकि दिखाई देती है तो तुम कहते हो कि नहीं । दिखाई देना सत्यता की दलील नहीं, किन्तु झूठ की दलील है और यदि दूसरा कहे कि अमुक वस्तु यद्यपि दिखाई नहीं देती तो भी अनुमान द्वारा ठीक है तो तुम कहो कि गलत, ठीक तभी होती जब दिखाई देती । यह कोई मीमांसा है ?

यह ठीक है कि निरवयव वस्तु से मिलने का संसार में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता । परन्तु क्यों ? इसलिये कि प्रत्यक्ष होता ही स्थूल और कार्य्य रूप जगत् का है,सूक्ष्मतम का नहीं । परन्तु अनुमान और तर्क की तो यहीं आवश्यकता होती है, यदि थोड़ा सा भी तर्क बुद्धि से काम लिया जाय तो पता चलता है कि जिस प्रकार दो सावयव वस्तुओं के एक एक अवयव मिल सकते हैं और वह अवयव यदि स्वयं सावयव हों तो उनके भी एक एक अवयव मिल सकते हैं और यदि वह अवयव भी सावयय हों तो उनके भी एक एक अवयव मिल सकते हैं इसी प्रकार वह परमाणु भी मिल सकते हैं जिनके कोई अवयव न हों ।

एक प्रकार से और विचार कीजिये । यदि आपका यह सिद्धान्त ठीक है कि सावयव पदार्थों के ही अवयव मिला करते हैं तो सोचना यह है कि मिलने के लिये अवयव चाहिये य अवयवी ? यदि कहो कि अवयवी स्वयं मिलते हैं और अवयवों के द्वारा नहीं तो, फिर अवयवों की आवश्यकता नहीं रहती और तुम्हारा यह कहना कि मिलने के लिये परमाणुओं

में अवयवों की आवश्यकता है निरर्थक हो जाता है। यदि कहो कि अवयवी अवयवों द्वारा मिलते हैं तो मिलने वाले अवयव हुये। न कि अवयवी। अवयवों के मिलने का ही यह अर्थ हुआ कि अवयवी मिल गये, जैसे यदि दो मेजों के कोने मिल गये तो समझ लिया कि मेज़ भी मिल गई, यदि दो आदमियों के हाथ मिल गये तो समझ लिया कि वह आदमी भी मिल गये। यदि अवयवों का ही एक दूसरे से मिलना है तो उन अवयवों के सावयव या निरवयव होने का प्रश्न नहीं रहता। यदि उन अवयवों के सावयव होने की आवश्यकता बताओगे तो अनवस्था दोष आयेगा और इस अनवस्था दोष को शङ्कर स्वामी ने पेट भर कर दूसरों के खण्डन में प्रयुक्त किया है। जब अवयवों के सावयव या निरवयव का प्रश्न जाता रहा तो जो वस्तु स्वयं दूसरी चीज़ का अवयव हो सकती है चाहे स्वयं निरवयव ही क्यों न हो वह अवश्य परस्पर मिल सकती है। "परमाणु" ऐसी ही वस्तु है। वह स्वयं तो निरवयव है परन्तु दूसरी वस्तुओं का अवयव हो सकता है। अर्थात् परमाणु तो दूसरी चीज़ों का टुकड़ा समझा जा सकता है परन्तु परमाणु के स्वयं भाग नहीं हो सकते। इस युक्ति पर थोड़ा सा भी विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि न केवल एक परमाणु ही दूसरे परमाणु से मिल सकता है अधिकन्तु जितनी वस्तुयें इस कार्य्य जगत में भी एक दूसरे से मिलती हैं, वह परमाणुओं के मिलाप के द्वारा ही मिलती हैं। यदि परमाणु न मिलते होते तो कोई वस्तु भी न मिल सकती। आप जो "दृष्टत्वात्" की मांग करते हैं वह माँग आपकी उसी प्रकार की है जैसे कोई कहे कि तुम्हारे मकान की बुनियाद ही नहीं। अगर है तो दिखा दो। अगर दिखाते हैं तो घर बरबाद होता है अगर नहीं दिखाते तो विपक्षी मानता नहीं। प्रत्यक्षवादियों की मांगें भी इसी प्रकार

की हुआ करती हैं। यदि तुम मुझसे कहो कि तुम्हारे शरीर में फेफड़े हैं ही नहीं क्योंकि दिखाई नहीं पड़ते तो मैं यही कहूँगा कि यदि तुम प्रत्येक चीज को देख कर ही जानना चाहते हो तो घर बैठो। ऐसे हठियों के लिये मैं अपने फेफड़े नहीं चीर सकता।

अब एक बात रह गई। क्या परमाणुओं में छः आठ या दश दिशायें हैं? थोड़ी देर के लिये "दिशाओं" के ज्ञान की मीमांसा कीजिये। हम छः दिशाओं से क्या समझते हैं? यही न कि जिस वस्तु में लम्बाई, चौड़ाई, या मुटाई हो उसकी एक ओर पूर्व, दूसरी ओर पश्चिम इत्यादि। गणितज्ञ जानते हैं कि ठोस चीजों में छः दिशायें होती हैं। परन्तु धरातलों में मुटाई नहीं होती इसलिये पूर्व पश्चिम दोनों वहाँ पर मिल जाते हैं। वस्तुतः धरातलों की दो दिशायें नहीं किन्तु एक ही होती हैं। धरातलों के भाव का विश्लेषण करने से रेखाओं का भाव उत्पन्न होता है। रेखा में लम्बाई होती है चौड़ाई नहीं होती। और विन्दु में न लम्बाई है न चौड़ाई। कई विन्दु मिलकर रेखा बनाते हैं, कई रेखायें धरातल और कई धरातल ठोस पना। यहाँ विन्दु शून्य नहीं है। इसका अवकाश में स्थान है। यह वस्तु है। जिस प्रकार विन्दु से रेखायें धरातल और घनत्व उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार परमाणु से द्व्यणुक होकर रेखा, त्रसरेणु होकर धरातल और चतरेणु होकर घनत्व उत्पन्न होता है। उसका मोटा उदाहरण नीचे के चित्र से दे सकते हैं।

· परमाणु = विन्दु के समान

— या ·· द्व्यणुक = रेखा के समान

△ या .˙. त्रसरेणु = धरातल के समान

□ या चतरणु = घन के समान

इस प्रकार परमाणु वह सूक्ष्मतम पदार्थ हैं जिसमें लम्बाई चौड़ाई या मोटाई नहीं। कल्पना के लिये छः दिशाओं की

कल्पना कर लीजिये परन्तु परमाणु की छओं दिशाये मिली हैं, एक हैं। छः नहीं। दिशाओं का बोध हो ही नहीं सकता, जब तक आकाश का ध्यान न किया जाय। आकाश का विचार करने से ही दिशा का विचार होता है। इसलिये जब तक परमाणु के भीतर आकाश न माना जाय उस समय तक यह कहा नहीं जा सकता कि परमाणु में छः दिशायें हैं। परमाणु अवकाश को घेरता है परन्तु परमाणु के भीतर* अवकाश नहीं है। अवकाश उन्हीं वस्तुओं के भीतर होता है जो परमाणुओं से बनी हैं।

शांकर-भाष्य में परमाणुओं के खण्डन में जो अयुत् सिद्धि, संयोग और समवाय आदि की मीमांसा करके युक्तियाँ दी गई हैं उनका शंकर स्वामी को उस समय तक अधिकार ही नहीं था जब तक वह न्याय की युक्तियों का प्रमाणत्व स्वीकार न कर लेते। परन्तु उन्होंने उसका प्रमाणत्व स्वीकार न करते हुये भी उन्हीं के द्वारा अपने मत के पोषण करने की चेष्टा की है।

हमने यहां केवल इतना सिद्ध किया है कि ईश्वरैक्यवादी जगत् के उपादान कारण के बहुत्व से इनकार नहीं करते। वह मानते हैं कि संसार में जो बहुत्व देखा जाता है वह एक ही वस्तु का परिणाम नहीं किन्तु असंख्यों जड़ परमाणुओं और चेतन-जीवों के संयोग का फल है। ईश्वरैक्यवादी केवल इतना मानते हैं कि ईश्वर एक ही है। ईश्वर दो या अधिक नहीं।

अब थोड़ा सा इस बात का भी विचार करना चाहिये कि ईश्वर के एक मानने से क्या प्रयोजन है।

---

*नोट—भीतर बाहर शब्दों के औचित्य आदि के विषय में देखो न्यायदर्शन ४। २। १७—२५

संसार में देखते हैं कि केवल उपादान कारण से ही कार्य्य नहीं हो जाता। केवल मिट्टी से ही घड़ा नहीं बनता, कुम्हार भी तो चाहिये। केवल आटे से रोटी नहीं बनती। रसोइया चाहिये। जिन परमाणुओं को हमने ऊपर वर्णन किया है वह जड़ है स्वयं न मिल सकते हैं न अलग हो सकते हैं। यदि परमाणुओं में चेतनता होती तो उनसे बने हुये मेज़ कुर्सी आदि में भी चेतनता होनी चाहिये थी। अतः आवश्यकता है कि परमाणुओं को परस्पर मिलाने वाली एक सत्ता हो। उसी का नाम ईश्वर है। संसार में जीव आदि चेतन सत्तायें भी पाई जाती हैं। परन्तु उनकी शक्ति अल्प है। वह स्वयं एक अत्यन्त अल्प सीमा के भीतर ही काम कर सकती हैं और उनको सीमा के भीतर रखने के लिये भी एक बड़ी सत्ता की आवश्यकता है। इसी को ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। उपनिषद् में कहा है।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म

अर्थात् ब्रह्म एक ही है। दूसरा नहीं। और वेद में भी ऐसा ही आया है:—

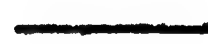
**कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मण-
वर्चसं चान्नंचान्नाद्यं च ॥ १४
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥**

**न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।**

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।

(अथर्व वेद काण्ड १३, सूक्त ४, पर्य्याय २, मंत्र १४-२१)

अर्थात् चर, अचर, जड़, चेतन सभी का नियन्ता एक ईश्वर है। एक से अधिक नहीं। वेदों में बहुत से ऐसे मन्त्र पाये जाते हैं जो ईश्वरैक्यवाद की पुष्टि करते हैं, और सृष्टि को देखने से भी ऐसा ही पता चलता है। क्योंकि जितने जीव और परमाणुओं के मिलने से संसार की जितनी भिन्न २ वस्तुयें या क्रियायें देखी जाती हैं उन सब में एक ऐसा नियम काम कर रहा है जिससे संसार की एक मात्र अधिष्ठात्री शक्ति या सत्ता की सिद्धि होती है। इसका निराकरण हम अपनी पुस्तक आस्तिकवाद के प्रथम संस्करण❀ के पृ० १७०-१७५ में कर चुके हैं। यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

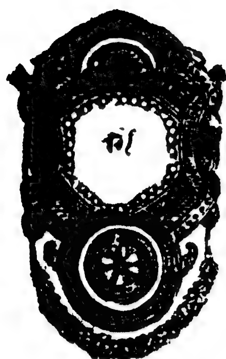


❀ द्वितीय संस्करण (पृ० १४४-४८)

सातवाँ अध्याय

—:o:—

कारणैक्यवाद



रणैक्यवादी यह तो मानते हैं कि जिस संसार को हम प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा देखते हैं वह है। वह कार्य्यरूप है। बनता है बिगड़ता है। छलावा नहीं है, मिथ्या नहीं है। परन्तु उनका कहना है कि इस सब का **कारण एक** है।

कारणैक्यवाद की कई शाखायें हो सकती हैं :—

(१) **जड़ कारणवाद**—अर्थात इस समस्त सृष्टि का उपादान कारण एक जड़ वस्तु है जिसके द्वारा संसार की सभी वस्तुयें बनती हैं।

(२) **चेतन निमित्त कारणवाद**—अर्थात् इस समस्त जगत् का एक निमित्त कारण है जो चेतन है। इसका उपादान कारण कुछ भी नहीं। वह चेतन ही स्वयं अपनी चेतनता से सृष्टि को रचता, पालता और नष्ट करता है।

(३) **चेतनोपादान कारणवाद**—अर्थात् इस जगत् का उपादान कारण एक चेतन सत्ता है, उसी से यह सृष्टि उत्पन्न होती है।

ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं मिलता जो एक जड़ वस्तु से समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति मानता हो। हाँ कुछ लोग जैसे चारवाक या हैकिल आदि यह मानते हैं कि जड़ परमाणु ही स्वभावतः अनेक प्रकार के जड़ या चेतन कार्य्यों को उत्पन्न करते हैं। यह भी एक प्रकार से बहुत्ववादी ही हैं। क्योंकि इनके मत में कोई एक जड़ पदार्थ संसार का कारण नहीं है। यह जड़ परमाणु स्वयं ही संसार की उत्पत्ति कैसे कर देते हैं यह बात मानना कठिन है क्योंकि किसी वस्तु की जड़ता स्वयं इस बात का हेतु है कि वह स्वयं न हिल सकती है न किसी दूसरी वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। यही तो कारण है कि आस्तिकवादी एक ऐसी चेतन और सर्वशक्ति-सम्पन्ना सत्ता को मानते हैं जो इन परमाणुओं को अपनी बुद्धि के अनुसार संयुक्त और वियुक्त कर सके। हम यहाँ स्वभाववादियों के मत की विस्तृत मीमांसा करना नहीं चाहते। हमारी बनाई हुई आस्तिकवाद नामी पुस्तक में इसका पर्याप्त उल्लेख आ चुका है। कुछ नव्य सांख्यमत वाले यद्यपि कारणैक्यवादी तो नहीं हैं अर्थात् पुरुष और प्रकृति दो वस्तुओं को अनादि मानते हैं परन्तु वह ईश्वर को नहीं मानते और पुरुष को भी कर्त्ता नहीं मानते। प्रकृति से ही संसार की उत्पत्ति मानते हैं। इस अंश में और केवल संकुचित अर्थ में हम इनको कारणैक्यवादी कह सकते हैं। परन्तु केवल प्रकृति संसार के निर्माण में सर्वथा अशक्त है। इस बात का शंकर और रामानुज दोनों ने भली प्रकार अपने वेदान्त भाष्यों में खण्डन किया है। शंकरस्वामी :—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् (वेदान्त २। २। १)
पर भाष्य करते हुये लिखते हैं।

नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्

विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान् विकारान् विरचयद्दृष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुख दुःख प्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते। तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगययोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभाविततमैः शिल्पिभिर्मनसाप्या लोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्। लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते। तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्व पूसंगः।

इसका अर्थ यह है कि संसार में हमको कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जिसमें केवल जड़ पदार्थ ही बिना चेतन की सहायता के कुछ भी बना सके। घर आदि को शिल्पि लोगों ने ही बनाया है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि बाहरी पदार्थ और शरीर आदि भीतरी सभी **अकेली** एक रस और अखण्ड जड़ प्रकृति से नहीं बन सकते जब तक कि इसमें एक चेतन सत्ता की सहायता न मिले।

श्री रामानुजार्यजी इस सूत्र पर श्रीभाष्य में लिखते हैं :—

न भवदुक्तं पूधानं विचित्रगद् रचना समर्थम्।

अर्थात् अकेली प्रकृति से विचित्र संसार की रचना नहीं हो सकती। यह प्रतिज्ञा हुई। अब हेतु देते हैं।

अचेतनत्वे सति तत् स्वभावाभिज्ञानधिष्ठितत्वात् ।

क्योंकि प्रकृति जड़ है। और उसको चलाने वाली कोई ऐसी सत्ता नहीं जो उसके स्वभाव से परिचित हो।

इस पर दृष्टान्त दिया :—

तदेवं तत्तथा यथा रथ प्रासादादिनिर्माणो केवलदार्वादिक् ।

जैसे रथ या घर आदि केवल लकड़ी आदि से ही नहीं बन सकते हैं। इसके आगे के सूत्र में इसी बात को अधिक स्पष्ट किया है।

पयोम्बुवच् चेत् तत्रापि (वेदान्त २ । २ । ३)

पर शंकर स्वामी लिखते हैं :—

स्यादेतत्—यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दते, एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति। नैतत्साधूच्यते। यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे ।

अर्थात् यदि स्वभाववादी कहें कि स्तनों में दूध आना या जल का बहना विना चेतन की सहायता के केवल स्वभाव से ही होता है तो यह दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि दोनों दशाओं में चेतन की सहायता से काम होता है।

श्री भाष्य में भी लिखा है :—

तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते ।

अर्थात् इन दोनों दृष्टान्तों में बिना चेतन के प्रवृत्ति नहीं होती। हमने शङ्कर और रामानुज के भाष्यों के उपर्युक्त उदाहरण इस लिये दिये हैं कि वह हमारे बहु-कारणवाद की पुष्टि करते हैं। न केवल व्यास मुनि के सूत्र से ही किन्तु शंकर और रामानुज के भाष्यों से भी प्रकट होता है कि प्रत्येक रचना के लिये दो कारण चाहिये—एक उपादान जो जड़ है और दूसरा निमित्त जो चेतन है। शंकर का 'घर' का दृष्टान्त और रामानुज का 'रथ' का दृष्टान्त प्रकट करते हैं कि घर के लिये उपादान मिट्टी और निमित्त थवई चाहिये। इसी प्रकार 'रथ' के लिये उपादान लकड़ी और निमित्त 'बढ़ई' चाहिये। यहाँ "केवल" शब्द ध्यान देने योग्य है :—

यथः रथप्रासादादिनिर्माणे केवल दार्वादिकम्।

(श्रीभाष्य २।२।१)

श्री शङ्कराचार्य जी ने उसी भाव को 'केवल' के स्थान में 'एवं' शब्द से प्रकट किया है :—

न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किंचिन्नियामकमस्ति।

(शांकर भाष्य २।१।१)

इसी अध्याय के दो सूत्रों के भाष्य द्रष्टव्य हैं :—

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् (वेदांत २।२।४)

यह वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय, दूसरे पाद का ४ था सूत्र है। इस पर शङ्कर स्वामी लिखते हैं :—

अनपेक्षत्वाच्च कदाचित् प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतद् अयुक्तम्।

अर्थात् बिना (चेतन की) सहायता के प्रकृति कभी महत्तत्व बन जाती है, कभी नहीं। यह ठीक नहीं।

इसी पर श्री रामानुजाचार्य जी लिखते हैं—

इतश्च सत्यसंकल्पेश्वराधिष्ठानानपेक्ष परिणामित्वे सर्गव्यतिरेकेण प्रति सर्गावस्थाया अनवस्थिति प्रसंगाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्।

अर्थात् यदि ईश्वर के संकल्प के बिना केवल प्रकृति ही संसार बना सके तो सृष्टि-निर्माण से उलटा प्रलय का व्यापार भी नहीं हो सकेगा। अर्थात् जिस प्रकार सृष्टि निर्माण के लिये निमित्त कारण की जरूरत है उसी प्रकार प्रलय अर्थात् सृष्टि के बिगड़ने के लिये भी।

इससे अगला सूत्र यह है :—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् (वेदांत २। २। ५)

इस पर शंकराचार्य लिखते हैं :—

स्यादेतत्—यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेणपरिणमते, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति... अत्रोच्यते—भवेत् तृणादिवत् स्वाभाविकः प्रधानस्यापिपरिणामो, यदि तृणादेरपि स्वाभाविकःपरिणामोऽभ्युपगम्येत नत्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः? अन्यत्राभावात्। धेन्वैवह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति, न प्रहीणमनडुदाद्युपयुक्तं वा।

अर्थात् घास खाने से गौ ही दूध दे सकती है बैल या बाँझ गौ नहीं। इससे सिद्ध है कि घास से स्वभावतः दूध नहीं उत्पन्न होता है किन्तु वहाँ भी निमित्त की अपेक्षा है।

श्री भाष्य में है :—

अतो धेन्वाद्युपभुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरीकरोति।

(२।२।४)

अर्थात् गाय जो चारा आदि खाती है उसका चेतन की अपेक्षा से ही दूध बनता है। अन्यथा नहीं।

इसलिये केवल जड़ पदार्थों से चाहे वह एक अखण्ड हो चाहे कई, न सृष्टि बन ही सकती है, न बिगड़।

कारणैक्यवादियों का प्रयत्न है कि येन केन प्रकारेण उपादान और निमित्त के द्वित्व को मिटा दिया जाय और केवल एक ही कारण से काम निकाला जाय। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि जगत् का कारण केवल एक ही नहीं किन्तु बहुत से है। उपादान के बहुत्व और निमित्त के अतिरिक्त देश, काल आदि भी तो अनेकों साधारण कारण हैं। इन सब के भेद को मिटाकर एक किस प्रकार कर सकेंगे। परन्तु और सब के एकीकरण के विषय में अगले अध्याय में वर्णन करेंगे, इस समय केवल दो अर्थात् निमित्त और उपादान का ही निपटारा हो जाना चाहिये।

इस अध्याय में अब तक हमने यह दिखलाया है कि जड़ोपादान कारणैक्यवाद के न तो पक्ष में कोई है और न जड़ उपादान से ही सृष्टि बन सकती है। जड़ निमित्त कारणैक्यवाद का तो प्रश्न ही संसार में न कभी उठा और न उठने की आशा है क्योंकि चेतनता और निमित्त कारण यह दोनों कुछ अंशों में पर्याय समझे जाते हैं। यह भाव कि अमुक वस्तु जड़ है और फिर भी निमित्त कारण है न समझ में आया और न आ सकता

है। अन्नंभट्ट ने अपनी तर्क संग्रह की तर्कदीपिका में निमित्त कारण का यह लक्षण किया है।

उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम् ।

(Bombay San. Series dition पृ० १३)

अर्थात् जिसमें उपादान गोचर अपरोक्षज्ञान हो, अर्थात् जो उपादान कारण को भली भांति पूर्णतया जानता हो, जिसमें चिकीर्षा या काम करने की इच्छा हो, कृति अर्थात् क्रिया या प्रयत्न हो वह कर्त्ता या निमित्त कारण है। जैसे बढ़ई लकड़ी से परिचित है उस में रथ बनाने की इच्छा है और वह उस इच्छा को कार्य-रूप में परिवर्त्तित कर सकता है इसलिये बढ़ई को कर्त्ता या निमित्त कारण कहते हैं। जिस निमित्त के लिये ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न चाहिये उसको जड़ कैसे कहें यह समझ में नहीं आता। इसलिये जहाँ जड़ोपादान कारणैक्य असम्भव है वहाँ जड़ निमित्तकारणैक्य उससे भी अधिक असम्भव है अब चेतन को लेते हैं।

पहले चेतन निमित्त कारणैक्य को लीजिये अर्थात् क्या यह सम्भव है कि केवल एक चेतन सत्ता ही हो और निमित्त कारण हो और उसके अतिरिक्त जगत् का उपादान कारण कोई न हो।

सम्भव है या नहीं। यह एक दूसरा प्रश्न है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संसार का एक बहुत बड़ा भाग इस मत का पोषक है। समस्त ईसाई जगत्, समस्त युहूदी जगत और समस्त मुसलमान जगत् इस बात को मानता है कि पहले खुदा था, खुदा के सिवाय कुछ न था, खुदा ने ही सृष्टि बनाई, खुदा उसका निमित्त कारण है, खुदा उसका उपादान कारण नहीं। खुदा को

उपादान कारण की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार यह लोग यह मानते हैं कि एक चेतन निमित्त कारण से ही सृष्टि बन जाती है। वह खुदा की तारीफ़ करते हुये कहते हैं कि खुदा वह है जो हमको अदम से वुजूद में लाया अर्थात् जिसने हमको अभाव या शून्य से उत्पन्न किया।

क़ुरान शरीफ़ में आता है कि खुदा ने कहा 'कुन' "फयकून"। बाईबिल में लिखा है कि ख़ुदा ने कहा "हो जा" और बस हो गया। उपनिषदें भी कहती हैं ईश्वर ने इच्छा की और सृष्टि उत्पन्न हो गई। परन्तु इनमें से किसी से यह पता नहीं चलता कि सृष्टि का उपादान कारण क्या था। खुदा ने "कुन" किससे कहा या "हो जा" की आज्ञा किसको दी। यदि यह कहा जाय कि इससे केवल ईश्वर की सृष्टि निर्माण की इच्छा प्रकट होती है तो भी तो उपादान कारण सम्बन्धी प्रश्न वहीं का वहीं रहा जाता है। उसके सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिलती।

जब हम सृष्टि के भिन्न २ पदार्थों पर दृष्टि डालते हैं तो एक बात हमारी समझ में नहीं आती। वह यह कि बिना उपादान कारण के कार्य हो जाने का भाव ही मनुष्य के हृदय में कैसे उत्पन्न हुआ? चाहे कोई भाव ठीक हो या ठीक न हो। परन्तु उसकी उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होता है। संसार में तलाश करने से भी हमको कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जो शून्य या अदम से सृष्टि या वुजूद की उत्पत्ति का उदाहरण देता हो। हम जिस जिस कार्य को देखते हैं उस सभी का हम को उपादान कारण मिलता है। यह तो सम्भव है कि निमित्त कारण हमारी दृष्टि से ओझल हो और उस तक पहुँचने के लिये किसी तर्क या अनुमान की आवश्यकता हो परन्तु उपा-

दान तो हमारी आंखों से ओझल भी नहीं होता। जिस घड़ी साज़ ने घड़ी बनाई वह हमारे सामने नहीं परन्तु जिस लोहे से घड़ी बनाई गई वह अब भी घड़ी के रूप में विद्यमान है। जिस मेज़ पर मैं बैठा हूँ उसको बनते मैंने नहीं देखा और न मुझे उस बढ़ई का पता है। परन्तु बिना बहुत कुछ विद्या प्राप्त किये हुये भी यह मान लेना कठिन नहीं कि मेज़ का उपादान कारण लकड़ी है क्योंकि जो गुण या स्वभाव लकड़ी के होने चाहिये वह सब के सब मौजूद हैं। जिस सुनार ने कान की बाली बनाई उसका मुझे कुछ पता नहीं परन्तु जिस सोने से वह बाली बनाई गई थी वह प्रत्यक्ष हो रहा है। वही रंग, वही रूप, वही घनत्व वही अन्य गुण, फिर संसार में कौन सी वस्तु है जिससे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो सके? कुछ लोग शायद जादू को इसका दृष्टान्त समझते हैं। उनकी कल्पना है कि जादू द्वारा बहुत सी चीजें बिना उपादान के बन जाती हैं। हम 'माया', के अध्याय में बता चुके हैं कि जादू वस्तुतः कोई ऐसी विद्या नहीं है जो अभाव से भाव उत्पन्न कर दे। गीता में एक स्थान पर आया है कि

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।२ १६)

अर्थात् न शून्य से कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई वस्तु शून्य हो सकती है। इसी का वेदान्तदर्शन के

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ (वेदान्त दर्शन २।२।२६)

के भाष्य में श्री शङ्कर स्वामी ने भली प्रकार स्पष्ट किया है। वह पहले पूर्व पक्ष लिखते हैं:—

दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्यप्रादुर्भावात्' इति। विनष्टाद्धि किल बीजा-

दङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद् दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चेत्कारणात् कार्यमुत्पद्येताविशेषात् सर्वं सर्वतः उत्पद्येत। तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद् भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते।

जो लोग अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं उनकी दलील यह है कि जब तक बीज का उपमर्दन नहीं हो जाता उस समय तक अङ्कुर उगता ही नहीं। जब तक दूध का नाश नहीं होता उस समय तक दही नहीं बनता और न मिट्टी के पिण्ड से घड़ा। यदि एक कूटस्थ कारण से कार्य उत्पन्न होता तो कूटस्थ कारण सामान्य रीति से हर स्थान पर उपस्थित है फिर सब चीज़ों से सभी चीज़ें बन जानी चाहिये थीं। इससे सिद्ध होता है कि अभाव में ग्रस्त जो बीज है उसी से अङ्कुर निकलता है अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। इस पर शङ्कर स्वामी उत्तर पक्ष लिखते हैं:—

तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वात्' इति। नाभावात् भाव उत्पद्यते।

अर्थात् इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि 'असत्' से उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। इसको स्पष्ट करने के लिये आक्षेपों का उत्तर दिया है। पहला आक्षेप तो यह था कि यदि कूटस्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो सभी चीज़ों से सभी चीज़ें उत्पन्न हो सकेंगी क्योंकि कूटस्थ कारण तो सब जगह एक सा ही है। इसका उत्तर शंकर स्वामी ने यह दिया है कि

यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् ।

अर्थात् यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती तो अभावत्व के हर स्थान पर एक सा होने से विशेष कारण के सम्पादन की आवश्यकता न पड़ा करती। जब मेज़ बनाते हैं तो लकड़ी ढूढंते हैं। जब मिठाई बनाते हैं तो घी, मैदा और शक्कर की तलाश होती है, जब आभूषण बनाते हैं तो सोने या चांदी का सम्पादन करते हैं। यदि अभाव से ही चीज़ें बन जाया करतीं तो लकड़ी का अभाव, और घी मैदा शक्कर का अभाव और सोने चांदी का अभाव सब एक से हैं। फिर क्या ज़रूरत है कि भिन्न २ कारणों को सम्पादन करने का यत्न किया जाय।

पूर्व पक्ष ने दृष्टान्त दिया कि बीज और दूध के नष्ट होने पर अङ्कुर या दही बनते हैं अर्थात् जब तक बीज का नाश नहीं होता उस समय तक अङ्कुर नहीं उगता। जब तक दूध का अभाव नहीं हो जाता उस समय तक दही नहीं बनता। इसके उत्तर में शंकर स्वामी ने लिखा है:—

नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादिनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येनबीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात्। निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्। न चैवं दृश्यते।

"जैसे बीज के नष्ट होने पर बीज का अभाव, उसी प्रकार खरगोश के सींग का अभाव। अभाव दोनों एक से। फिर ऐसा क्यों है कि बीज से ही अङ्कुर उगे और दूध से ही दही बने। यदि अभाव अभाव दोनों एक से हैं तो खरगोश के सींग से भी अङ्कुर उपजना चाहिये। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता"।

यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतो-त्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्वादेवा भावस्य भावत्वमुत्पलादिवत् प्रसज्येत।

"अगर कहो कि अभाव अभाव में भेद है जैसे कमल में नीलापन एक विशेषता है इसी प्रकार भिन्न २ वस्तुओं के अभाव भी भिन्न २ प्रकार के हैं तो जिस प्रकार कमल का भाव है उसी प्रकार वह विशेष प्रकार का अभाव अभाव न होगा किन्तु भाव ही होगा।"

नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतु; स्यात्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिवत्।

अभाव केवल अभाव होने के कारण किसी की उत्पत्ति का हेतु नहीं होता। जैसे खरगोश के सींग से कुछ भी नहीं बन सका।

अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्विान्वितमेव सर्वकार्यं स्यात्। न वद्दृश्यते; सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्। न च मृन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्विता-न्भावांल्लोकः प्रत्येति।

अगर अभाव से भाव उत्पन्न होता तो कार्य में भी अभाव के गुण होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न २ कार्य्यों के भिन्न भिन्न गुण होते है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है तो उसमें मिट्टी के गुण होते हैं। धागों के गुण नहीं होते। और धागों से कपड़ा बनता है तो उसमें धागों के गुण होते हैं मिट्टी के नहीं होते इससे मालूम होता है कि अभाव से भाव नहीं उत्पन्न होता।

यत्तूक्तं स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित् कूटस्थस्य वस्तुनःकारणत्वानुपपत्तेरभावाद् भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हतीति, तदुरुक्तम्।

और जो यह दलील दी गई है कि जब तककिसी वस्तु का नाश नहीं हो जाता उस समय तक कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं होतीं। यह भीं ठीक नहीं है।

स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादि कार्य कारणभावदर्शनात्।

देखने में आता है कि स्थिर स्वभाव वाले सोने चांदी आदि ही आभूषण आदि के कारण हो सकते हैं।

येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दोलक्ष्यते, तेष्वपि नासावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते; अनुपमृद्यमानानामेवा नुयायिनाँ बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्।

बीज आदि के नाश का जो दृष्टान्त दिया वह भी ठीक नहीं क्योंकि बीज का जो अंश नाश हो जाता है उससे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता किन्तु बीज के उस अंश से अङ्कुर उत्पन्न

होता है जो नाश होने के पीछे शेष रह जाता है। इसलिये अङ्कुर का कारण बीज का नष्ट हुआ अंश नहीं किन्तु बचा हुआ अंश है।

इसी की पुष्टि में एक और हुतु दिया है:--

उदासीनानामपि चैवंसिद्धिः।

(वे० २।२ २७)

यदि चाभावाद् भावोत्पत्तिरभ्युगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमत-सिद्धिः स्यात्; अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्र कर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यत्रोत्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। (शङ्कर भाष्य)

अर्थात् अगर अभाव से भाव की उत्पत्ति होती तो आलसी लोगों को भी अपनी चाही हुई चीजें उसी प्रकार मिल जाया करतीं जैसे पुरुषार्थी मनुष्यों को। क्योंकि अभाव तो सभी को सुगमता से प्राप्य है। किसान बीज न बोता और अन्न उग आता। कुम्हार मिट्टी न सानता और घड़ा बन जाता। जुलाहा ताना बाना न बनाता और कपड़ा बन जाता। फिर तो कोई किसी काम के लिये परिश्रम ही न करना। इस सब व्यापार से यही सिद्ध होता है कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता अर्थात् प्रत्येक वस्तु के लिये उसका उपादान कारण भी अवश्य चाहिये।

शायद कुछ लोग कहेंगे कि संसार के मनुष्य अवश्य उपादान कारण के बिना कुछ नहीं बना सकते। परन्तु यह उनकी अल्पता का कारण है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने से सभी कुछ कर सकता है और इस प्रकार अदम से वुजूद अर्थात शून्य से वस्तुओं का निर्म्माण भी कर सकता है। इनका कहना है कि यदि ईश्वर को भी बढ़ई की तरह लकड़ी या उपादान कारण की अपेक्षा हो तो ईश्वर भी बढ़ई के समान हो जाय। उसमें ईश्वरत्व ही किस बात का रहे। परन्तु यह उन लोगों की नितान्त भूल है। वह यह समझते हैं कि ईश्वर एक ऐसी विचित्र सत्ता है जिसका व्यापार संसार के व्यापार से कुछ भी नहीं मिलता। यदि मिल गया तो ईश्वर के ईश्वरत्व में भेद आ गया। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो संसार के प्रत्येक कार्य से ईश्वर के ईश्वरत्व का परिचय तथा उदाहरण मिलता है। ईश्वर ने बिना उपादान कारण के न कभी कुछ बनाया न अब कुछ बनाता है। आजकल इस कार्य जगत् में भी तो हम रात दिन ऐसे कार्य देखा करते हैं जिनको किसी मनुष्य ने नहीं बनाया किन्तु उसका निमित्त कारण अर्थात कर्त्ता ईश्वर ही है। फिर क्या वह कार्य बिना उपादान के ही बन जाते हैं। माना कि मनुष्य अल्प है अतः जब उसे बर्फ़ बनानी होती है तो उपादान अर्थात पानी की आवश्यकता होती है। परन्तु जब ईश्वर हिमालय पर्वत की चोटी पर बर्फ़ बनाता है तो उसको भी पानी की ज़रूरत पड़ती ही है। उस समय उसकी शर्वशक्तिमत्ता कहां जाती है? एक वाष्पयान (भाप की कल) चलाने वाला पुरुष भाप बनाने के लिये पानी गर्म करता है। तुम कहते हो कि उसको अल्पता के कारण पानी की आवश्यकता होती है। यदि वह ईश्वर के समान सर्वशक्तिसम्पन्न होता तो कदापि पानी से भाप बनाने

का कष्ट न उठाता। परन्तु यह बात नहीं है। हम ईश्वर को भी पानी से ही भाप बनाता हुआ देखते हैं। जब गर्मी पड़ती है तो सूर्य्य की किरणें उसी प्रकार समुद्र के जल को भाप बना देती हैं जैसे इंजन के बोयलर (भट्टी) की आग इंजन के पानी की भाप बनाती है। काम समान ही है परिमाण का भेद है। यदि ईश्वर बिना उपादान के सृष्टि बना सकता या बनाना चाहता तो संसार की अनेक अमानुषी घटनाओं के लिये उस सामग्री की ज़रूरत न होती जिसको हम नित्य प्रति प्रयुक्त हुआ पाते हैं। हम एक भी घटना तो नहीं देखते जिसमें सामग्री की ज़रूरत न हो। सायंस के परीक्षणालयों (laboratory) में क्या हो रहा है? दुनिया भर के वैज्ञानिक इसी खोज में लगे रहते हैं कि देखें ईश्वर ने किस सामग्री से क्या बनाया। जिससे उसका अनुकरण हम भी कर सकें। रासायनिक विश्लेषण (chemical analysis) क्या है?—यह जानने की कोशिश कि किस प्रकार और किन किन वस्तुओं से ईश्वर ने अमुक वस्तु बना दी। संसार के डाक्टर और वैद्यों का क्या काम है? वह पहले यह जानने की कोशिश करते हैं कि ईश्वर ने हमारे शरीर के भिन्न २ अवयवों को किस किस सामग्री से बनाया और किस किस वस्तु का क्या क्या परिमाण या अनुपात था। जब उनको यह मालूम हो जाता है तो जौन सा अंश कम होता है उसी अंश का प्रवेश करके रोग निवृत्ति करते हैं। जिस प्रकार बढ़ई लकड़ी से मेज़ बनाता है उसी प्रकार ईश्वर मिट्टी के कणों से वृक्ष बनाता है। जिस प्रकार कर्त्ता बढ़ई को उपादान लकड़ी की आश्यकता होती है उसी प्रकार ईश्वर कर्त्ता को भी उपादान मिट्टी की आवश्यकता होती है। यदि लोहार को हथियार बनाने के लिये लोहे की ज़रूरत है तो ईश्वर को भी लोहा बनाने के लिये अन्य सूक्ष्म पदार्थों की ज़रूरत पड़ती है जिनसे लोहा

बनता है। यदि हम को रोटी बनाने के लिये गेहूँ की जरूरत हैं तो ईश्वर ने गेहूँ को भी तो शून्य से उत्पन्न नहीं कर दिया ? गेहूँ का उपादान वह सब अंश हैं जो खेत को मिट्टी में मौजूद थे इस लिये यह कहना कि ईश्वर को ईश्वर सिद्ध करने के लिये यह भी ज़रूरी है कि वह विना उपादान कारण के चीज़ बनाया करे, सर्वथा भूल करना है।

कुछ लोग शायद आक्षेप करें कि चाहे युक्ति से संसार का उपादान कारण आवश्यक भी प्रतीत होता हो तब भी यह वैदिक सिद्धान्त नहीं है। अर्थात् वेदों में असत् से ही सत् की उत्पत्ति मानी है। हम ऊपर वेदान्त का एक सूत्र दे चुके हैं जिसमें असत् से सृष्टि की उत्पत्ति मानने का खण्डन किया है। अर्थात् व्यास मुनि जो वेदों के अनुयायी थे संसार के उपादान की आवश्यकता समझते थे। परन्तु कुछ वेद मंत्र ऐसे हैं जिनकी इस विषय में अवश्य मीमांसा होनी चाहिये अन्यथा भ्रम का स्थान रह ही जाता है:—

ब्रह्मणस्पतिरेता स कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

(ऋग्वेद १०।७२।२)

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥

(ऋग्वेद १०।७२।३)

इन दोनों मंत्रों में स्पष्ट है कि "असत्" से 'सत्' उत्पन्न हुआ। बृहदारण्यक उपनिषत् में लिखा है:—

नैवेह किंचनाग्र आसीन् मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। (१।२।१)

पहले कुछ भी न था, यह मृत्यु से ही ढका हुआ था।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नात्यदात्मनोऽपश्यत्। (१।४।१)

आत्मा ही पहले था पुरुष के समान, उसने अपने सिवाय किसी को न देखा।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। (१।४।११)

ब्रह्म ही पहले था अकेला।

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। (१।४।१७)

पहले आत्मा ही था अकेला।

यहाँ बृहदारण्यक में दो बातें दी हैं। एक स्थान पर तो कहा कि पहले कुछ न था। इससे प्रतीत होता है कि 'असत्' अर्थात शून्य से ही सृष्टि बनी। दूसरे स्थान पर कहा कि 'ब्रह्म' या 'आत्मा' ही पहले था। इससे प्रतीत होता है कि केवल निमित्त कारण था, उपादान नहीं। इस निमित्त कारण ने विना उपादान के ही सृष्टि बना ली।

छान्दोग्योपनिषत् में असत् से सत होने का खण्डन किया है :—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत। कुतस्तुखलु सोम्यैवँ स्यादिति हो वाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्यदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। (छान्दोग्य अ० ६।२।१, २, ३)

"हे सौम्य पहले 'सत्' ही था एक अद्वितीय। कुछ कहते हैं कि पहले 'असत्' ही था एक अद्वितीय। और असत् से सत् उत्पन्न हुआ। हे सौम्य! भला ऐसा कैसे हो सकता है, 'असत्' से 'सत्' कैसे उत्पन्न हो सकता है। इसलिये पहले एक, अद्वितीय, सत्य ही था। उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।"

छान्दोग्य के इस युक्तियुक्त वाक्य से भी उलझन नहीं सुलझती। इसमें दो बातें विचारणीय हैं। पहले तो कह दिया कि सत् से ही सत् उत्पन्न हो सकता है असत् से नहीं। दूसरी यह कि जिस सत से उत्पत्ति बताई गई है वह चेतन सत्ता है जड़ नहीं। क्योंकि उसने बहुत होने की इच्छा की।

इससे उपादान कारण का तो अभाव ही प्रतीत होता है। परन्तु जब युक्ति पर विचार करते हैं। तो शंका ज्यों की त्यों रह जाती है। क्योंकि जब कहा कि भला यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् उत्पन्न हो जाय तो इससे स्पष्ट पता चलता है कि लौकिक अनुभव से सहायता ली गई है। 'कथमसतः सज्जायेत ?", असत् से सत् उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ?

युक्ति को यदि अवयवों सहित रक्खें तो इस प्रकार होगी:—

पहले सत् था। (प्रतिज्ञा)

क्योंकि असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। (हेतु)

उदाहरण यहाँ नहीं दिया। अर्थात् उदाहरण, उपनय और निगमन सब लुप्त हैं। उदाहरण के लिये अलौकिक नहीं किन्तु लोक व्यवहार की ओर ही संकेत है। हाँ इससे पहले खण्ड में लोहे और मिट्टी का उदाहरण अवश्य दिया गया है जैसे।

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ

स्याद् वाचाऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्ये-व सत्यम् ।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद् वाचारम्भणं विकारोनामधेयं लोह-मित्येव सत्यम् ॥ (छान्दोग्य ६ । १ । ३ । ४)

"हे सोम्य, जैसे एक मिट्टी के ढेले से सब मिट्टी की बनी हुई चीज़ों का ज्ञान हो जाता है। वाणी से बताया हुआ विकार नाम मात्र है। मिट्टी ही सत्य है।"

"हे सोम्य, जैसे एक लोहे के टुकड़े से सब लोहे की बनी हुई चीज़ों का ज्ञान हो जाता है। वाणी से बताया हुआ विकार नाम मात्र है। लोहा ही सच्चा है।"

परन्तु यहाँ मिट्टी और लोहा उपादान कारण हैं निमित्त कारण नहीं। और न नाम और रूप का कारण यहाँ मिट्टी और लोहा होता है। नाम और रूप दोनों कुम्हार या लोहार की ओर से आते हैं। इससे पता चलता है कि छान्दोग्य के पूर्वोक्त प्रमाण से एक स्थान पर उपादान और दूसरे पर निमित्त दोनों कारणों की ओर संकेत है। "असत् से सत् कैसे हो सकता है ?" इस वाक्य से भी पता चलता है कि लोक व्यवहार में बिना उपादान और निमित्त कारण के किसी कार्य्य की उत्पत्ति देखने में नहीं आती है।

परन्तु छान्दोग्य का यह वाक्य वेद और बृहदारण्यक के ऊपर दिये हुये उद्धरणों की सफ़ाई नहीं करता। यह बात तो हमारी समझ में नहीं आती कि छान्दोग्य के इस वाक्य में और वेद तथा बृहदारण्यक के वाक्य में परस्पर विरोध हो। स्वयं वेद

में भी इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं जिनसे उपादान और निमित्त दोनों की पुष्टि होती है। दसवें मण्डल (ऋग्वेद) के ७२वें सूक्त का पूरा मंत्र जो हमने ऊपर दिया है वह भी इसी पक्ष में है। अर्थात

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्

ब्रह्मणस्पति (ईश्वर) ने इनको लोहार के समान धौंका।

यहाँ "इनको (एता)" शब्द कर्म्मकारक है, और **लोहार** का उदाहरण है। यदि वस्तुतः कोई उपादान कारण न होता तो किसको धौंका जाता ?

इसलिये अब हम को इस उलझन के सुलझाने का यत्न करना चाहिये। छान्दोग्य कहती है कि असत से सत् हो ही नहीं सकता, और वेद कहता है कि असत् से सत् उत्पन्न हुआ। इनमें किसकी बात ठीक है ? वेद की या छान्दोग्य की ? शायद कुछ लोग कहें कि वेद के सामने छान्दोग्य की बात माननीय नहीं है। परन्तु जब वेद के कई स्थलों से छान्दोग्य की पुष्टि होती है तो फिर क्या किया जाय ? हमारी समझ में तो वेद और छान्दोग्य दोनों की बात ठीक है। इन दो वाक्यों में परस्पर विरोध इसलिये प्रतीत होता है कि 'सत्' और 'असत्' शब्दों को भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। नीचे का मंत्र इस बात को प्रकट करता है :—

नासदासीत् नो सदासीत् (ऋग्वेद १०।१२९।१)

"न असत् था न सत् था।"

क्यों कहा है कि न सत् था न असत् ? यदि सत् और असत् को यहाँ साधारण भाव और अभाव के अर्थों में माना जाय तो एक का होना अवश्य सिद्ध होगा। दोनों के होने का निषेध नहीं

कर सकते। या तो कहें सत् था या असत्। यदि सत था तो असत् न था और यदि असत् था तो सत् न था। इसलिये स्पष्ट है कि यहाँ सत् और असत् का वह अर्थ नहीं, जो छान्दोग्य में है किन्तु, कुछ और ही है। इसी सूक्त का तीसरा मंत्र है :—

तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन् महिना जायतैकम्॥ (ऋ० १०। १२६। ३)

यहां कहा है कि अँधेरा था। अँधेरे से ढका हुआ था। और न दिखाई देने वाला "सलिल" था।

इसी सूक्त में एक स्थान पर कहना कि "न सत् था न असत् था" और दूसरे स्थल पर कहना कि "अप्रकेतं सलिलं" था, प्रकट करता है कि सत् और असत् के अर्थों पर विचार करना चाहिये। यह "सलिल" शब्द ७२ वें सूक्त में भी आया है:—

यद् देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रोरेणुरपायत॥
(ऋ० १०। ७२। ६)

अर्थात् उस 'सलिल' में देव मिले हुये स्थित थे। यहां तुम्हारे नाच के समान तेज "रेणु" उठ खड़े हुये।

इन दोनों सूक्तों में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है और दोनों में सलिल शब्द आया है। निघण्टु के पहले अध्याय १२ वें खंड में "सलिल" शब्द 'उदक' या जल का पर्यायवाची है और तीसरे अध्याय के पहले खंड में "बहु" या बहुत का पर्याय

वाची। 'सलिल' शब्द 'सल्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है चलना या बहना (सल् इलच्-उणादि-१-५४) 'सलिल' पानी को 'सलिल' इसलिये कहते हैं कि उसके कण लोहे के कणों के समान जुड़े नहीं रहते। ऊपर के मन्त्र में 'सलिल' और 'रेणु' दोनों शब्दों का होना स्पष्ट करता है कि यहाँ परमाणुओं की उस दशा से तात्पर्य है जिसमें वह अलग अलग रहते हैं। इसको "अप्रकेत" इसलिये कहा है कि उस अवस्था में वह अदृश्यमान रहते हैं। इस प्रकार इन दोनों सूक्तों में उपादान कारण दिया हुआ है।

सत् और असत् का भिन्न भिन्न स्थानों में क्या अर्थ है ? इसकी विवेचना बालगंगाधर तिलक ने अपनी गीता रहस्य नामी पुस्तक में की है। हम उसको ज्यों का त्यों यहां उद्धृत करते हैं—

"इस एक ही सत् या सत्य शब्द के दो भिन्नभिन्न अर्थ होते हैं इसी कारण यह झगड़ा मचा हुआ है। और यदि ध्यान से देखा जावे कि प्रत्येक पुरुष इस 'सत्' शब्द का किस अर्थ में उपयोग करता है तो कुछ भी गबबड़ नहीं रह जाती। क्योंकि यह भेद तो सभी को एक सा मंजूर है कि ब्रह्म अदृश्य होने पर भी नित्य है, और नाम-रूपात्मक जगत् दृश्य होने पर भी पल-पल में बदलने वाला है। इस सत् या सत्य शब्द का व्यावहारिक अर्थ है (१) आंखों के आगे अभी प्रत्यक्ष देख पड़ने वाला अर्थात् व्यक्त (फिर कल उसका दृश्य स्वरूप चाहे बदले, चाहे न बदले) और दूसरा अर्थ है (२) वह अव्यक्त स्वरूप कि जो सदैव एक सा रहता है आंखों से भले ही न देख पड़े, जो कभी न बदले। इनमें से पहला अर्थ जिनको सम्मत है, वे आंखों से दिखाई देने वाले नाम-रूपात्मक जगत को सत्य कहते हैं, और परब्रह्म को इस के विरुद्ध अर्थात् आँखों से न देख पड़ने वाला अतएव

असत् अथवा असत्य कहते हैं। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय उपनिषद् में दृश्य सृष्टि के लिये सत् और जो दृश्य सृष्टि से परे है, उसके लिये 'त्यत्' (अर्थात् जो कि परे है) अथवा 'अनृत' (आंखों को न देख पड़ने वाला) शब्दों का उपयोग करके ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है कि जो कुछ मूल में या आरंभ में था वही द्रव्य "सच्चा त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनचानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च" (तै० २८)

सत् (आंखों से देख पड़ने वाला) और वह (जो परे है), वाच्य और अनिर्वाच्य, साधार और निराधार, ज्ञात और अविज्ञात (अज्ञेय) सत्य और अनृत—इस प्रकार द्विधा बना हुआ है। परन्तु **इस प्रकार ब्रह्म को 'अनृत' करने से अनृत का अर्थ झूठ या असत्य नहीं है,** क्योंकि आगे चल कर तैतिरीय उपनिषद् में ही कहा है कि "यह अनृत ब्रह्म जगत् की 'प्रतिष्ठा' अथवा अधार है। इसे और दूसरे अधार की अपेक्षा नहीं है—एवं जिसने इस को जान लिया वह अभय हो गया।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि **शब्द भेद के कारण भावार्थ में कुछ अन्तर नहीं होता है।** ऐसे ही अन्त में कहा है कि "असद्वा इदमग्र आसीत्" यह सारा जगत पहले असत् (ब्रह्म) था और ऋग्वेद से (१० । १२९ । ४) वर्णन के अनुसार आगे चलकर उसी से सत् यानी नाम-रूपात्मक व्यक्त निकला है। (तै० । २ । ७) इससे भी स्पष्ट ही हो जाता है कि यहाँ पर 'असत्' शब्द का प्रयोग अव्यक्त अर्थात् आंखों से न देख पड़ने वाले के अर्थ में ही हुआ है; और वेदान्त सूत्रों में (२, १, २७) ❀ में बादरायण ने उक्त वचनों का

❀ वेदान्त २ । १ । १७ अर्थात्

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्नधर्मान्तरेण वक्यशेषात् ॥

ऐसा ही अर्थ किया है। किन्तु जिन लोगों को 'सत्' अथवा 'सत्य' शब्द का यह अर्थ (ऊपर बतलाये हुये अर्थों में से दूसरा अर्थ) सम्मत है—आंखों से न देख पड़ने पर भी सदैव

के भाष्य में श्री शंकर स्वामी लिखते हैं :—

आक्षेप— ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—असदेवेदमग्र आसीत्'

(छा० ३। १९। १) इति।

अर्थात् कही कहीं ऐसी भी श्रुति है कि असत् ही पहले था। इससे सिद्ध है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य का अस्तित्व नहीं होता।

इस पर शंकर स्वामी उत्तर देते हैं :—

नह्ययमत्यन्तासत्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्य्य-स्यासद् व्यपदेशः

अर्थात् यहां कार्य्य के अत्यन्त असत्व से तात्पर्य नहीं

किमर्हि—फिर क्या ?

व्याकृत नामरूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनाम-रूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरे-णायमसद् व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य।

अर्थात् असत् इसलिये कहा कि पहले नाम रूप स्पष्ट न थे अब स्पष्ट हो गये।

अतः प्राङ्नाम रूपव्याकरणादसदिवासीदि-त्युपचर्यते ॥

अर्थात् नाम रूप के स्पष्ट न होने से असत् के समान (इव) था ऐसा मानना चाहिये।

यहां शंकर स्वामी के कथन से उपादान की नित्यता सिद्ध होती है। और यह उपादान ब्रह्म नहीं किन्तु प्रकृति ही हो सकती है।

रहने वाला अथवा टिकाऊ—वे उस अदृश्य परब्रह्म को ही सत् या सत्य कहते हैं जो कभी भी नहीं बदलता और नाम-रूपात्मक माया को असत् यानी असत्य अर्थात विनाशी कहते हैं। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य में वर्णन किया गया है कि "सदैव सौम्येदमग्र आसीत् कथमतः सज्जायेत"—पहले यह सारा जगत सत् (ब्रह्म) था, जो असत् है यानी नहीं है उससे सत् यानी जो विद्यमान है—मौजूद है--कैसे उत्पन्न होगा (छा० ९। २। १७२)? फिर भी छान्दोग्य उपनिषद् में ही इस परब्रह्म के लिये एक स्थान पर अव्यक्त अर्थ में 'असत' शब्द प्रयुक्त हुआ है (छां ३, १९, १)। एक ही परब्रह्म को भिन्न २ समयों और अर्थों में एक बार 'सत्' तो एक बार 'असत्' यों परस्पर-विरुद्ध नाम देने की यह गड़बड़—अर्थात् वाच्य अर्थ के एक ही होने पर भी निरा शब्दवाद मचवाने में सहायक-प्रणाली आगे चलकर रुकगई और अन्त में इतनी ही एक परिभाषा स्थित हो गई कि ब्रह्म सत् यानी सदैव स्थित रहने वाला है, और दृश्य सृष्टि असत् अर्थात् नाशवान है। भगवद्गीता में यही अन्तिम परिभाषा मानी गई है। और इसी के अनुसार दूसरे अध्याय (२। १६—१८) में कह दिया है कि परब्रह्म सत् और अविनाशी है, एवं नाम-रूप असत् अर्थात नाशवान् है; और वेदान्तसूत्रों का भी ऐसा ही मत है। फिर भी दृश्य सृष्टि को 'सत्' कह कर परब्रह्म को 'असत्' या 'त्यत' (वह=परे) का कहने की तैत्तिरीयोपनिषद् वाली उस पुरानी परिभाषा का नामोनिशान अब भी बिल्कुल जाता नहीं रहा है। पुरानी परिभाषा में इसका भली भाँति खुलासा हो जाता है कि गीता के इस ओ३म् तत्सत् ब्रह्म-निर्देश (गीता १७, २३) का मूल अर्थ क्या रहा होगा।"
(गीता रहस्य पृष्ठ २४४, २४५)

हमारा अन्तिम मत वही नहीं है जो तिलक महोदय का है, परन्तु यह जो लम्बा उद्धरण हमने दिया है वह यह सिद्ध करने के लिये है कि वैदिक साहित्य में सत् और असत् भिन्न २ स्थलों पर भिन्न २ अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं। जो पुरुष प्रसङ्ग को न समझ कर केवल 'सत्' या 'असत्' शब्द को ही देखकर कोई नतीजा निकाल बैठते हैं वह न तो अपने साथ न्याय करते हैं न ग्रन्थकर्त्ता के साथ। 'असत्' शब्द चार अर्थों में आता है:—

(१) 'झूठा' अर्थात् जिसका सर्वथा अभाव हो जैसे बन्ध्या का पुत्र या गधे के सींग।

(२) जो वस्तुतः कुछ और हो पर प्रतीत कुछ और हो। जैसे रस्सी सांप मालूम होती है। 'रस्सी' में सांप का ज्ञान 'असत्' है।

(३) जो वस्तु **हो तो** परन्तु **नित्य न हो। परिवर्त्तनशील हो,** जैसे मेज़, कुर्सी, या जगत् की अन्य वस्तुयें।

(४) वह वस्तु जो अव्यक्त हो अर्थात जो हमारी इन्द्रियों से परे हो। देख नहीं पड़ सकती। जैसे परमाणु।

ऋग्वेद मण्डल १० के ७२ वें सूक्त के दूसरे और तीसरे मंत्र में 'असत्' शब्द का यह चौथा अर्थ है। अर्थात् सृष्टि का उपादान कारण है **तो अवश्य,** परन्तु **इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता।** १२९ वें सूक्त के पहले मंत्र में जो 'असत' और 'सत' दोनों शब्द आये हैं वह परस्पर विरोधी नहीं हैं। जब कहा कि "नासदासीत" असत नहीं था) तो इस 'असत्' का अर्थ था "परिवर्त्तन शील कार्य्य जगत्" जो है तो अवश्य परन्तु नित्य और एक

रस नहीं है। यह जगत् इस सृष्टि के निर्माण से पूर्व न था। संसार की समस्त क्रियायें तथा उन क्रियायों द्वारा प्रादुर्भूत नाम और रूप इसी 'प्रागभाव' या 'अनित्य' वस्तुओं की कोटि में होते हैं। इनका यह तात्पर्य नहीं कि वह वस्तुयें हैं नहीं। हैं अवश्य, उनका अभाव नहीं है। परन्तु उनका "प्रागभाव" अवश्य है अर्थात् वह बनने से पहले न थीं। जो घड़ा मिट्टी से बनाया गया है वह बनने से पूर्व न था, परन्तु इस समय अवश्य है। काम दे रहा है, पानी उसमें भरा है या अन्य वस्तुयें रक्खी हैं। इस प्रकार का घड़ा या घड़े के समान अन्य बनी हुई वस्तुयें 'असत्' नाम से पुकारी गई हैं और वेद कहता है "नासदासीत" अर्थात् इस प्रकार की 'असत' वस्तुयें न थीं। वस्तुतः यदि यह असत् वस्तुयें होतीं तो निर्माण की क्या आवश्यकता होती। फिर ब्रह्म करता ही क्या? ब्रह्म का तो कर्त्तृत्व ही नष्ट हो जाता। फिर वह ब्रह्म ब्रह्म ही नहीं रहता। यदि मेज़, कुर्सी आदि पदार्थ सदा से बने होते तो बढ़ई लोहार आदि का अस्तित्व भी न होता। परन्तु जब उसी मंत्र में कहा कि "नोसदासीत्" (अर्थात् सत् भी नहीं था) तो यहाँ 'सत्' का अर्थ है इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य पदार्थ। सृष्टि के सूर्य्य चांद, मेज़, कुर्सी आदि पदार्थ यह सब इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। इसलिये यह 'सत्' हैं। कारण अवस्था में यह इस प्रकार के न थे। कारण से कार्य्यरूप में लाने का अर्थ ही यह है कि सूक्ष्म से स्थूल या अव्यक्त से व्यक्त की दशा को प्राप्त हो सकें। नाम रूप का भी यही अर्थ है। नाम रूप वाले पदार्थों का अभाव नहीं है। वे हैं अवश्य, कारण अवस्था में नाम और रूप का अभाव था, कार्य्य अवस्था में इनका भाव हो गया। रूप आंख से ग्राह्य है और नाम कान से। रूप वाच्य है और नाम वाचक, नाम शब्द है और रूप अर्थ है, वाणी और अर्थ मिले हुये

रहते हैं। कालिदास ने रघुवंश को इसी "वागर्थाविव संपृक्तौ" वाक्य से आरम्भ किया है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब 'असत्' से भी कार्य्य जगत का तात्पर्य है और 'सत्' से भी वही कार्य्य जगत अभिप्रेत है तो वेद मंत्र में इन दोनों शब्दों का एक ही स्थल पर क्यों प्रयोग किया? यदि एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता तो अर्थों का झमेला न पड़ता और भ्रान्ति भी न होती।

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि वेदमंत्र में सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो बातें दिखानी थीं—पहली यह कि कार्य्य जगत् नित्य नहीं है। उसका कारण नित्य है। और दूसरी यह कि कार्य्य जगत इन्द्रियों से ग्राह्य है और कारण इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं। कार्य्य जगत की इन्द्रिय-ग्राह्यता और अनित्यता दोनों दिखानी मंजूर थी और कारण की नित्यता और इन्द्रियातीतता दिखानी थी। इसका उत्तम प्रकार यही था कि कहा जाय कि सृष्टि से पहले न सत् था न असत्। यदि 'सत्' और 'असत्' यहाँ परस्पर-विरुद्ध अर्थ में लिये जाते तो यह कहना कि "न सत्" था न असत् था" सर्वथा निरर्थक और लाल बुझक्कड़ की पहेली मात्र हो जाती, और सूक्त के शेष भाग का अर्थ भी कुछ न निकलता।

इस प्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और जहाँ कहीं 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति बताई गई है वहाँ 'असत्' का अर्थ केवल 'अव्यक्त' अर्थात् 'इन्द्रियातीत' से है। कुछ लोगों का कहना है कि 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती परन्तु 'सत्' चेतन से संसार की उत्पत्ति अवश्य हो सकती है, अर्थात् समस्त संसार का कारण एक चेतन सत्ता है। वही चेतन सत्ता संसार का उपादान कारण है।

इसकी विवेचना करने के लिये हमको उस विवाद में प्रविष्ट होना पड़ेगा जो मध्य कालीन नैय्यायिकों, मीमांसकों, साँख्यों तथा वेदान्तियों के बीच में बहुत दिनों से हो रहे हैं। और सत-कार्य्यवाद तथा असत्-कार्य्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु पहले इसके कि हम इस शुष्क तर्क की मीमांसा करें पहले शांकर-भाष्य से दो सूत्रों का भाष्य दे देना उपयुक्त प्रतीत होता है, जिससे पाठकगण की समझ में आ जाय कि विवाद किस बात पर है :—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्।

(वेदान्त २। १। ४)

यह सूत्र शङ्कराचार्य्य जी ने पूर्वपक्ष में लिया है, इसका भाष्य करते हुये वह लिखते हैं :—

"यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृति-रिति। तन्नोपपद्यते"

"यह कहना ठीक नहीं कि जगत् का उपादान कारण चेतन ब्रह्म है।"

"कस्मात्" "क्यों ?"

"विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः।"

"इसलिये कि यह विकाररूप जगत् ब्रह्म से विलक्षण है।"
अब इसको समझा कर कहते हैं :—

"नहि रुचकादयो विकारा मृतप्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः प्रक्रियन्ते सुवर्णे न च सुव-र्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुख-दुःख

मोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वंदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत् सुख दुःख मोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुतुत्वात् स्वर्गनरकाद्युच्चावच प्रपञ्चत्वाच्च।"

सोने के ज़ेवर मिट्टी के समान नहीं होते और मिट्टी के शरावे घड़े आदि की प्रकृति सोने के समान नहीं होती। जैसे मिट्टी की प्रकृति है वैसी ही मिट्टी से बने हुये घड़े आदि की है और जैसी सोने की प्रकृति है वैसी ही सोने से बने हुये कड़े बाली आदि की है। हम देखते हैं कि जगत् जड़ है इसमें सुख दुःख मोह आदि दोष हैं। इसलिये इसका उपादान कारण भी वही वस्तु हो सकती हैं जो जड़ हो और जिसके सुख दुःख मोह आदि दोष हों। ब्रह्म न जड़ है और न उसमें दुःख सुख मोह आदि दोष हैं। इससे सिद्ध हुआ कि चेतन ब्रह्म जगत का उपादान कारण नहीं।"

यह एक प्रबल युक्ति है इस बात को सिद्ध करने की कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं।

परन्तु श्री शङ्कराचार्य इसको नहीं मानते, उनकी युक्ति को भी देखना है। वह

दृश्यते तु (वेदांत २। १। ६)

सूत्र के भाष्य में लिखते हैं :—

"दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यो: पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः;

अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् ।"

"इस प्रकार के उदाहरण लोक में मिलते हैं कि चेतन से जड़ पदार्थ बन जायँ और जड़ से चेतन बन जायँ। जैसे मनुष्य चेतन हैं परन्तु उनके बाल, नाखून आदि जड़ हैं। गोबर जड़ है परन्तु उसके चेतन बिच्छू बन जाते हैं।" इससे शंकर स्वामी सिद्ध करते हैं कि चेतन ब्रह्म भी जड़ जगत का उपादान कारण हो सकता है।

जब उनसे प्रश्न किया गया कि

"ननुअचेतनान्येव पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति।"

कि "तुम्हारा उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि मनुष्यों के शरीर जड़ हैं उनसे बाल आदि ज पदार्थ उत्पन्न होते हैं। और गोबर जड़ है उससे बीछू का जड़ शरीर उत्पन्न होता है।"

तो इसका उन्होंने यह उत्तर दिया कि

एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यातनं भावमुपगच्छति किंचिन्नेत्यसत्येव वैलक्षण्यम्।

अर्थात् "इस प्रकार भी कुछ न कुछ विलक्षणता अवश्य ही रहती है। क्योंकि कुछ जड़ तो चेतन का शरीर बनाता है और कुछ नहीं।"

तात्पर्य यह है कि कारण और कार्य में कुछ न कुछ विलक्षणता तो रहेगी ही। कारण और कार्य में यदि कोई

विलक्षणता न रहे तो कार्य और कारण में भेद ही क्या रहा। कारण कारण है और कार्य कार्य है। न कारण कार्य हो सकता है और न कार्य कारण। इसलिये शंकराचार्य का कहना यह है कि चेतन और शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध और अचेतन जगत् की उत्पत्ति मानने में कोई हानि।

ऊपर की समस्त युक्तियों का सारांश यह है कि जो लोग यह कहते हैं कि वैशेषिक के नियमानुसार—

कारण गुण पूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः

अर्थात् जैसा कारण में गुण होता है वैसा कार्य में भी होता है। जैसे घड़े में मिट्टी का और बालियों में सोने का गुण, उसके उत्तर में शंकराचार्य जी कहते हैं कि यह नियम ठीक नहीं क्योंकि कारण का कारणत्व कार्य में नहीं होता। कार्य कारण से कुछ न कुछ विलक्षण अवश्य होता है। इसलिये जो लोग ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने में इसलिये हिचकिचाते हैं कि शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत कैसे बन गया वह भूलते हैं। शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

यहां शंकराचार्य जी कारण से कार्य की विलक्षणता तो मानते हैं परन्तु कहीं उन्होंने इस बात की मीमांसा नहीं की कि कारण कार्य से कितना विलक्षण होना चाहिये।

कारण और कार्य की समानता के विषय में तीन पक्ष हो सकते हैं :—

(१) यह कि कारण कार्य से सर्वथा भिन्न हो। यदि यह पक्ष माना जाय तो बौद्धों का अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त ठीक होगा। परन्तु शंकर स्वामी इसका पेट भर खंडन

कर चुके हैं। पाठकगण शंकर स्वामी की इस स्थल की युक्तियों का उन युक्तियों से मिलान करें जो उन्होंने

नासतोऽदृष्टत्वात् (वेदान्त २।२।२६)

के भाष्य में दी हैं और जिनका हम इसी अध्याय में पहले वर्णन कर चुके हैं (देखो पृ० १७३)

(२) कार्य कारण के सर्वथा समान हों। यदि ऐसा हो तो कार्य और कारण पर्याय शब्द (एकार्थवाची) हो जाय। और कार्यत्व और कारणत्व के भावों में कोई भेद न हो जिस प्रकार अग्नि और अनल शब्दों के अर्थों में कोई भेद नहीं है। शङ्कर स्वामी ने इस मत की पुष्टि

तदनन्यत्वम् (वेदान्त २।१।१४)

सूत्र के भाष्य में की है। अर्थात् एक स्थल पर वह कार्य को कारण से विलक्षण मानते हैं जैसे अचेतन और अशुद्ध जगत, शुद्ध चेतन और ब्रह्म से विलक्षण है। दूसरे स्थल पर वह कारण और कार्य का एक होना (अनन्यत्व) मानते हैं।

यह दोनों परस्पर विरुद्ध बातें कैसे ठीक हो सकती हैं? इसका निराकरण हम अन्य स्थल पर करेंगे।

(३) तीसरा पक्ष यह है कि कारण और कार्य में कुछ समानता होती है और कुछ असमानता। लोक व्यवहार के दृष्टान्त इसी पक्ष की पुष्टि करते हैं। हां, यह प्रश्न रह जाता है कि समानता कितनी है और असमानता कितनी।

पूर्व इसके कि हम इस तीसरे पक्ष की अधिक मीमांसा करें, कुछ सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के झगड़ों का भी संक्षिप्त वर्णन कर दें।

यह झगड़ा विशेष कर नैयायिकों और सांख्यों के बीच में है। नैयायिक कहते हैं कि कारण में कार्य विद्यमान नहीं

रहता। अर्थात् मेज़ बनने से पहले लकड़ी में विद्यमान न थी। मेज़ का अभाव था। जब मेज़ बन गई तो उसका भाव हो गया। इसके लिये उनकी युक्ति यह है कि यदि मेज़ बनने से पहले लकड़ी में विद्यमान होती तो लकड़ी और मेज़ में भेद ही क्या होता ? लकड़ी से मेज़ भी बनती है और कुर्सी भी। यदि कारण और कार्य का अनन्यत्व है और कार्य कारण में पहले से विद्यमान है तो लकड़ी और मेज़ में कोई भेद नहीं रहा। और लकड़ी और कुर्सी में भी कोई भेद नहीं रहा। इसलिये जो चीज़ें एक ही चीज़ के बराबर होती हैं वह आपस में भी बराबर होती हैं इस नियम के आनुसार कुर्सी और मेज़ भी बराबर हो गईं। परन्तु यह नतीजा सरासर ग़लत है। कोई मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी जो उन्मत्त नहीं है ऐसे असंभव नतीजे को मानने के लिये तैयार न होगा। सभी जानते हैं कि कुर्सी और मेज़ अलग अलग वस्तुयें हैं और उनसे भिन्न २ काम लिये जाते हैं मिट्टी से घट भी बनता है और मठ भी। परन्तु घट और मठ एक नहीं। घट का आकार मिट्टी में न अलग अलग और न संयुक्त रूप से अर्थात् किसी प्रकार भी विद्यमान न था। इसलिये यह कहना कि कार्य कारण में पहले से विद्यमान रहता है सर्वथा ग़लत है। यदि कहो कि आकार अव्यक्त रूप में था जो पीछे व्यक्त हो गया तो भी कार्य की पहले से विद्यमानता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कार्य में व्यक्तत्व पीछे से आया। यह व्यक्तत्व पहले न था।

यह हुई असत्कार्यवादियों की बात। अब सत्कार्यवादियों की लीजिये। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य की दसवीं कारिका में यह पांच युक्तियां नैयायिकों के असत् कार्यवाद के विरुद्ध दी हैं :—

असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च, सत्कार्यम् ।

(१) **असदकरणात्**—अर्थात् जो नहीं है वह बन भी नहीं सकती। अभाव से भाव नहीं हो सकता। अतः कार्य कारण में पहले से विद्यमान था, तभी तो पैदा हो गया। अगर विद्यमान न होता तो कैसे हो जाता ?

(२) **उपादानग्रहणात्**—अर्थात् उपादान का कार्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। उपादान में कार्य विद्यमान रहता है जैसे अलसी में तेल। यदि कार्य पहले से विद्यमान न होता तो उसका उपादान से सम्बन्ध भी न होता। अभाव के साथ कभी किसी का सन्बन्ध हो नहीं सकता।

(३) **सर्वसम्भवाभावात्**—यदि कार्य और कारण में कोई सम्बन्ध न माना जाय तो सभी चीजों से सभी चीजें बन सकें जैसे मिट्टी से पेड़ या खोया से सोने के कंकण। परन्तु एसा नहीं होता। विशेष कारण से ही विशेष कार्य उत्पन्न होते हैं। हलवाई मिठाई बनाने के लिये एक विशेष सामग्री इकट्ठा करता है। कुम्हार घड़ा बनाने के लिये विशेष मिट्टी लाता है। सुनार जेवर बनाने के लिये विशेष धातु अर्थात सोना सम्पादित करता है। यदि कार्य किसी रूप में कारण में विद्यमान न होता और उसका बिल्कुल कारण से सम्बन्ध न होता तो सभी चीजों से सभी चीजें बन जाया करतीं। इससे कार्य का बनने से पहले भी विद्यमान रहना सिद्ध है।

(४) **शक्तस्यशक्यकरणात्**—विशेष प्रकार का कारण ही विशेष प्रकार के कार्य को उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् कारण में एक विशेष शक्ति है जो कार्य को उत्पन्न कर देती है। शक्ति

की यह विशेषता ही तो कार्य की विद्यमानता को सिद्ध करती है। यह कहना कि कारण में कार्य्य उत्पन्न करने की विशेष शक्ति है इस कहने के बराबर है कि कार्य्य अव्यक्त रूप से कारण में विद्यमान है।

(५) **कारण भावात्**—कारण और कार्य्य का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। कारण तभी कहलाता है जब कार्य्य होता है। कार्य्य तभी कहलाता है जब कारण होता है। घड़े की अपेक्षा से मिट्टी को कारण कहते हैं। मिट्टी की अपेक्षा से घड़े को कार्य्य कहते हैं। यदि घड़ा न होता तो मिट्टी को कोई कारण न कहता। यदि मिट्टी न होती तो घड़े को कोई कार्य्य न कहता। जब कारण और कार्य्य सापेक्षित हुये तो एक के होने से दूसरे का होना भी सिद्ध है। यह सब मानते हैं कि कारण पहले से ही विद्यमान है। इसलिये यह भी मानना पड़ा कि कार्य्य भी विद्यमान था।

साधारणतया देखने से दोनों पक्षों की युक्तियां बड़ी प्रबल हैं। यह झगड़ा आज का नहीं दीर्घकाल से चला आता है। और उलझन सुलझने को नहीं आती। दोनों सेनायें अस्त्र शस्त्र धारण किये बराबर लड़ रहीं हैं और किसी के परास्त होने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। साधारण रीति से पता नहीं चलता कि युक्तियों में कहां दोष है। यदि यह मान लिया कि दोनों की युक्तियाँ ठीक हैं तो तर्कशास्त्र पर ही पानी फिर जायगा क्योंकि दो परस्पर विरुद्ध बातें सिद्ध हो जायंगीं। यदि तर्क से एक ही बात उचित और अनुचित दोनों सिद्ध हो सकती हैं तो फिर तर्क पर विश्वास ही कौन करेगा?

हमारे विचार से तो दोनों पक्ष ग़लत हैं। और कारण तथा कार्य्य का सम्बन्ध ठीक ठीक न समझने के कारण उत्पन्न हुये

हैं। जब जब एक दो उदाहरणों को देखकर नियम निर्धारित किये जाते हैं अनेक प्रकार के उदाहरणों पर विचार नहीं किया जाता तो ऐसा ही हुआ करता है जैसे यदि भारतवर्ष के कौओं को देख कर कोई यह कहने लगे कि कौए काले होते हैं तो उसकी यह धारणा यथार्थ न होगी क्योंकी अन्य स्थानों पर श्वेत कौऐ भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार इन कोरे दार्शनिकों ने सृष्टि को विधि-पूर्वक निरीक्षण न करके जितना हो सका उसी से नियम निर्धारित कर लिये और जब कुछ नियम निर्धारित हो गये तो उनकी ही अन्य उदाहरणों पर भी लागू करने का यत्न किया। यह बड़ी भारी भूल थी। क्योंकि यदि कुछ उदाहरण एक पक्ष में मिलते हैं तो कुछ दूसरे पक्ष में, इस प्रकार दोनों में से कोई पक्ष भी सर्वव्यापक न ठहरने के कारण खींचातानी की जाती है और शाब्दिक भूलभुलइयों पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिये जैसे अलसी में तेल रहता है उसी प्रकार लकड़ी में मेज़ या मिट्टी में घड़ा नहीं रहता। इसलिये यदि अलसी और तेल का सम्बन्ध देखकर एक नियम निर्धारित किया जायगा तो वह लकड़ी और मेज़ के सम्बन्ध में लागू नहीं होने का। अलसी में तेल उस समय भी विद्यमान था जब तेल निकाला नहीं गया था वस्तुतः तेली ने उस तेल को उसी प्रकार अलसी के भीतर से बाहर निकाल लिया जैसे कोई किसी कमरे में बैठे हुये आदमी को बाहर खींच लाये। परन्तु मेज़ इसी प्रकार लकड़ी के भीतर छिपी न थी।

अधिकतर झगड़े का कारण शब्द हैं भाव नहीं। जब भावों को न सोचकर केवल शब्दों पर लड़ाई होने लगी तो उसका अन्त होना कठिन ही है। यदि इस लड़ाई के इतिहास को देखा जाय तो इसका आरम्भ कारण के लक्षण से हुआ है। जैसे अन्नंभट्ट ने तर्क-संग्रह में कारण का लक्षण किया

कार्य्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् ।

अर्थात जो कार्य्य से नियत रीति से पहले हो वह कारण कहलाता है । इस लक्षण पर आक्षेप होने लगे । किसी ने कहा कि कुम्हार भी नियत रीति से घड़े के पहले होता है तो क्या कुम्हार घड़े का उपादान होगा ? किसी ने कहा कि कुम्हार का बाप भी अवश्य ही घड़े की उत्पत्ति से पहले विद्यमान होगा तो क्या वह भी उसका उपादान होगा ? किसी ने कहा कि जिस गधे पर मिट्टी लादकर लाई गई वह भी तो घड़े से पहले ही होगा फिर क्या वह भी घड़े का उपादान है ?

वस्तुत: शब्दों से भाव निकालने की अपेक्षा भावों के लिये शब्द ढूँढने की कोशिश करना अधिक उपयोगी है । यह बात सभी को अभिमत है कि आरम्भिक भावों के ऐसे लक्षण करना असम्भव है जिनसे अति व्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव के दोषों को सर्वथा दूर किया जा सके । सभी शब्द सापेक्षिक होते हैं अत: चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न की जाय कहीं न कहीं अपेक्षा के कारण कुछ न कुछ दोष रह ही जाता है । अत: हमको कारण या कार्य्य के सर्वथा दोष रहित लक्षण करने से पहले उस भाव का विचार करना चाहिए जो मनुष्य मात्र के मन में कारण और कार्य्य के सम्बन्ध में विद्यमान हैं । काण्ट का कहना कि कारण का भाव (conception of causation) स्वाभाविक (intuitive) है ठीक ही प्रतीत होता है । यद्यपि बड़े बड़े दार्शनिक कारण और कार्य के यथोचित लक्षण करने में असमर्थ हैं तथापि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि कारण क्या है और कार्य्य क्या । लकड़ी से मेज़ बनती है । गँवार से गँवार भी कह देगा कि लकड़ी कारण है और मेज़ कार्य्य । इसी प्रकार मिट्टी से घड़ा बना है । इसलिये घड़ा कार्य्य है और मिट्टी कार्य्य ।

सत्कार्य्यवाद और असत्कार्य्यवाद के झगड़ों का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि प्राय: भूल से यह मान लिया गया है कि एक कार्य्य का एक ही कारण होता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर कारण और कार्य्य के लक्षण किये जाते रहे और इन्हीं लक्षणों के शब्दों से झगड़े उत्पन्न होते रहे। वस्तुत: एक कार्य्य के लिये एक ही उपादान नहीं होता। जैसे मेज़ को लीजिये। यद्यपि बढ़ई निमित्त, और उसका औज़ार साधारण कारण है। परन्तु उपादान कारण लकड़ी एक वस्तु नहीं किन्तु ऐसे कणों का सयोग है जिसको लकड़ी कहते हैं। सम्भव है उसके साथ लोहा आदि भी हो। यदि लकड़ो नियत परिमाणवाली एक और अखण्ड वस्तु होती तो मेज़ बन हीं नहीं सकती थी। फिर मेज़ की आकृति पर भो दृष्टि डालिये। केवल लकड़ी ही उसका उपादान नहीं किन्तु आकाश भी है। क्योंकि आकार आकाश से आता है। इसी प्रकार घड़े और मिट्टी में भेद है। क्योंकि घड़े में मिट्टी के अतिरिक्त आकार भी है। मिट्टी के कणों को आकाश के उतने भाग में खड़ा कर देने से जो घड़े के आकार से घिरता है घड़ा बन जाता है। उसी मिट्टी को यदि नांद के आकार में खड़ा किया जाय तो मिट्टी शायद उतनी ही रहे तो भी वह घड़ा न होगा किन्तु नांद होगी। इस प्रकार नांद का उपादान मिट्टी का एक नियत परिमाण और आकाश का एक नियत भाग है और घड़े का उपादान मिट्टी का एक नियत परिमाण और आकाश का एक भिन्न भाग है। अत: जो नांद और घड़े का उपादान एक ही मानते हैं वह भूलते हैं। इसी प्रकार छोटे घड़े और बड़े घड़े का उपादान एक नहीं किन्तु भिन्न २ हैं। फिर अकेली मिट्टी को ही घड़े का उपादान क्यों माना जाय। जल भी तो है जो मिट्टी को मिलाता है। कुछ नैय्यायिकों ने जल को साधारण कारण अर्थात् साधन माना है

परन्तु यह सर्वथा भूल है। क्योंकि जल तो घड़े में सदा विद्यमान रहता है। जल की स्निग्धता ही मिट्टी के कणों को जोड़े रहती हैं। अलसी के दानों की नियत संख्या छटांक भर तेल का उपादान है। परन्तु दो छटांक तेल के लिये उससे दूनी संख्या चाहिये। अतः एक छटांक तेल का वही उपादान नहीं जो दो छटांक तेल का है।

कारण और कार्य्य के जो उदाहरण हमने यहाँ दिये हैं वह सभी को माननीय हैं चाहे वह बौद्ध हों, चाहे वेदान्ती, चाहे नैय्यायिक और चाहे सांख्य। अब इन या इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों को देखकर लक्षण करना चाहिये। हमारी सम्मति में जिन वस्तुओं के मिलने से कोई वस्तु बनती है उनको उस वस्तु का **उपादान कारण** कहते हैं और जो वस्तु बन कर तैय्यार होती है वह **कार्य्य कहलाती है**। जो चेतन और ज्ञानवती शक्ति उनको मिलाती है उसे निमित्त कारण कहते हैं और जिन साधनों का निमित्त कारण प्रयोग करता है उनको साधारण कारण कहते हैं। इस प्रकार मिट्टी के कणों तथा जल के कणों के नियत आकार को मिला कर घड़ा बना इसलिये मिट्टी, जल तथा आकाश घड़े के उपादान हुये। कुम्हार जो उनको मिलाता है अर्थात् जो जानता है कि मिट्टी और जल का कितना परिमाण मिलाया जाय और उसको आकाश के किस आकार में स्थापित किया जाय वह निमित्त कारण है। चाक आदि जो साधन है करण या साधारण कारण हैं।

हमारे इस लक्षण से सत्कार्य्य और असत् कार्य्य का झगड़ा समाप्त हो जाता है। कार्य्य में जो गुण संयुक्त अवस्था में पाये जाते हैं वह वियुक्त अवस्था में अन्य वस्तुओं में विद्यमान होते हैं। इसलिये एक प्रकार से कह सकते हैं कि कार्य्य के सभी गुण

पृथक् पृथक् विद्यमान थे। परन्तु संयुक्त अवस्था में न थे। कारण और कार्य्य में यही भेद होता है। संयुक्तत्व ही कार्य्यत्व है और वियुक्तत्व ही कारणत्व। वैशेषिक का यह कहना ठीक है कि कारण के गुण कार्य में पाये जाते हैं। क्योंकि घड़े में जितने गुण हैं वह सब अलग अलग जल, पृथ्वी तथा आकाश में थे। अब वह संयुक्त हो गये तो उनका नाम घड़ा पड़ गया। असत्-कार्यवादियों ने घड़े को केवल मिट्टी में देखना चाहा क्योंकि उन्होंने मिट्टी को ही उसका उपादान समझा। जब उन को मिट्टी में घड़ा न मिला तो वह असत्कार्य्यवादी हो गये। सत्कार्य्यवादी भी एक ही वस्तु को उपादान समझने लगे अतः वह इस बात का उत्तर न दे सके कि कारण और कार्य्य में क्या भेद है। यदि यह विचार करते कि—

कार्य्य = कई उपादान + संयोग।

और संयोग के हेतु हैं कर्त्ता की इच्छा, उसका ज्ञान तथा उसका उपदान पर आधिपत्य, तो उनके मार्ग में कोई आपत्ति न रहती।

वेदान्त में जहाँ कहा है कि—

तदनन्यत्वम् (वेदान्त २।१।१४)

अर्थात् कारण और कार्य्य एक हैं वहाँ कारण के कारणत्व और कार्य्य के कार्य्यत्व पर विचार नहीं किया गया किन्तु उनके उस अङ्ग का विचार किया गया है जो नित्य है। अर्थात् जो नित्य पदार्थ कारण में हैं वही कार्य्य में हैं। इसी सूत्र में "आर-म्भण शब्दादिभ्यः" शब्द पड़ा है, जिसमें छान्दोग्य के नीचे लिखे वाक्य का संकेत है :—

यथासोम्यैकेन मृतपिण्डेन सर्वमृन्मयं विज्ञांत

स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छान्दोग्य ६ । १ । १)

यहाँ 'सत्य' शब्द "नित्य" के अर्थ में आया है। यहाँ यह तात्पर्य्य नहीं है कि घड़ा और मिट्टी एक ही है। कौन ऐसा मूर्ख है जो घड़े और मिट्टी में कोई भेद न करे ? यदि मिट्टी ही घड़ा हो तो कुम्हार की क्या आवश्यकता ? क्या मिट्टी से वही काम लिया जा सकता है जो घड़े से ? क्या उसमें पानी भर सकते हैं ? क्या उसमें आटा रक्खा जा सकता है ? यदि नहीं तो मिट्टी और घड़े का अनन्यत्व कैसा ? गीता रहस्य को लिखते हुये तिलक महोदय को भी यह बात खटकी। और उन्होंने उसकी विवेचना करने का भी यत्न किया, परन्तु इससे जो नतीजा उन्होंने निकाला वह ठीक नहीं कहा जा सकता। वह लिखते हैं: —

"वेदान्त में जब आभूषण को मिथ्या, और स्वर्ण को 'सत्य' कहते हैं, तब उसका यह मतलब नहीं है कि वह जेवर निरुपयोगी या बिलकुल खोटा है। अर्थात् आंखों से दिखाई नहीं पड़ता या मिट्टी पर पन्नी चिपका कर बनाया गया है **अर्थात् वह अस्तिव में है ही नहीं**। यहाँ "मिथ्या" शब्द का प्रयोग पदार्थ के रंग-रूप आदि गुणों के लिये और आकृति के लिये अर्थात् ऊपरी दृश्य के लिये किया गया है, भीतरी द्रव्य से उसका प्रयोजन नहीं है। स्मरण रहे कि तात्विकद्रव्य तो सदैव "सत्य" है"।। (पृ० २१८)

यदि 'मिथ्या' शब्द से 'अनित्य' का अर्थ लेते हैं तो लीजिये हमको कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि 'हम भी ज़ेवर को नित्य नहीं मानते। हम क्या कोई भी नित्य नहीं मानता। जब आप

कहते हैं कि "यह मतलब नहीं है कि वह अस्तित्व में है ही नहीं" तो हमारा आपके साथ कुछ झगड़ा नहीं है। परन्तु इसका "अस्तित्व" मान कर आप विवर्त्त कैसे सिद्ध करेंगे यह हमको अवश्य आशङ्का है ? इसकी अधिक मीमांसा हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ हम यह दिखाना चाहते हैं कि तिलक महोदय ने अद्वैतवाद के सिद्ध करने के लिये जिस युक्ति-सरणी को ग्रहण किया है वह ठीक नहीं है। हम तिलक की ऊपर दी हुई बात को मान लेते हैं। परन्तु वह आगे लिखते हैं:—

"व्यवहार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि गहना गढ़वाने में चाहे जितना मेहनताना देना पड़ा हो, पर आपत्ति के समय जब उसे बेचने के लिये शराफ़ की दूकान पर ले जाते हैं तब वह साफ़ साफ़ कह देता है 'कि मैं नहीं जानना चाहता कि गहना गढ़वाने में तोले पीछे क्या उजरत देनी पड़ी है, यदि सोने के चलतू भाव में बेचना चाहो, तो हम ले लेंगे। (पृ० २१९)

"इसी प्रकार यदि किसी नये मकान को बेचें तो उसकी सुन्दर बनावट (रूप), और गुञ्जाइश की जगह (आकृति) बनाने में जो खर्च लगा होगा उसकी ओर ख़रीदार ज़रा भी ध्यान नहीं देता, वह कहता है कि ईंट-चूना, लकड़ी-पत्थर और मज़दूरी की लागत में यदि बेचना चाहो तो बेच डालो"

(पृ० २१९)

"इन दृष्टान्तों से वेदान्तियों के इस कथन को पाठक भली भाँति समझ जावेंगे कि नाम-रूपात्मक जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। 'दृश्य जगत् मिथ्या है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह आँखों से देख ही नहीं पड़ता; किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ यही है कि वह आँखों से तो देख पड़ता है, पर एक ही द्रव्य के नाम-रूप भेद के कारण जगत् के बहुतेरे जो स्थल कृत

अन्यथा काल कृत दृश्य हैं वह नाशवान् हैं और इसी से मिथ्या है; इन सब नाम-रूपात्मक दृश्यों के आच्छादन में छिपा हुआ सदैव वर्तमान जो अविनाशी और और अविकारी द्रव्य है, वही नित्य और सत्य है'' (पृ० २१९)

यह ठीक है कि बेचने वाले की आपत्ति को देखकर शराफ़ या मकान को मोल लेने वाला गढ़ाई या बनवाई की उजरत का हिसाब नहीं लगाता, और यदि अधिक आपत्ति का पता लग जाय तो खरे सोने को भी खोटा बता दे और बट्टा काट ले। परन्तु क्या यह बात ठीक नहीं है कि यदि ख़रीदने वाले को अधिक आपत्ति हो तो वही सराफ़ या मकान वाला कौड़ी कौड़ी उजरत ही नहीं किन्तु नफ़े का भी हिसाब लगा लेता है। इसलिये एक दूसरे की आपत्ति का लाभ उठाने वाले बाज़ारू विक्रेता या ग्राहक के दृष्टान्तों से उन वेदान्त्यों का क्या भला हो सकता है जो इस विकार या जगत् निर्माण के कारण को सर्वथा भुलाकर और उनको मिथ्या कह कर ही अपनी अद्वैत-सिद्धि करना चाहते हैं। यदि 'मिथ्या' का अर्थ 'अनित्य' लें तो कोई हर्ज नहीं। परन्तु एक स्थान पर मिथ्या का अनित्य, अर्थ लेकर फिर थोड़ी ही देर के पश्चात् उसका 'नास्ति' अर्थ लेने लगते हैं, यह सभी वेदान्तियों की बड़ी धींगा धींगी है। हम इसका आगे उल्लेख करेंगे।

अब पाठकगण उस स्थल का विचार करें जहाँ से हम चले थे। प्रसङ्ग यह था कि क्या एक चेतन इस जगत का उपादान कारण हो सकता है या नहीं। शङ्कर स्वामी के कथन से प्रगट होता था कि हाँ हो सकता है। परन्तु हमारा कहना है कि नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् में अचेतनम और अशुद्धता भी पाई जाती है जो एक शुद्ध चेतन से उत्पन्न नहीं हो सकती। शङ्कर

स्वामी यहाँ अपने असली सिद्धान्त को ताक़ में उठाकर रख देते हैं और अपने विरोधी असत्कार्यवादियों की युक्ति का सहारा लेकर कहते हैं कि 'विलक्षणता' या **अन्यता** तो कारण और कार्य्य में हुआ ही करती है। उनका कथन यह है :—

यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रतिकमिति। नायमेकान्तः। दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्योः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः। (वे० भा० २। १। ६)

"यह जो कहा कि विलक्षण होने के कारण जगत का उपादान ब्रह्म नहीं हो सकता यह ठीक नहीं। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि चेतन पुरुषों से अचेतन बाल, नाख़ून आदि की उत्पत्ति होती है।"

जब उनसे कहा जाता है कि सर्वथा भिन्न वस्तु से सर्वथा भिन्न कार्य्य कैसे उत्पन्न हो सकता है तो कहते हैं कि—

ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। (वे० भा० २। १। ६)

"ब्रह्म सर्वथा विलक्षण नहीं। एक बात में कार्य्य और कारण में समानता है अर्थात् सत्ता में।"❀

इस युक्ति का सीधा तात्पर्य्य यह हुआ कि ब्रह्म उपादान और जगत कार्य्य की सत्ता की अपेक्षा समानता है। इसलिये चेतन सत्ता रूप ब्रह्म से अचेतन सत्ता रूप जगत उत्पन्न हो सकता है। परन्तु हम ऊपर

नासतोऽदृष्टत्वात्। २। १। २६ ॥

❀ जब कार्य जगत् की सत्ता भी वैसी ही है जैसी कारण ब्रह्म की तो जगत् मिथ्या कैसा? और विवर्त कैसा?

और उदासीनानामपि चैव सिद्धि । २ । १ । २७ ॥ सूत्रों पर शांकर भाष्य दे चुके हैं जिनमें यह सिद्ध किया गया है कि अगर असत् से कार्य्य उत्पन्न हो सकता तो

कारण विशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् ।

(शां० भा० २ । २ । २ । २६)

"कारण विशेष से ही विशेष वस्तु का उत्पन्न होना अनर्थक होता है।" अर्थात् मिट्टी से दही और दूध से घड़ा भी बन सकता। यदि हम केवल सत्ता की समानता को ही कारण और कार्य्य के परस्पर सम्बन्ध के लिये पर्य्याप्त मान लें जैसा शंकर स्वामी मानते हैं तो मिट्टी और दही दोनों में सत्ता की समानता है फिर मिट्टी से दही उत्पन्न होना चाहिये इसी प्रकार दूध से घड़ा भी।

सारांश यह है कि शंकर स्वामी के ही कथन से उनके कथन का खण्डन होता है। यदि कारण और कार्य्य की विलक्षणता स्वीकार की जाय तो भी मिट्टी से दही बनना चाहिये और यदि कारण और कार्य्य के लिये केवल सत्तारूप समानता ही पर्य्याप्त समझी जाय तो भी मिट्टी से दही उत्पन्न होना चाहिये। इसलिये न तो कारण कार्य्य से सर्वथा विलक्षण हो सकता है और न उनमें केवल सत्तारूप समानता ही पर्य्याप्त है। वस्तुतः वैशेषिक का यही सिद्धान्त ठीक है कि जैसा गुण कारणों में होगा वैसा ही कार्य्य में भी होगा।

जब यह सिद्धान्त ठीक हो गया तो इस भिन्न भिन्न प्रकार के चराचर जगत् का उपादान कारण एक चेतन सत्ता नहीं हो सकती। यदि एक चेतन सत्ता जिसको ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है इस जगत् का उपादान कारण होती तो इस जगत् में सभी वह गुण होने चाहिये थे जो ब्रह्म में पाये जाते हैं। जैसे पत्थर का हर एक ढेला ब्रह्म के समान चेतन और सर्वज्ञ होना

चाहिये था। ब्रह्म में अज्ञान नहीं। इस लिये जगत् के किसी पुरुष, स्त्री, या मिट्टी या लोहे में अज्ञान नहीं होना चाहिये था। ब्रह्म में दु:ख नहीं अत: कोई भी संसार में दुखी न होता। ब्रह्म में अशुद्धता नहीं अत: जगत् में भी अशुद्धता न होती। परन्तु जगत् में अल्पता, अज्ञान, जड़ता, दु:ख और अशुद्धि सभी तो है इसलिये यह कहना कि जगत् का उपादान शुद्ध चेतन ब्रह्म है सर्वथा मिथ्या है।

हमने इस अध्याय में यह दिखाने का यत्न किया है कि इस जगत् का कारण न तो केवल एक जड़ वस्तु है। और न केवल एक चेतन वस्तु। वस्तुत: एक अखण्ड और एकरस वस्तु चाहे वह चेतन हो चाहे जड़ कभी विना अन्य की सहायता के कुछ कार्य्य उत्पन्न ही नहीं कर सकती। किसी कार्य्य के लिये कभी एक मात्र कारण से काम नहीं चलता। संसार में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसमें एक कारण ने एक कार्य्य उत्पन्न कर दिया हो। थोड़ी सी बुद्धि लगाने से भी यह असम्भव ही प्रतीत होता है। क्योंकि यदि वस्तु एक ही है और उसके टुकड़े नहीं हो सकते। तो वह एक ही रहेगी। चीड़-फाड़ कर और उसके टुकड़ों को अन्यथा रखकर उसे अन्य वस्तु नहीं बना सकते और न वह वस्तु शून्य से किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। एक मात्र वस्तु में आरम्भकवाद तो लगता ही क्या, परन्तु परिणामवाद भी नहीं लगता क्योंकि परिणाम उसी वस्तु का होता है जो कई वस्तुओं या परमाणुओं से मिलकर बनी हो और जिन परमाणुओं के संयोग के प्रकारों में भेद किया जा सके, जैसे दूध या पानी के परमाणुओं के संयोग के प्रकारों में भेद करने से दही या बर्फ़ बन जाती है।

आठवां अध्याय

—o:o—

वस्त्वैक्यवाद



त अध्याय में दिखाया जा चुका है कि इस जगत् का उपादान कारण न तो एक अखण्ड जड़ हो सकता है न एक चेतन। लौकिक दृष्टान्तों से हमको दो बातें स्पष्ट दीखती हैं, पहली यह कि प्रत्येक कार्य के कई उपादान हों और दूसरे उसका कर्त्ता एक हो। कर्त्ता के एकत्वऔर उपादान के बहुत्व के बिना कोई कार्य हो ही नहीं सकता। हम दिखा चुके हैं कि उपादान से कार्य में लाने के लिये या तो आरम्भक होगा वा परिणाम। परिणाम भी एक प्रकार का आरम्भ ही है क्योंकि जो वस्तु बहुत से अवयवों से बनी नहीं है उसका परिणाम भी असम्भव है। परन्तु भिन्न २ अवयवों में संयोग तथा वियोग करने के लिये एक कर्तृ शक्ति चाहिये, इसी को 'कर्त्ता' कहते हैं।* अन्नंभट्ट ने तर्क दीपिका में 'कर्त्ता' का इस प्रकार लक्षण किया है:—

---

* उत्पत्तिश्च नाम क्रिया। सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत।

(शांकर वेदान्त भाष्य २।१।१८।) उत्पत्ति कहते हैं क्रिया को।

उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वम् ।

इस में कर्त्ता के लिये तीन बातों का होना आवश्यक है (१) उपादान का अपरोक्ष ज्ञान (२) चिकीर्षा अर्थात् कार्य की इच्छा, (३) कृति अर्थात् क्रिया । ज्ञान, इच्छा और क्रिया जिसमें हो वह कार्य का कर्त्ता होता है । कर्त्ता की निमित्त कारण में ही गणना होती है । हम यह कह रहे थे कि कर्त्ता एक ही होना चाहिये । वस्तुत: कोई क्रिया एक से अधिक कर्त्ताओं से नहीं हो सकती । जहाँ एक से अधिक चेतन शक्तियाँ भी लगाई जाती हैं वहाँ भी केवल एक ही शक्ति शासक होती हैं। दार्शनिक रीति से उसी को कर्त्ता कह सकते हैं । अन्य उनके साधन मात्र होते हैं । कल्पना कीजिये कि एक मकान बनवाना है । उसके लिये ५०० मज़दूर चाहिये । परन्तु यदि सब के सब अलग अलग अपनी अपनी इच्छाओं और बुद्धियों से काम लें तो मकान कभी नहीं बन सकेगा । अत: होता यह है कि किसी एक को अधिपति नियत करते हैं । अन्य सब मस्तिष्क तथा सब हाथ उस एक मस्तिष्क के आधीन रह कर अर्थात् केवल साधन मात्र होकर काम करते हैं । यह सिद्धान्त संसार के प्रत्येक छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े कार्य के लिये लागू होगा । इसी को वेदांत के शाँकर भाष्य में एक स्थान पर इस प्रकार दिखाया गया है :—

स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनाँशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति ।

(वेदान्त भा० २ । १ । ४)

क्रिया के लिये कर्त्ता चाहिये । जैसे "चलने" के लिये । बिना कर्त्ता के क्रिया होना परस्पर विरुद्ध है ।

अर्थात जब नौकर स्वामी का काम करता है तो यद्यपि नौकर चेतन है तो भी वह अपने अचेतन भाग से चेतन का काम करता है, अर्थात् स्वामी की आज्ञा-पालन करने में नौकर उसी प्रकार बर्तता है जैसे मेज़, कुर्सी अपने उठाने वाले के हाथ में बर्तती है। अर्थात् नौकर को अपने स्वामी का साधन ही कह सकते हैं; कर्त्ता नहीं। यह अवश्य है कि जिस कार्य में वह नौकर स्वतन्त्रा पूर्वक अपने ज्ञान तथा इच्छा को काम में लाता है उसकी अपेक्षा से वह कर्त्ता है परन्तु स्वामी की अपेक्षा से कर्त्ता नहीं किन्तु साधन मात्र है। इस प्रकार दो बातें सिद्ध होती हैं, एक तो यह कि जगत के उपादान बहुत से हैं चाहे उनको परमाणु कहो चाहे पीलव कहो, चाहे इनको कुछ और नाम दो। परन्तु कर्त्ता एक है जो इन सब का अपरोक्ष ज्ञान रखता है और जिसमें जगत् बनाने की इच्छा भी है। वेदान्त दर्शन के पांचवें सूत्र में इसी को दिखाया गया है:—अर्थात

ईक्षतेर्नाशब्दम् (वेदान्त १।१।५)

इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म में "इच्छा का पाया जाना" "अशब्द" 'नहीं' है, अर्थात् इसमें उपनिषदों का प्रमाण भी है, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है:—

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेम"

(छान्दोग्य ६।२।३)

इस प्रकार एक ईश्वर, अनेक जीव और अनेक परमाणुओं का अस्तित्व संसार के प्रत्येक विभाग से सिद्ध हो जाता है। सेश्वरसांख्यवादियों ने भी यही माना है। कपिलाचार्य के लिये भिन्न २ मत हैं। कुछ उनको सेश्वरसांख्यवादी और कुछ उनको अनीश्वर सांख्यवादी कहते हैं। स्वामी दयानन्द उनको अनीश्वरवादी नहीं मानते।

परन्तु जो दार्शनिक बहुत्व या अनेकत्व से किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हैं वह इसको नहीं मानते। उनके असन्तोष को श्री बालगंगाधर तिलक ने गीतारहस्य में इस प्रकार प्रकट किया है:—

"क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार में जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं उसी को सांख्य-शास्त्र में पुरुष कहते हैं। सब क्षर-अक्षर या चर-अचर सृष्टि के संहार और उत्पत्ति का विचार करने पर सांख्यमत के अनुसार अन्त में केवल प्रकृति और पुरुष ये ही दो* स्वतंत्र तथा अनादि मूलतत्व रह जाते हैं। और पुरुष को अपने सारे क्लेशों की निवृत्ति कर लेने तथा मोक्षानन्द प्राप्त कर लेने के लिये प्रकृति से अपना भिन्नत्व अर्थात् कैवल्य जान कर त्रिगुणातीत होना चाहिये।... ...परन्तु वेदान्त-केसरी इस विषय को अपना नहीं समझता, यह अन्य शास्त्रों का विषय है। इसलिये वह इस विषय पर वाद-विवाद भी नहीं करता। वह इन सब शास्त्रों से आगे बढ़कर यह बतलाने के लिये प्रवृत्त हुआ है कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड की भी जड़ में कौन सा श्रेष्ठ तत्व है और मनुष्य उस श्रेष्ठ तत्व में कैसे मिलाया जा सकता है अर्थात् तद्रूप कैसे हो सकता है। वेदान्त केशरी अपने इस विषय-प्रदेश में और किसी शास्त्र की गर्जना होने नहीं देता। सिंह के आगे आगे गीदड़ की भांति, वेदान्त के सामने सारे शास्त्र चुप हो जाते हैं।

---

*यहां दो का अर्थ केवल दो नहीं हैं। क्योंकि पुरुष संख्या में अनन्त हैं, इसलिये सांख्य को द्वैतवादी की अपेक्षा बहुत्ववादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। सांख्य शब्द ही 'संख्या' से निकला है। यदि एक ही वस्तु होती तो संख्या शब्द भी न होता। अपने अकेले सिर को कौन गिनेगा? जब संख्या आरम्भ हुई तो दो पर ही उसकी सीमा क्यों हो जाय? वह 'अनन्त' तक जायगी।

अतएव किसी सुभाषितकार ने वेदान्त का यथार्थ वर्णन यों किया है:—

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणिजंबुका विपिने यथा।❀
न गर्जति महाशक्तिः यावद्वेदान्तकेसरी॥

सांख्य शास्त्र का कथन है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार करने पर निष्पन्न होने वाला 'द्रष्टा' अर्थात् पुरुष या आत्मा और क्षर-अक्षर सृष्टि का विचार करने पर निष्पन्न होने वाली सत्व-रज-तम-गुणमयी अव्यक्त प्रकृति, ये दोनों स्वतंत्र हैं और इस प्रकार जगत् के मूलतत्व को द्विधा मानना आवश्यक है। परन्तु वेदान्त इसके आगे जाकर यों कहता है, कि साँख्य के 'पुरुष' निर्गुण भले ही हों, तो भी वे असंख्य हैं; **इसलिये यह मान लेना उचित नहीं कि इन असंख्य पुरुषों का लाभ जिस बात में हो उसे जानकर प्रत्येक पुरुष के साथ तदनुसार बर्ताव करने का सामर्थ्य प्रकृति में** है। ऐसा मानने की अपेक्षा सात्विक तत्वज्ञान की दृष्टि से तो यही अधिक युक्ति संगत होगा, किस उस एकी-

---

❀इसी प्रकार की विडंबना पंचदशी में भी मिलती है जो वेदान्तियों का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है:—

अवज्ञातं सदद्वैत निःशंकैरन्यवादिभिः।
एवं का क्षतिरस्माकं तद् द्वैतमवजानताम्॥

(पंचदशी, महाभूत विवेक प्रकरण, श्लो० १०१)

"अर्थात् जब अन्यवाद वालों ने निःशंक होकर सच्चे अद्वैतवाद की अवहेलना की तो यदि हम भी द्वैतवाद अवहेलना करें तो हमारी क्या हानि है" (निरादर के बदले निरादर भी कोई युक्ति हैं? क्या खूब),

करण को ज्ञान क्रिया का अंत तक निरपवाद उपयोग किया जावे। और प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परम तत्त्व में अविभक्त रूप से समावेश किया जावे। (गीता रहस्य नवाँ प्रकरण पृ० १९६-१९७)

तिलक जी के कथन का तात्पर्य यह है कि "सात्विक तत्व ज्ञान की दृष्टि" मजबूर करती है कि हम असंख्यों पुरुषों और प्रकृति से आगे चलकर उनका मूल तत्त्व एक ही वस्तु को ठहरावें। सात्विक तत्वज्ञान की दृष्टि दो भिन्न भिन्न वस्तुओं को भी एक ही क्यों देखना चाहती है इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है। हम अन्यत्र भी कई स्थानों पर बता चुके हैं कि येन केन प्रकारेण भिन्न २ वस्तुओं के होते हुए भी सब को एक मानना वस्तुतः 'सात्विक तत्वज्ञान' नहीं है। परन्तु यहाँ तिलक महोदय ने एक युक्ति भी दी है। अर्थात् यदि पुरुष असंख्य हैं तो प्रकृति किस किस का कहा करेगी और किस किस की अपेक्षा से खेल खेलेगी ? इसलिये मजबूर होकर उनको मानना पड़ा कि इनके भीतर भी एक और मूल तत्व है। 'मूल तत्व' का अर्थ यदि यह लिया जाय कि पुरुषों और प्रकृति में ओत प्रोत एक और शक्ति अर्थात् ब्रह्म है जो भिन्न भिन्न पुरुषों के हित के लिये प्रकृति से भिन्न २ प्रकार की सृष्टि रचता है तो यह ठीक ही है। क्योंकि जिस प्रकार एक बड़े राज्य में एक व्यवस्थापक या राजा सभी प्रजा के हित पर विचार करके भिन्न २ व्यवस्थायें करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी सब पुरुषों के हित अहित का विचार करके सृष्टि निर्माण की व्यवस्था करता है। प्रकृति में स्वयं तो यह सामर्थ्य नहीं कि सब के हित के अनुसार बर्ताव करे क्योंकि प्रकृति जड़ है परन्तु उसमें ओत प्रोत एक महती ज्ञानमयी शक्ति है जो पुरुषों के हित का विचार रखती है। उसी आशय को नीचे लिखे सूत्र में दर्शाया है :—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् (वेदांत २ । १ । ३४)

अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने में ब्रह्म पर विषमता या निर्दयता का दोष नहीं आता क्योंकि यदि यह सृष्टि किसी के लिये सुखदायिनी और किसी के लिये दुःखदायिनी है तो इसका कारण ईश्वर नहीं किन्तु उन उन प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा है। अर्थात् जीव जैसे कर्म करता है ईश्वर उसी के अनुकूल फल देता है स्वयं प्रकृति को यह आवश्यकता नहीं पड़ती कि मैं इस पुरुष के अनुकूल खेल खेलूँ और उस पुरुष के अनुकूल न खेलूँ।

परन्तु 'वेदान्त केसरी' इससे संतुष्ट नहीं है। वह पुरुष और प्रकृति में ओत प्रोत ब्रह्म को नहीं मानता। उसका तो कथन है कि पुरुष और प्रकृति वस्तु अर्थात् तत्व हैं ही नहीं। केवल ब्रह्म ही तत्व है। यदि वह केवल इतना ही मानता कि "प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्व व्यापक, अव्यक्त और अमृतत्व है जो चर-अचर सृष्टि का मूल है" (गीता रहस्य पृ० २००) तो कुछ हानि न होती। परन्तु वह तो यह मानता है कि

"जो सगुण है वह नाशवान है इसलिये इस अव्यक्त और सगुण प्रकृति का भी नाश हो जाने पर अंत में जो कुछ अव्यक्त शेष रह जाता है, वही सारी सृष्टि का सच्चा और नित्य तत्व है" (पृ० २००)।

इसका अर्थ यह है कि एक चेतन ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान है। यही शंकराचार्य जी ने माना है :—

कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म।

(शाँ० भा० वे० २ । १ । १४)

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या शंकराचार्य जी अथवा उनके मतानुयायी अन्य वेदान्ती लोग ब्रह्म को विकारी मानते

हैं ? क्यों कि जब तक उपादान विकृत न हो सके वह कार्य को उत्पन्न ही नहीं कर सकता ? दूध का विकृत रूप ही दही होता है। जल का विकृत रूप ही बर्फ है परन्तु जिन लोगों ने वेदांतियों के ग्रन्थों को सूक्ष्मरीत्या और परस्पर मिलान करके पढ़ा है उनको बड़ा आश्चर्य होता है कि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को मानते हुये भी वह उसको विकारी नहीं मानते। ससार का नियम तो ऐसा है कि कर्त्ता विकृत नहीं होता परन्तु उपादान जब तक विकृत न हो उससे कार्य बन ही नहीं सकता। सोना बिना टूटे या मुड़े हुए ज़ेवर के रूप में परिवर्तित ही नहीं हो सकता। मिट्टी गूंधे बिना घड़ा कैसे बन सकता है ? परन्तु कुम्हार या सुनार घड़ा या ज़ेवर बनाने के पीछे भी वैसे ही रहते हैं जैसे वह पहले थे। अर्थात् विकार उपादान का अवश्य होता है और निमित्त (कर्त्ता) का नहीं; परन्तु श्री शंकर स्वामी उपादान मानते हुये भी विकार नहीं मानते। व्यास मुनि ने वेदांत दर्शन में ब्रह्म में विकार होने का इसीलिये खण्डन किया है कि उनके मतानुसार ब्रह्म कर्त्ता है उपादान नहीं। अभी जो हम अध्याय के पहले पाद का ३४ वाँ सूत्र दे चुके हैं उसका अर्थ भी यही है। पहले अध्याय, पहले पाद, का १२ वाँ सूत्र यह है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् (वेदान्त १।१।१२)

अर्थात् परमात्मा का नाम 'आनन्दमय' है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मयट् प्रत्यय जिस शब्द में लगता है उसका वाच्य विकार युक्त होता है। जब ब्रह्म विकारी नहीं तो उसके लिये मयट् प्रत्यय लगा कर आनन्द + मयट् = आनन्दमय शब्द कैसे बना सकते हैं ? इसका उत्तर दूसरे सूत्र में दिया है :—

विकार शब्दान्नेति चेत् न प्राचुर्यात्। (१।१ १३)

कि आनन्दमय शब्द मयट् प्रत्यय का विकार अर्थ नहीं

है किन्तु प्रचुर (बहुत) अर्थ है अर्थात् ब्रह्म को आनन्दमय इस लिये कहते हैं कि ब्रह्म में आनन्द बहुत है। श्री शंकर स्वामी भी इस सूत्र का ऐसा ही अर्थ करते हैं :—

प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृत-वचने मयट्' (पाणिनि ५ । ४ । २१) इतिहि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते।"

अब प्रश्न होता है कि यह दोनों बातें कैसे संभव हैं ? अर्थात् ब्रह्म जगत का उपादान भी हो और विकार-युक्त भी न ! इस पर श्री शंकर स्वामी ने आक्षेपों का उत्तर दिया है। उनको हम अपनी समीक्षा सहित नीचे देते हैं :—

प्रश्न—**प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरी भोग्याः शब्दादयो विषया इति। यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वात् प्रसज्येत। न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्योर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात् प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसंगादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति।**

(शां० भा० २। १। १३)

आशय यह है कि भोग्य पदार्थ और भोक्ता में भेद होता है। जैसे मनुष्य और चांवल। चांवल भोग्य है। मनुष्य भोगने वाला है भोग्य भोक्ता नहीं हो सकता और भोक्ता भोग्य नहीं हो सकता। यदि इन दोनों अर्थात् भोक्ता और भोग्य का कारण ब्रह्म ही हो तो यह भेद कैसा? इसलिये ब्रह्म इसका उपादान कारण नहीं।

शंकर स्वामी का उत्तर—**उपपद्यत एवायमस्मत् पक्षेऽपि विभागः; एवंलोके दृष्टत्वात्। तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोऽ नन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीची तरंगबुदबुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतर संश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरंगादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषामितरेतर भावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि।** (शा० भा० २। १। १३।)

भावार्थ—यह भेद हो सकता है जैसे लोक में देखा जाता है कि समुद्र का पानी और उसका विकार अर्थात् फेन और लहरें एक ही हैं फिर भी लहरों और फेन आदि में भेद होता है। उनका कारण एक है अर्थात पानी। परन्तु फिर भी लहरें जुदा जुदा हैं। इसी प्रकार भोक्ता और भोग्य जुदा जुदा हैं। परन्तु उनका कारण एक है अर्थात समुद्र का जल।

हमारी समीक्षा—हमको शंकर स्वामी का यह उत्तर सर्वथा अयुक्त और असंगत प्रतीत होता है जिन तरङ्गों का कारण वह केवल समुद्र को मान रहे हैं वह कभी न उठ सकतीं अगर समुद्र

के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व न होता। वस्तुतः बुदबुदों और तरङ्गों के उठने का कारण समुद्र का जल और वायु है। बुदबुदा है क्या? क्या केवल जल? नहीं कदापि नहीं। जल और वायु के कारण बुदबुदा या तरङ्गें बनती हैं। यदि एक तालाब को ऐसे स्थान में रक्खा जा सके जहाँ वायु का प्रवेश न हो तो एक भी तरङ्ग न उठेगी। यह तो साधारण आदमियों का भी अनुभव है कि जब हवा तेज़ चलती है तभी समुद्र या अन्य जलाशयों में तरङ्गें भी अधिक उठती हैं। और जब बन्द हो जाती है तो तरङ्गें भी बन्द हो जाती हैं। अतः शंकर स्वामी का यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं हो सकता। वस्तुतः आक्षेप ज्यों का त्यों रह जाता है। इसका केवल समाधान यही है कि ब्रह्म को उपादान न माना जाय।

शंकर स्वामी के ऊपर के वचनों से यही समझ में आता है कि जैसे समुद्र के जल का विकार तरङ्गें हैं उसी प्रकार ब्रह्म का विकृत रूप भोक्ता और भोग्य है। परन्तु शंकर स्वामी इस पर भी नहीं जमते। क्योंकि वह इसी के आगे कहते हैं :—

यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तै० । २ । ६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वेप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरंगादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥

(शां० भा० वेदान्त २ । १ । १३)

"यद्यपि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है। क्योंकि तैतरीय उपनिषद् में कहा है कि सृष्टि को बनाकर फिर उसी में व्यापक हुआ। यहां रचने वाला अर्थात् ब्रह्म विकारी नहीं है। श्रुति में है कि कार्य्य में प्रवेश करके भोक्ता हुआ, तो भी कार्य्य में व्यापक ब्रह्म का विभाग उपाधि के कारण है, जैसे घड़े आदि की उपाधि से आकाश का विभाग होता है। इस प्रकार परम कारण ब्रह्म के अनन्य (एक ही) होने पर भी भोक्ता और भोग्य का भेद समुद्र की तरङ्गों के समान ही हो जाता है।"

पाठकगण थोड़ा सा विचार करें कि किस प्रकार कई असङ्गत बातों को एक साथ मिलाया गया है :—

(१) ब्रह्म उपादान कारण है।

(२) जिस प्रकार जल का विकार तरंगे अलग अलग हैं उसीप्रकार ब्रह्म का कार्य्य अर्थात् भोक्ता और भोग्य भी अलग अलग हैं।

(३) समुद्र की उपमा देने पर भी ब्रह्म विकारी नहीं।

(४) भोक्ता और भोग्य का भेद उसी प्रकार है जैसे घड़े या मकान के आकाश में भेद होता है।

(५) यह भेद उपाधि के कारण है। अर्थात् वास्तविक नहीं।

(६) फिर भी समुद्र और तरंगों की उपमा लागू हो ही गई।

उपनिषद् का जो उदाहरण दिया वह जिस लिये दिया गया वह भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि उससे ब्रह्म का उपादान होना सिद्ध नहीं होता। यहां तो कहा हैं कि सृष्टि को रचकर उसमें व्यापक हैं। अर्थात् यद्यपि घड़ीसाज घड़ी को बना कर उसमें व्यापक नहीं होता तथापि ब्रह्म सृष्टि को बनाकर उससे बाहर नहीं गया किन्तु उसी में व्यापक है।

यदि कहो कि अविकारी सिद्ध करने के लिये उपनिषत् का वाक्य उद्धृत किया गया। तो भी निमित्त कारण ही सिद्ध होता है। उपादान नहीं। उपाधि की समीक्षा अन्यत्र करेंगे।

प्रश्नः--नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेक-शाख एवमनेक शक्ति प्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव।

(शां० भा० वेदान्त २। १। १४)

"जिस प्रकार एक वृक्ष में कई शाखायें होती हैं इस प्रकार यदि एक ब्रह्म में कई शक्तियां मानी जायं जिससे एकत्व और नानात्व दोनों सत्य हो जायं तो क्या हानि" !

शङ्कर स्वामी का उत्तर—

नैवं स्यात्। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृति मात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्।...अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सपद्यते, रज्वादिबुद्धय इव सर्पादि बुद्धीनाम्।

(शां० भा० वेदान्त २। १। १४)

"ऐसा नहीं है। मिट्टी से घड़े बनने में मिट्टी ही एक सत्य होती है! यही हाल ब्रह्म का है।.........जैसे रस्सी देखने से सांप की भ्रान्ति दूर हो जाती है।" इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने से शरीर आदि का भ्रम दूर हो जाता है।

हमारी समीक्षा—अर्थात् ब्रह्म उपादान कारण इस जगत् का उसी प्रकार है जैसे मिट्टी से घड़े, शकोरे आदि बनते हैं। परन्तु घड़े, शकोरे आदि का मिट्टी से वही सम्बन्ध नहीं है जो

सांप का रस्सी से। रस्सी को सांप समझ कर कोई उसे दूध नहीं पिला सकता और न उसके मुँह के दांत तोड़ सकता है परन्तु मिट्टी के घड़े में पानी भर सकते हैं, अस्तु।

प्रश्न—ननु एकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन् निर्विषयत्वात्। स्थाण्वादिष्विव पुरुषादि ज्ञानानि (शाँ० भा० २। १। १४)

"यदि एकत्व ही माना जाय और नानात्व न रहे तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी न रहेंगे। जैसे जब यह ज्ञान हो जाता है कि ठूँठ है तो यह ज्ञान नहीं रहता कि यह कोई आदमी खड़ा है।"

शंकर स्वामी का उत्तर:—

नैष दोषः; सर्व व्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्-प्रबोधात्॥ (शां० भा० २। १। १४)

"यह दोष नहीं है। जैसे जागने से पूर्व ही स्वप्न ठीक रहता है, जागने पर नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने से पहले ही संसार की व्यवहार दशा सच्ची मालूम होती है। जहां ब्रह्म का ज्ञान हुआ वहीं यह सब झूठे प्रतीत होने लगे।"

हमारी समीक्षा—जब ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं तो एकत्व का ज्ञान ब्रह्म को ही होगा? फिर ब्रह्म को ही तो व्यवहारदशा में मिथ्या ज्ञानी मानना पड़ेगा। यह कैसे?

प्रश्न—कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्ति रुपपद्येत? नहि रज्जु

सर्पेण दष्टो म्रियते। नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियत इति।

"असत्य वेदान्त वाक्यों से सत्य ब्रह्म का कैसे ज्ञान होगा? जो रस्सी साँप के समान प्रतीत होती है उसके काटने से कोई मरता नहीं, और न मृग तृष्णिका के जल को कोई पी सकता या उसमें स्नान कर सकता है"?

नैषदोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादि-कार्य्योपलब्धेः स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदक-स्नानादि कार्य्यदर्शनात्॥ (शां० भा० २। १। १४)

शङ्कर स्वामी का उत्तर—

"यह दोष नहीं। क्योंकि हम देखते हैं कि कभी कभी विष खाने का भ्रम हो जाने से भी मृत्यु हो जाती है। अर्थात् कभी कभी ऐसा होता है कि मनुष्य को झूठ-मूठ भ्रम हो जाता है कि मैंने विष खा लिया और वह मर जाता है। और सोते हुए मनुष्य को देखा गया है कि उसने स्वप्न में स्नान किया या उसे सांप ने काट लिया।

प्रतिप्रश्नः—**ततकार्य्यमप्यनृतमेव?**

वह कार्य्य तो झूठ ही है?

शंकर स्वामी का उत्तरः—

(१) यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदक स्नानादिकार्य्यमनृतम्; तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्; प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्।

(शां० भा० २। १। १४)

"(१) यद्यपि स्वप्न में देखा हुआ सांप से काटा जाना या स्नान आदि करना झूठा है परन्तु उसका ज्ञान तो सत्य है। क्योंकि जाग पड़ने पर भी वह ज्ञान बना रहता है।

हमारी समीक्षा—शंकराचार्य जी ने इन प्रश्नोत्तरों से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि झूठी चीज़ों से भी सत्य की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि वह शास्त्रों को अनृत मानते हुए भी उनसे शिक्षा ग्रहण करने के पक्षपाती हैं। प्रथम तो उनकी युक्तियाँ ही निस्सार हैं। क्योंकि जब विष के भ्रम से मनुष्य मर जाता है तो मारने वाली वस्तु विष नहीं किन्तु भय है जो भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ। यहां भ्रम और भय दोनों सच्चे हैं। झूठे नहीं। यदि वास्तविक भ्रम न होता तो वास्तविक भय भी न होता और यदि वास्तविक भय न होता तो मृत्यु भी न होती। शंकर स्वामी जहाँ विपक्षियों की युक्तियों की मीमांसा करने में बेखाल के बाल की भी खाल निकालने की कोशिश करते हैं वहाँ अपने पक्ष में ऐसी भोंडी युक्तियाँ दे जाते हैं जिनका न सिर है न पैर! यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि झूठे शास्त्रों से सच की प्राप्ति हो सकती तो एक प्रकार के झूठे शास्त्र और दूसरे प्रकार के झूठे शास्त्र में क्या भेद रहेगा और जैन या बौद्ध शास्त्रों को झूठा मानते हुए भी उनसे मुक्ति प्राप्ति की इच्छा करनी होगी। यही नहीं, ऊट पटांग पुस्तकें झूठे शास्त्र की कोटि में आ सकेंगी और उनके पठन पाठन से ज्ञान की प्राप्ति की आशा करनी होगी। इसी सम्बन्ध में शंकर स्वामी ने अपने पक्ष में लोक के कुछ स्वप्न के उदाहरण दिये हैं कि यदि मनुष्य स्वप्न में ऐसा देखे तो ऐसा हो जाता है और वैसा देखे तो वैसा। इस प्रकार के दृष्टान्तों से दार्शनिक मीमांसा करनी ही सर्वथा अनुचित है। संसार में ऐसे गप्पाष्टक तो सैकड़ों प्रचलित हैं। परन्तु कोई ऐसा सर्व-तन्त्र प्रमाण नहीं है कि स्वप्न में देखी हुई

बातें सच हो जाया करें। यदि अकस्मात् एक दो सच हो भी जांय तो उससे नियम नहीं बनाया जा सकता।

इसी स्थान पर शंकराचार्य्य जी ने एक युक्ति तो नहीं किन्तु एक लाभ बताया है :—

सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थ आकाङ्क्षा-स्यात्; न त्वात्मैकत्व व्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्यो ऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत।

अर्थात् एक ही सत्ता के मानने से आकाङ्क्षा दूर हो जाती है। जब तक दूसरा पदार्थ मानेंगे उस समय तक उसकी इच्छा रहेगी परन्तु जब किसी अन्य पदार्थ को मानते ही नहीं तो इच्छा किसकी करें।

यह एक ऐसी पोच दलील है कि शंकर स्वामी के मत को कभी उन्नत नहीं कर सकती। अहम्मन्य लोग अपने को ही सब से बड़ा मानते है परन्तु उनकी अपनी निर्बलता उनको दूसरों का आश्रय तकने के लिये बाधित करती है। केवल यह मानने से कि मेरे सिवाय संसार में कुछ नहीं, मैं ही ब्रह्म हूँ किसी के क्लेश तो क्या भूख प्यास तक दूर नहीं होती। जितने आलसी और अज्ञानी लोग हैं उनको बहुत सी बातों का पता नहीं अतः उनकी आकाङ्क्षा है परन्तु इससे उनको लाभ भी नहीं।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।

से भी वही दशा हो जाती है या यों कहिये कि इससे भी अधिक। क्योंकि ऐसे पुरुष के ज्ञान में कुछ भी नहीं रहता और वह आकाङ्क्षाओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है। परन्तु इसको अभीष्ट पद की प्राप्ति नहीं कह सकते।

प्रश्न—**ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्यभिमतमिति गन्यते। परिणामिनोहि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति!**

(शां० भा० वेदान्त २ । १ । १४)

मिट्टी आदि से ब्रह्म की उपमा दी गई है। इससे तो पता चलता है कि शास्त्र ब्रह्म को भी परिणामी (बदलने वाला) मानता है। क्योंकि लोक में देखते हैं कि मिट्टी आदि पदार्थ परिणाम वाले हैं।

शंकर स्वामी का उत्तर—**नेत्युच्यते; 'स वा एष महानज आत्माऽजरो ऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म'** (बृ० ४।४।२५), **'स एष नेति नेत्यात्मा'** (बृ० ३।९।२६), **अस्थूलमनणु'** (बृ० ३।८।८) **इत्याद्याभ्यःसर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद् रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्।** (२। १। १४)

"ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा है कि ब्रह्म महान् है, अज, अजर, अमर, अभय, सूक्ष्म आदि है। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि ब्रह्म कूटस्थ है। एक ही ब्रह्म को कहीं परिणामी धर्म वाला मानना और कहीं अपरिणामी मानना ठीक नहीं।

प्रति प्रश्न—स्थितिगतिवत् स्यादितिचेत्।

(शां० भा० २। १। १४)

यदि जिस प्रकार एक ही वस्तु में गति और स्थिति दोनों पाई जाती है (रथ ठहरता भी है और चलता भी है) इसी प्रकार ब्रह्म में परिणाम और अपरिणाम दोनों माने जाँय तो क्या हानि ?"

शङ्कर स्वामी का उत्तर— **—न, कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेक धर्माश्रयत्वं संभवति।** (शां० भी० २। १। १४)

यह नहीं मान सकते। क्योंकि ब्रह्म के लिये 'कूटस्थ' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। जो कूटस्थ ब्रह्म है उसमें स्थिति और गति रूपी अनेक धर्म नहीं रह सकते"।

हमारी समीक्षा—इसको उत्तर नहीं कहते किन्तु भूल भुलयां। प्रश्न कर्त्ता ने आक्षेप किया था कि यदि ब्रह्म अपरिणामी है और कूटस्थ है तो उसकी मिट्टी से उपमा नहीं दी जा सकती। अर्थात् जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है उसी प्रकार ब्रह्म संसार का उपादान नहीं हो सकता क्योंकि मिट्टी कूटस्थ नहीं है किन्तु ब्रह्म कूटस्थ है। और यदि तुम मिट्टी की उपमा देते हो तो ब्रह्म को कूटस्थ न मानकर परिणामी मानों। ब्रह्म को कूटस्थ भी मानना और मिट्टी से उनकी उपमा देकर उसे जगत् का उपादान भी मानना दोनों कैसे हो सकते हैं ? इसका शंकर स्वामी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल यह कह कर टाल दिया कि श्रुति में उसको कूटस्थ माना है। यदि उनसे कोई प्रश्न करता कि ऐसा मानने से तो श्रुतियाँ परस्पर विरोधात्मक हो जाती हैं तो शंकर स्वामी क्या उत्तर देते ? वस्तुतः इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। हम भी मानते हैं कि श्रुतियों में ब्रह्म को कूटस्थ, अज, अजर, अमर माना है परन्तु हम शंकर स्वामी के समान उसको जगत् का उपादान नहीं मानते। अतः हमारे मत में परस्पर

विरोध का आक्षेप नहीं आता। परन्तु शङ्कर स्वामी ब्रह्म को उपादान मानकर इस आक्षेप से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

परन्तु सब से विचित्र बात यह है कि यहां तो शङ्कर स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के परिणामी होने का खंडन किया है किंतु दूसरे स्थान में ब्रह्म के परिणाम से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वेदान्त के दूसरे अध्याय के पहले पाद के २४ वें सूत्र की व्याख्या करते हुये उन्होंने एक ही स्थान में कई परस्पर विरुद्ध बातों का बड़े चातुर्य से समावेश कर दिया है जिसको पढ़कर पाठकों को अवश्य कुछ न कुछ विस्मय होगा। वह सूत्र यह है:—

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन् न क्षीरवद्धि।

इसका भाष्य इस प्रकार है। पहले पूर्व पक्ष देते हैं :—

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते।

एक अद्वितीय चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता।

कस्मात्—क्यों ?

उपसंहार दर्शनात्—साधनों के देखे जाने से।

इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्, दण्डचक्र, सूत्राद्यनेक कारक साधनोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत? तस्मान्न ब्रह्म जगत् कारणमितिचेत्।

लोक व्यवहार में देखते हैं कि कुम्हार आदि बनाने वाले घड़े आदि के बनाने के लिये मिट्टी, दण्ड, चाक, डोरा आदि साधनों का प्रयोग करते हैं। ब्रह्म को साधन रहित माना गया है। जब ब्रह्म के पास साधन ही नहीं तो ब्रह्म से सृष्टि कैसे बने ?

इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार दिया है :—

नैष दोषः; यतः क्षीरवद् द्रव्य स्वभाव विशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेवदधिहिमप्रभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्यवाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति।

"यह दोष नहीं आता क्योंकि जैसे दूध से विना साधन के दही बनता है या जल से बर्फ़ बनती है उसी प्रकार **यहाँ भी होगा** अर्थात् ब्रह्म से सृष्टि बनेगी।"

दूध और बर्फ़ का दृष्टान्त ही नहीं दिया गया किन्तु स्पष्ट खुले शब्दों में कह दिया है कि जैसे दूध से दही बनता है या जल से बर्फ़ बनती है वैसे ही ब्रह्म से भी सृष्टि बनेगी। इन शब्दों को देखकर कोई नहीं कह सकता कि शंकराचार्य्य को परिणामवाद ग्राह्य नहीं। परन्तु हम ऊपर दिखा चुके हैं कि १४ वें सूत्र के भाष्य में उन्होंने ऐसे ही बल पूर्वक ब्रह्म के परिणामी होने से इनकार किया है। यह ऐसा परस्पर विरोध है जिससे किसी को इनकार नहीं हो सकता। शंकर स्वामी के समस्त ग्रन्थों से यही पता लगता है कि उनकी युक्ति की तलवार इतनी प्रबल है कि वह अपने निज सिद्धान्त के विरुद्ध भी बहुत बल पूर्वक लिख जाते हैं। और ऐसे सौन्दर्य्य से लिखते हैं कि पाठकों को साधारणतया विना सूक्ष्म मिलान किये पता नहीं चलता।

आगे चल कर और भी विचित्रता की है :—

(१) **परिपूर्ण शक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या।**

ब्रह्म पूर्ण शक्ति वाला है। उसको किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं।

(२) **श्रुतिश्च भवति—"न तस्य** कार्य्यं **करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्याधिकश्चदृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च** (श्वेता० । ६ । ८) इति।

श्रुति भी है। अर्थात् श्वेताश्वतर उपनिषद् में हैं :—ब्रह्म का न कारण है न **कार्य्य** है। न उसके कोई बराबर है न अधिक है। उसी की बड़ी शक्ति अनेक प्रकार से सुनी जाती है। उसमें ज्ञान बल तथा क्रिया स्वाभाविक हैं।

(३) **"तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्र शक्ति योगात्** क्षीरादिवद् विचित्र परिणाम **उपपद्यते।**

"इसलिये एक ब्रह्म के विचित्र शक्ति से **विचित्र परिणाम** दूध के समान हो सकते हैं"।

हमने यह तीनों उद्धरण निरन्तर दिये हैं इनके बीच में कोई शब्द छोड़ा नहीं है। कोई साधारण लेखक एक ही साथ तीन परस्पर विरुद्ध बातें लिखने का साहस न करता। परन्तु बड़ों की भूलें भी बड़ी होती हैं पहले लिखते हैं कि ब्रह्म बिना सहायता या साधन के ही सृष्टि बनाता है। फिर दूसरे वाक्य में ही वह प्रमाण देते हैं जिसमें यह बताया है कि ब्रह्म का कोई कार्य्य है ही नहीं अर्थात् ब्रह्म किसी का उपादान है ही नहीं।

फिर साथ ही साथ तीसरे वाक्य में दूध का उदाहरण देकर परिणाम वाद भी सिद्ध कर दिया। इन सब की संगति कैसे लग-गई,? हम तो शंकर स्वामी के शब्दों को ही दुहरायेंगे कि "विचित्रशक्ति योगात्" "विचित्र परिणाम उपपद्यते" अर्थात् शंकराचार्य जी अपनी युक्तियों की विचित्र शक्ति की सहायता से विचित्र परिणाम निकाल बैठते हैं। अन्य पुरुषों के मस्तिष्क इस विचित्रता को समझ नहीं सकते। वस्तुत: यदि वह समझ सकें तो विचित्रता ही कहाँ रही ?

एक इस से भी विचित्र बात इस सूत्र के भाष्य में यह की है कि कुम्हार के करण गिनाने में मिट्टी (मृद्) को भी गिना दिया है। चाक और डोरा तो करण अर्थात साधन हैं परन्तु मिट्टी उपादान है। इस सूत्र में व्यास मुनि को यह दिखलाना था कि ब्रह्म साधनों की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् जैसे दूध से दही बनाने के लिये केवल उपादान की जरूरत होती है किसी कल या यन्त्र की नहीं उसी प्रकार परमाणुओं से सृष्टि बनाने में भी किसी कल या यन्त्र की जरूरत नहीं होती। इससे ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण ही बताया गया है और यही बात श्वेताश्वतर की श्रुति से पुष्ट होती है। परन्तु शंकर स्वामी ने ब्रह्म को उपादान सिद्ध करने के लिये चाक और दण्ड के साथ मिट्टी को भी मिला दिया। यह किसी प्रकार उचित न था।

परन्तु यहीं तक खैर नहीं है। झमेला यहीं समाप्त नहीं होता। न तो ब्रह्म को उपादान कारण मानने में ही काम चलता है क्योंकि उपादान का परिणाम अवश्य होता है जैसे दही का दूध से होता है और न निमित्त कारण मानने से होता है क्योंकि निमित्त के लिये उपादान की अपेक्षा होती है। तो फिर क्या किया जाया ? क्या इसका कोई इलाज है ? हाँ शंकर स्वामी ने निकाला है। वह यह कि कार्य की सत्यता मानने में तो कारण

की मीमांसा की आवश्यकता पड़ती है। यदि कार्य को ही सत्य न माना जाय तो सब झगड़ों से बच जायंगे। न रोग रहेगा न रोगी। नीचे लिखे प्रश्नोत्तर पर विचार कीजिये :—

प्रश्न—**कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वर कारण प्रतिज्ञा विरोध इति चेत्।** (शा० भा० २। १। १४)

अर्थात् जो लोग एक कूटस्थ ब्रह्म ही को मानते हैं वह ईश्वर को कारण कैसे मान सकते हैं ? क्योंकि एक से अनेक कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ईशितृ (शासक) ईशित (शासित) वस्तुओं में कुछ भेद तो होना ही चाहिये। जब केवल एक ब्रह्म ही सत्ता है, इससे अन्य नहीं, तो यह भेद कैसे स्थापित हो सकेगा ?

शङ्कर स्वामी का उत्तर—**न, अविद्यात्मक नाम रूप बीजव्याकारणा पेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य।**

यह आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर की सर्वज्ञता नाम रूप रूपी बीज के विकास की अपेक्षा से है। और नाम रूप बीज अविद्यात्मक है। तात्पर्य यह है कि यह नाम और रूपवाली सृष्टि अविद्या के कारण है। और ईश्वर के सर्वज्ञत्व आदि गुण भी इसी अविद्यात्मक सृष्टि की अपेक्षा से हैं। निरपेक्षक नहीं।

शंकर स्वामी तथा भारतीय अद्वैतवादियों का यह मूल सिद्धान्त है जिस पर उनके अन्य सब सिद्धान्त आश्रित हैं, शंकर स्वामी इसी को आगे स्पष्ट करते हैं—

प्रश्न—**कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता ?** (शा० भा० २। १। १४)

अर्थात् जब तुम आत्मा को एक ओर अद्वितीय कहते हो और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति भी बताते हो तो इन दोनों बातों में परस्पर विरोध क्यों नही ?

शंकर स्वामी का उत्तरः—

शृणु यथा नोच्यते। सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलभ्यते। ताभ्यामन्यःसर्वज्ञ ईश्वरः ॥ (शाँ० भा० २। १। १४)

अर्थ—"सुनो परस्पर विरोध इसलिये नहीं होगा। सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मभूत (निज आश्रित) के समान, अविद्या से कल्पित (उत्पन्न हुई) नाम और रूप दोनों हैं। यह नामरूप न तो तत्व अर्थात् सत् है और न अन्यत्व अर्थात् असत् हैं। यह नाम रूप संसार रूपी प्रपंच का बीज रूप है। श्रुति और स्मृति में लिखा है कि यही नाम रूप सर्वज्ञ ईश्वर की माया-शक्ति है। इन्हीं को ईश्वर की प्रकृति कहते हैं। सर्वज्ञ ईश्वर इन नाम रूप से अलग है।

इससे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

(१) संसार प्रपञ्च नाम रूप हैं।

(२) यह नाम रूप न तो तत्व है, न अतत्व। यह अनिर्वचनीय है। अर्थात् इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(३) यह अविद्या के कारण हैं।

(४) ईश्वर इनसे अलग है।

(५) यह ईश्वर के आत्मभूत के समान हैं।

हमको तो यह समस्त सिद्धान्त ही अनिर्वचनीय अर्थात् भूल भुलैय्याँ प्रतीत होता है। और श्रुति तथा स्मृति के सिर मढ़ दिया गया है। क्योंकि जब नाम रूप से ईश्वर अलग है तो यह नाम रूप ईश्वर के आत्मभूत के समान कैसे हुये? और यदि कहो कि यह वस्तुत: आत्मभूत नहीं किन्तु आत्मभूत के समान (इव) हैं तो समानता का क्या अर्थ है? यह समानता एक अंश में है या सब अंशों में? यदि सब अंशों में तो, इसको समानता नहीं किन्तु अनन्यत्व कहेंगे और 'आत्मभूत इव' का अर्थ 'आत्मभूत' ही होगा अर्थात् 'इव' शब्द व्यर्थ होगा। परन्तु यदि एक अंश में कहो तो यह बतलाना चाहिये कि किस अंश में यह समान हैं और किस अंश में नहीं? यदि नाम रूप अविद्या-कल्पित हैं तो ईश्वर के "आत्मभूत इव" कैसे हुये? और यदि केवल ब्रह्म ही तत्व है और इसके अतिरिक्त अन्य कुछ तत्व नहीं तो नाम रूप 'अतत्व' ही तो हुये। क्योंकि जो तत्व नहीं वह अतत्व और जो अतत्व नहीं वह तत्व। फिर अनिर्वचनीय कैसे हुये? जब नाम और रूप का निर्वचन हो सकता है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि वह तत्व नहीं तो वह अनिर्वचनीय नहीं हुये। यदि ईश्वर नाम रूप से अलग है और ईश्वर से भिन्न कोई तत्व नहीं तो अविद्या किस के आश्रय हैं? सारांश यह है कि परिणामवाद के परिणामों से बचने के लिये शंकर स्वामी ने अविद्या का आश्रय लिया है वह सर्वथा अनुचित है। वह समझते हैं कि यदि हम कार्य्य की अतत्वता सिद्ध करदें तो हमारे वस्त्वैकवाद पर कोई आक्षेप न हो सकेगा। उनके कुछ अनुयायी इसी भ्रम में हैं कि यदि कोई सिद्धान्त आक्षेप रहित हो सकता है तो शङ्कर स्वामी का अविद्यावाद या माया-वाद! श्री तिलक जी गीता रहस्य में लिखते हैं:—

"निर्गुण और सगुण शब्द देखने में छोटे हैं; परन्तु जब इस

का विचार करने लगें कि इन शब्दों में किन किन बातों का समावेश होता है तब सचमुच सारा ब्रह्माण्ड दृष्टि के सामने खड़ा हो जाता है। जैसे, इस संसार का मूल अब वही अनादि पर ब्रह्म है, जो एक, निष्क्रिय और उदासीन है, तब उसी में मनुष्य की इन्द्रियों को गोचर होने वाले अनेक प्रकार के व्यापार और गुण कैसे उत्पन्न हुये तथा इस प्रकार उसकी अखण्डता भङ्ग कैसे हो गई; अथवा जो मूल में एक ही है उसी के बहु विध भिन्न भिन्न पदार्थ कैसे दिखाई देते हैं; जो परब्रह्म निर्विकार है और जिसमें खट्टा, मीठा, कड़ुवा या गाढ़ा, पतला अथवा शीत, उष्ण आदि भेद नहीं है उसी में नाना प्रकार की रुचि, न्यूनाधिक गाढ़ा-पतला पन या शीत और उष्ण, सुख और दुख, प्रकाश और अंधेरा, मृत्यु और अमरता इत्यादि अनेक प्रकार के द्वन्द्व कैसे उत्पन्न हुये ? जो परब्रह्म शांत और निर्वात है उसी में नाना प्रकार की ध्वनि और शब्द कैसे निर्माण होते हैं; जिस परब्रह्म में भीतर या या समीप बाहर या दूर और समीप का कोई नहीं है उसी में आगे या पीछे, दूर या समीप अथवा, पूर्व व पश्चिम इत्यादि दिक्कृत या स्थूलकृत भेद कैसे हो गये ? जो परब्रह्म अविकारी, त्रिकालाबाधित, नित्य और अमृत है उसी के न्यूनाधिक काल-मात्र से नाशवान पदार्थ कैसे बने ? अथवा जिसे कार्य्य-कारण-भाव का स्पर्श भी नहीं होता उसी परब्रह्म के कार्य्य-कारण-रूप—जैसे मिट्टी और घड़ा—क्यों दिखाई देते हैं ? ऐसे ही और भी अनेक विषयों का उक्त छोटे से दो शब्दों में समावेश हुआ है। अथवा संक्षेप में कहा जाय तो, अब इस बात का विचार करना है कि एक ही में अनेकता, निर्द्वन्द्व में नाना प्रकार की द्वन्द्वता, अद्वैत में द्वैत और निःसंग में संग कैसे हो गया। सांख्यों ने तो इस झगड़े से बचने के लिये यह द्वैत कल्पित कर लिया है कि निर्गुण और नित्य पुरुष के साथ त्रिगुणात्मक यानी सगुण

प्रकृत भी नित्य और स्वतंत्र है परन्तु जगत् के मूल तत्व को ढूंढ़ निकालने की मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रकृति है उसका समाधान इस द्वैत से नहीं होता; इतना ही नहीं, किन्तु यह द्वैत युक्तिवाद के भी सामने ठहर नहीं पाता। इस लिये प्रकृति और पुरुष के भी परे जाकर उपनिषत् कारों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म से भी श्रेष्ठ श्रेणी का **'निर्गुण' ब्रह्म ही जगत् का मूल है।** परन्तु अब इसकी उत्पत्ति देना चाहिये कि निर्गुण से सगुण कैसे हुआ, क्योंकि साख्य के सामान वेदान्त का भी यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु नहीं है वह हो ही नहीं सकती। और उससे, 'जो वस्तु है' उसकी कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण (अर्थात् जिनमें गुण नहीं उस) ब्रह्म से सगुण सृष्टि के पदार्थ (कि जिनमें गुण हैं) उत्पन्न हो नहीं सकते। तो फिर सगुण आया कहाँ से ? यदि कहें कि सगुण कुछ नहीं है, तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हैं, और यदि निर्गुण के सामान सगुण को भी सत्य मानें; तो हम देखते हैं कि इन्द्रिय-गोचर होने वाले शब्द, रूप, रस आदि सब गुणों के स्वरूप आज एक है तो कल दूसरे ही, अर्थात् वे नित्य परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान्, विकारी, और अशाश्वत् हैं। तब तो। **(ऐसी कल्पना करके कि परमेश्वर विभाज्य है)** यही कहना होगा कि ऐसा सगुण परमेश्वर भी परिवर्त्तनशील एवं नाशवान् है। परन्तु जो विभाज्य और नाशवान् होकर सृष्टि के नियमों की पकड़ में नित्य परतंत्र रहता है, उसे परमेश्वर ही कैसे कहें? सारांश चाहे यह मानो कि इन्द्रिय-गोचर सारे सगुण पदार्थ पञ्च महा-भूतों से निर्मित हुये हैं अथवा सांख्यानुसार या आधिभौतिक दृष्टि से यह अनुमान कर लो कि सारे पदार्थों का निर्माण एक

ही अव्यक्त सगुण मूल प्रकृति से हुआ है; किसी भी पक्ष को स्वीकार करो, यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जब तक नाशवान गुण इस मूल प्रकृति से भी छूट नहीं गये हैं, तब तक पञ्च महाभूतों को या प्रकृति रूप इस सगुण मूल पदार्थ को जगत् का अविनाशी, स्वतंत्र और अमृत तत्व नहीं कह सकते। अतएव जिसे प्रकृतिवाद को स्वीकार करना है उसे उचित है कि वह या तो यह कहना छोड़ दे कि परमेश्वर नित्य स्वतंत्र और अमृत रूप है; या इस बात की खोज करे कि पञ्च भूतों के भी परे अथवा सगुण मूल प्रकृति के भी परे और कौन सा तत्व है। इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है।" (पृ० २१२)

तिलक जी ने कठिनाइयों को भली प्रकार दर्शा दिया है। अर्थात् केवल प्रकृतिवाद या केवल ब्रह्मवाद में क्या क्या आपत्तियाँ हैं; परन्तु फिर भी उन्होंने अन्त में यह सलाह दी है कि प्रकृति के भी परे जाकर एक तत्व की खोज करना चाहिये। हम भी उनसे सहमत हैं। परन्तु 'परे' का क्या अर्थ है? क्या 'परे' का यह अर्थ है कि जिस प्रकार अव्यक्त प्रकृति से संसार प्रपञ्च बन गया। उसी प्रकार से उस मूल तत्व से प्रकृति बन गई? यदि ऐसा माना जाय तो तिलक महोदय की बताई हुई सभी कठिनाइयां ज्यों की त्यों रहेंगी। और उसमें से एक की भी कमी न होगी तेली के बैल के समान हम उसी कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाते रहेंगे और समस्त खोज करने के पश्चात् भी कोई समाधान न कर सकेंगे। सब आपत्तियों का केवल एक यही उत्तर नहीं हो सकता कि "जगत् के मूलतत्व को ढूंढ़ निकालने की मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रकृति है उसका समाधान इस द्वैत से नहीं होता।" यदि सभी आपत्तियों का यही एक जवाब है कि हम एक मूल तत्व को मान ही लें, चाहें उससे निर्गुण से सगुण उत्पन्न हो सके या न हो सके, तो उस तत्व को ब्रह्म, या चेतन, या आत्मा

मान ने से क्या होगा ? हैकल आदि के समान इस मूल तत्व को जड़ मानने से भी कोई विशेष हानि न होगी। वह कौन सी आपत्ति है जो चेतन मानने से नष्ट हो जायगी और जड़ मानने से शेष रहेगी ? क्या मनुष्य की प्रवृत्ति केवल इतनी है कि **एक मूल तत्व** की खोज निकाले या **'एक चेतन मूल तत्व'** की। मनुष्य की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये ही तो यह सब माना जा रहा है अतः उस प्रवृत्ति की भी तो भली प्रकार मीमांसा करली जाय। शंकर स्वामी ने तो इस प्रवृति को सन्तुष्ट करने के लिये इस समस्त प्रपंच को ही मिथ्या बता दिया। शायद उनकी राय में संसार का मिथ्यात्व ही मनुष्य प्रवृति के अनुकूल था। कम से कम उनकी प्रवृति के तो अवश्य अनुकूल रहा होगा। परन्तु उन्होंने अन्य कठिनाइयों का दार्शिनिक समाधान कैसे किया यह समझ में नहीं आता। तिलक जी लिखते हैं :—

सगुण प्रकृति को स्वतंत्र मानलें तो जगत् के मूल तत्व दो हुये जाते हैं। और ऐसा करने से अद्वैत मत में बाधा आती है जिसका ऊपर अनेक कारणों के द्वारा पूर्णतया निश्चय कर लिया गया है। यदि सगुण प्रकृति को स्वतंत्र नहीं मानते हैं तो यह बतलाते नहीं बनता कि एक ही मूल निर्गुण द्रव्य से नाना विध सगुण सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई ? क्योंकि सत्कार्य्यवाद का सिद्धान्त यह है कि निर्गुण से सगुण-जो कुछ भी नहीं है उससे और कुछ-का उपजना शक्य नहीं है; और यह सिद्धान्त अद्वैत-वादियों को ही मान्य हो चुका है। इसलिये दोनों ही ओर अड़चन हैं फिर यह उलझन सुलझे कैसे ? बिना अद्वैत को छोड़ ही निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होने का मार्ग बतलाना है और सत्कार्य्यवाद की दृष्टि से वह तो रुका हुआ सा ही है। सच्चा

पेच है—ऐसी वैसी उलझन नहीं है। और तो क्या कुछ लोगों की समझ में अद्वैत सिद्धान्त के भानने में यही ऐसी अड़चन है जो सब से मुख्य, पेचीदा और कठिन है। इसी अड़चन से छड़क कर वे द्वैत को अङ्गीकार लिया करते हैं।" (पृ० २३७)

हम स्वीकार करते हैं कि हम भी उन्हीं में से एक हैं। अद्वैत-वाद को मानने में हम को इतनी कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं कि उसका निबटारा हो ही नहीं सकता। परन्तु तिलक जी की सम्मति में "अद्वैतवादी पण्डितों ने अपनी बुद्धि के द्वारा इस विकट अड़चन के फन्दे से छूटने के लिये भी एक **युक्ति संगत** बेजोड़ मार्ग ढूंढ़ लिया है। वे कहते हैं कि

(१) सत्कार्य्यवाद अथवा गुण परिणामवाद के सिद्धान्त का उपयोग तब होता है जब कार्य्य और कारण, दोनों एक ही श्रेणी के अथवा एक ही वर्ग के होते हैं।

(२) और इस प्रकार अद्वैती वेदान्ती भी इसे स्वीकार कर लेंगे कि सत्य और निर्गुण ब्रह्म से **सत्य और सगुण माया का** उत्पन्न होना शक्य नहीं है।

(३) परन्तु यह स्वीकृति उस समय की है जब कि दोनों पदार्थ सत्य हों।

(४) जहाँ एक पदार्थ सत्य है पर दूसरा उसका सिर्फ़ दृश्य है वहां सत्कार्य्यवाद का उपयोग नहीं होता।

(५) अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि माया अनादि बनी रहे, फिर भी वह सत्य और स्वतंत्र नहीं है।

(६) वह तो गीता के कथनानुसार 'मोह' 'अज्ञान' अथवा 'इन्द्रियों को दिखाई देने वाला दृश्य' है। इसलिये सत्कार्य्यवाद

से जो आक्षेप निष्पन्न हुआ था उसका उपयोग अद्वैत सिद्धान्त से किया ही नहीं जा सकता" (पृ० २३७)

इसका दृष्टान्त देते हैं :—

(७) बाप से लड़का पैदा हो तो कहेंगे कि वह इसके गुण परिणाम से हुआ है; परन्तु पिता एक व्यक्ति है और जब कभी वह बच्चे का, कभी जवान का और बुड्ढे का स्वांग बनाये हुये देख पड़ता है तो हम सदैव देखा करते हैं कि इस व्यक्ति में और इसके अनेक स्वांगों में गुण-परिणाम रूपी कार्य्य-कारण.भाव नहीं रहता"। (पृ० २३७)

(८) "ऐसे ही जब निश्चित हो जाता है कि सूर्य्य एक ही है, तब पानी में आंखों को दिखाई देने वाले उसके प्रतिबिम्ब को **हम भ्रम कह देते हैं** और उसे गुण-परिणाम से उपजा हुआ दूसरा सूर्य्य नहीं मानते।" (पृ० २३८)

(९) "इसी प्रकार दूरबीन से किसी ग्रह के यथार्थ स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ज्योतिः शास्त्र कह देता है कि उस ग्रह का जो स्वरूप निरी आँखों से देख पड़ता है वह, दृष्टि की कमजोरी और उसके अत्यन्त दूरी पर रहने के कारण, निरा दृश्य उत्पन्न हो गया है।" (पृ० २३८)

(१०) "ज्ञानहीन चर्म चक्षुओं को जो नाम रूप गोचर होता है वह इस परब्रह्म का कार्य्य नहीं है"—(पृ० २३८)

(११) "वह तो इन्द्रियों की दुर्बलता से उपजा हुआ निरा **भ्रम** अर्थात् **मोहात्मक दृश्य** है, पर यह आक्षेप ही नहीं फबता कि निर्गुण से सगुण उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों वस्तुयें एक ही श्रेणी की नहीं हैं; इनमें एक तो सत्य है दूसरी है सिर्फ़ दृश्य। (पृ० २३८)

(१२) 'किसी भी एक अविकार्य्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपनी अपनी ओर से शब्द-रूप आदि नाम-रूपात्मक गुणों का 'अध्यारोप' करके नाना प्रकार के दृश्य उपजाया करतीं हैं परन्तु कोई आवश्यकता नहीं है कि मूल की एक ही वस्तु में ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नाम रूप होवें ही।" (पृ० २३८)

(१३) "और इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिये रस्सी में सर्प का, अथवा सीप में चांदी का भ्रम होना या आँख में उंगली डाल के एक के दो पदार्थ का रंग विरंग देख पड़ना आदि अनेक दृष्टान्त वेदान्त शास्त्र में दिये जाते हैं।" (पृ० २३८)

पाठकगण ने देख लिया कि अद्वैतवादी पण्डितों ने कैसा "युक्ति-सङ्गत मार्ग" ढूढ़ निकाला । जो समझते हैं कि इस मार्ग से "विकट अड़चन" छूट जाती हैं वह धन्य हैं। हम उनको इस अड़चन-मुक्ति पर बधाई देते हैं। परन्तु हम को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । हम तो स्पष्ट कहते हैं कि यह मार्ग न तो हम को "युक्ति-सङ्गत" ही प्रतीत होता है और न इस से अड़चनें 'छूटती हैं' हां अड़चनों का आधिक्य तो अवश्य हो जाता है। पाठकगण सोचें कि कौन सा मार्ग सोचा गया है। इसका समासरूप से यों वर्णन कर सकते हैं कि—

(१) यह जगत् कार्य नहीं है।

(२) इस लिये इसका कारण भी नहीं।

(३) इसलिये इन जगत् और ब्रह्म में वह सम्बन्ध नहीं जो मिट्टी और घड़े में हैं (फिर ईश्वर जाने छान्दोग्य उपनिषद् का मिट्टी वाला दृष्टान्त कहाँ जायगा ?)

(४) यह जगत् भ्रम है। अर्थात् दृश्य है।

(५) अर्थात जो गुण हम, सृष्टि में देखते हैं वह सृष्टि में नहीं किन्तु हमारों इन्द्रियों द्वारा आरोपित है। ठीक उसी प्रकार जैसे सीप में चांदी का या मृगतृष्णिका में जल या रस्सी में सांप का अध्यारोप होता है।

परन्तु इस अध्यारोप के लिये कोई प्रमाण है या केवल कल्पित कर लिया गया है ? हम 'प्रमाणों का प्रमाणत्व' सिद्ध करते हुये द्वितीय अध्याय में बता चुके हैं कि अध्यास या अध्यारोप क्या बला है और वह कब कब आ जाती है। उसी प्रसङ्ग में हमने रस्सी में सांप, सीप में चाँदी और ऐसी ही अन्य अद्वैतवादियों द्वारा प्राय:प्रदत्त दृष्टान्तों की विस्तार पूर्वक मीमांसा की हैं। यदि हम समस्त संसार को अध्यारोप मात्र मानें तो अध्यारोप का भी लक्षण न कर सकेंगे। रस्सी में सर्प का अध्यारोप उसी समय हो सकता है जब सर्प का ज्ञान ठीक हो। यदि रस्सी भी अध्यारोप का फल है तो रस्सी में सांप का आध्यारोप हो ही नहीं सकता। "अतस्मिँस्तद् बुद्धि" अर्थात् एक चीज़ को दूसरी चीज़ मान लेना ही तो अध्यास है।इसके लिये भी तो तीन चीजें चाहिये; अर्थात

(१) एक वह जिसमें अध्यारोप किया जाय।

(२) दूसरा वह जिसका अध्यारोप किया जाय।

(३) तीसरा वह जो अध्यारोप करे।

इसलिये विवर्तवाद जिसकी जान अध्यारोप है कभी अद्वैत वाद की पुष्टि नहीं करता। उससे भी तो अनेकवाद को ही सिद्धि होती है। हम पीछे किसी स्थान पर दे चुके हैं कि—

अतात्विकोऽन्यथा भावो विवर्तः स उदीरितः।

अर्थात् जो चीज़ **अतात्विक** हो उससे अन्यथा भाव को विवर्त कहते हैं। विवर्तवाद के समझने के लिये दो शब्दों पर

भली भाँति विचार करना होगा एक 'अतात्विक' और दूसरा 'अन्यथाभाव'। फिर यह देखना होगा। कि "अतात्विक" चीज़ों में 'अन्यथाभाव' कैसे उत्पन्न होता है।

सब से पहले 'अतात्विक' शब्द को लीजिये। इसका क्या अर्थ है ? 'तत्व' के न होने को 'अतत्व' कहेंगे। अर्थात् जो वस्तु न हो वह अतत्व है। तत्व वह है जो 'हो' अर्थात् जिसमें सत्ता हो। तत्व का एक अर्थ और भी लिया जा सकता है। अर्थात् 'नित्य वस्तु'। जो सदा एक सी रहे। कभी उसमें तबदीली न हो सके। अब प्रश्न यह है कि 'अतात्विक' का यहां अर्थ क्या लिया गया है :—पूरी कारिका यह है :—

यस्तात्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥

अर्थात 'तात्विक' के अन्यथा भाव को परिणाम कहते हैं और 'अतात्विक' के अन्यथाभाव को विवर्त कहते हैं। परिणाम के लिये उदाहरण दियो जाता है दूध से दही का और विवर्त के लिये उदाहरण दिया जाता है रस्सी में साँप का। उदाहरण को दृष्टि में रखकर लक्षण जल्दी समझ में आ सकेगा। और शब्द-छल दोष से भी बच सकेंगे। इसलिये यदि 'तत्व' का अर्थ यहाँ 'नित्य' अथवा 'न तब्दील होने वाला' लें तो परिणाम का लक्षण और उदाहरण दोनों ग़लत हो जायेंगे। क्योंकि प्रथम तो दूध न नित्य है न 'बे तबदील होने वाला।' दूसरे 'परिणाम' शब्द ही बताता है कि जिस वस्तु में परिणाम करना है वह अपरिणामी नहीं है। जो अपरिणामी वस्तु होगी उसमें परिणाम हो ही कैसे सकेगा ? इसका नतीजा यह निकला कि इस कारिका में 'तत्व' का अर्थ 'नित्य' या अपरिणामी' नहीं है फिर 'तत्व' का क्या अर्थ है'? वही कि शून्य न हो।

अर्थात् जिसकी सत्ता हो। जिसके लिये कह सकें कि यह वस्तु "है"। इस प्रकार "अतात्विक" का अर्थ हुआ 'शून्य' अर्थात् जो कुछ न हो। यदि ऐसा अर्थ लिया जाय तो प्रथम तो "रस्सी में सांप" का उदाहरण ही ग़लत हो जाता है क्योंकि रस्सी शून्य नहीं है। वह तो कोई वस्तु है। जिस प्रकार दूध है उसी प्रकार रस्सी है। अगर दूध 'अतात्विक' नहीं तो रस्सी भी अतात्विक नहीं। यदि रस्सी को अतात्विक मानो तो दूध को भी अतात्विक मानना पड़ेगा। इस प्रकार मानने से विवर्त्त और परिणाम के बीच की भेदकभित्ति ही सर्वथा नष्ट हो जायगी फिर विवर्त और परिणाम में भेद ही क्या रहेगा? यदि कहो कि "रस्सी में सांप" का उदाहरण न देकर हम विवर्त के लिये कोई दूसरा उदाहरण ढूँढ़गें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि तुम्हारे पास कोई ऐसा उदारण है ही नहीं, दोगे कहाँ से? बिना उदाहरण के लक्षण हो ही न सकेगा। यदि कहो कि 'शून्य' में किसी वस्तु के अध्यारोप को विवर्त कहेंगे तो वेदान्तियों की समस्त जड़ कट जायगी और वह कोरे शून्यवादी बौद्धो हो जायँगे। शङ्कर स्वामी परमाणुवादियों को अर्द्ध-वैनाशिक कहा करते हैं। परन्तु वह स्वयम् पूरे वैनाशिक हुये जाते हैं। जिन लोगों ने एक-वाद वा अद्वैतवाद की कठिनाइयों से बचने के लिये अद्वैतवाद के साथ साथ विवर्तवाद मानना आरम्भ किया है वह वस्तुतः भूलते हैं। उनका विवर्त तो बनता ही नहीं।

अच्छा 'अन्यथा भाव' को लीजिये। इसका क्या अर्थ? 'अन्यथाभाव' दोनों लक्षणों में है, परिणाम के लक्षण में भी और विवर्त के लक्षण में भी, इसलिये दोनों स्थलों पर इसका एक ही अर्थ होगा। एक ही कारिका में एक स्थान पर एक अर्थ और दूसरे पर सरदूा अर्थ कदापि न ले सकेंगे 'अन्यथा

भाव' के दो अर्थ लिये जा सकते हैं। एक तो 'ज्ञाता' की अपेक्षा से और दूसरे ज्ञेय की अपेक्षा से। अर्थात् (१) दूसरी चीज़ **समझना** या (२) दूसरी चीज़ **हो जाना**। "दूध से दही" के उदाहरण में न केवल ज्ञाता ही दूध को दही समझता है किन्तु दूध स्वयम् बदल कर दही हो जाता है। दूध से जब दही हुआ तो उसमें ज्ञाता अर्थात् जाननेवाले की कुछ अपेक्षा नहीं रही। रात को मैंने दूध रख दिया। वह दही बन गया तो चाहे मैं उसे दूध ही समझता रहा फिर भी वह दूध न रहा। मैं दूध की आशा में उसे देखने गया तो वहां जाकर देखा तो कहना पड़ा "ओहो! मैं समझता था कि यह दूध होगा परन्तु यह तो दही हो गया"। इसी प्रकार रात को दूध जमाकर रखते हैं। समझते हैं कि यह प्रातः काल दही हो जायगा। परन्तु गर्मी या सर्दी के कारण वह दही नहीं बनता। हम दही की आशा से उसे देखने जाते हैं और वह दूध ही निकलता है। यहां ज्ञाता की अपेक्षा नहीं है परन्तु "रस्सी में सांप" का उदाहरण केवल "ज्ञाता" की अपेक्षा से है। रस्सी सांप हो नहीं जाती। उसे केवल सांप समझ लिया जाता है। दूध जब दही बन गया तो उसको दूध समझना भ्रम है, परन्तु रस्सी को साँप समझना भ्रम है, इसलिये हम तो लक्षण करेंगे कि

किसी वस्तु का अन्य वस्तु हो जाना **परिणाम** है

और

किसी वस्तु का अन्य वस्तु न होना परन्तु अन्य वस्तु समझा जाना **विवर्त** है।

तात्विक दोनों हैं और अन्यथाभाव भी दोनों हैं। परन्तु एक में अन्यथाभाव स्वयं है और दूसरे में ज्ञाता की अपेक्षा से। इस प्रकार संसार में हम परिणाम और विवर्त दोनों ही देखते हैं। कभी

कभी तो चीजें बदल कर दूसरी हो जाती हैं और कभी चिजें स्वयं वैसे ही रहती हैं परन्तु हमको अन्यथा प्रतीत होने लगती हैं। प्रायः वेदान्तियों की सब से बड़ी भूल यह है कि वह परिणाम और विवर्त दोनों को मिलाकर एक कर देते हैं।

जो वस्तुयें हैं अर्थात् जिनकी सत्ता है उनके दो भेद हैं एक नित्य और दूसरी अनित्य। सापेक्षिक रीति से मिट्टी नित्य है और घड़ा अनित्य। परन्तु वस्तुतः घड़ा और मिट्टी दोनों अनित्य है क्योंकि मिट्टी भी एक अन्य मूल पदार्थ से बनी है जो नित्य है। परन्तु विवर्त में प्रतीत होती हुई वस्तु न नित्य है न अनित्य! वह वस्तुतः है ही नहीं। वह तो केवल प्रतीत होती है वह वस्तुतः ज्ञाता के भ्रम के कारण है। परन्तु वेदान्ती लोग सभी को भ्रम समझ लेते हैं। यही भूल है। लोकोक्ति है कि दूध का जला छाछ फूंक कर पीता है या कछुवे का काटा कठौटी से डरता है। यही हाल वेदान्तियों का है। वह समझते हैं कि यदि एक वस्तु की प्रतीत भ्रम के कारण है तो सभी की भ्रम के ही कारण होगी। तिलक जी महाराज गीता रहस्य में लिखते हैं:—"मूल में एक ही वस्तु रहने पर भी, देखने वाले पुरुष के दृष्टि भेद से, अज्ञान से अथवा नजर बन्दी से उस एक ही वस्तु के दृश्य बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कानों को सुनाई देनेवाले शब्द और आंखों से दिखाई देने वाले रङ्ग—इन्हीं दो गुणों को लीजिये। इनमें से कानों को जो शब्द या आवाज सुनाई देती है उसकी सूक्ष्मता से जांच करके आधिभौतिक शास्त्रियों ने पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि 'शब्द' या तो वायु की लहर है या गति और सूक्ष्मशोध करने से निश्चय हो गया है 'कि आंखों से देख पड़ने वाले लाल, हरे, पीले आदि रङ्ग भी मूल में एक ही सूर्य्य-प्रकाश के विकार हैं और सूर्य-प्रकाश स्वयं एक प्रकार की गति ही है। जब कि 'गति' मूल में एक ही है, पर कान उसे

शब्द और आंखें उसी को रङ्ग बतलाती हैं, तब यदि इसी न्याय का उपयोग कुछ अधिक व्यापक रीति से सारी इन्द्रियों के लिये किया जावे तो सभी नामरूपों की उपपत्ति के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद की सहायता के बिना ही ठीक ठीक उपपत्ति इस प्रकार लगाई जा सकती है, कि किसी भी एक अविकार्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपनी अपनी ओर से शब्द-रूप आदि अनेक नाम-रूपात्मक गुणों का '※अध्यारोप' करके नाना प्रकार के दृश्य उपजाया करती हैं। परन्तु कोई आवश्य-कता नहीं है कि मूल की एक ही वस्तु में ये दृश्य, ये गुण अथवा ये नाम रूप होवें ही" (पृ० २३८)

※ शंकर स्वामी ने अध्यास को

स्मृतरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

लिखा है अर्थात् पहले देखी हुई वस्तु का स्मृत रूप से फिर दीख पड़ना अध्यास है। रस्सी में सांप इसलिये दीखता है कि पहले हम ने सांप को देखा था उसकी स्मृति बनी रही। उस स्मृति रूप सांप का हमने रस्सी में अध्यारोप कर दिया। शंकर स्वामी के इस कथन से सिद्ध होता है कि यदि यह जगत् मिथ्या और अध्यास मात्र है तो पहले कोई सच्चा जगत् अवश्य रहा होगा जिसके स्मृतरूप का हम अध्यास करके इस जगत् को देख रहे हैं। यदि यह मान लिया जाय तो अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? जिस प्रकार रस्सी को सांप समझ बैठने से सांप का अन्यत्र होना सिद्ध है उसी प्रकार जगत् को अध्यास मानने से भी जगत् का अन्यत्र होना सिद्ध हो जायगा।

कुछ लोगों ने इस अड़चन को दूर करने का यत्न किया है वह कहते हैं कि पूर्व दृष्ट जगत् भी अध्यास था। स्मृति वास्तविक घटना या पदार्थ की न थी किन्तु अध्यास की ही स्मृति थी। रस्सी को हमने जिस सांप की याद करके सांप समझा वह भी सच्चा सांप न था किन्तु झूठा, अध्यास-कृत सांप था।

इस कथन का विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि

(१) शब्द का मूल एक प्रकार की गति है।

(२) रूप का मूल भी एक प्रकार की गति है।

(३) इसलिये शब्द का मूल वही है जो रूप का है।

(४) परन्तु आँख से वही वस्तु रूप प्रतीत होती है और कान से शब्द।

(५) स्वयं वह न रूप है न शब्द।

(६) इसलिये सिद्ध हुआ कि यह आँख और कान द्वारा किया हुआ अध्यारोप है।

परन्तु इस समस्त युक्ति श्रृङ्खला में एक बड़ी गलती है। यह माना कि शब्द का मूल एक गति है और रूप का मूल भी एक गति है। परन्तु यह दोनों गतियाँ एक नहीं हैं। जो गति वायु में शब्द उत्पन्न करती है वही गति सूर्य्य के प्रकाश को उत्पन्न नहीं करती। हम प्रातः काल अपनी खिड़की में से आते हुये सूर्य्य के प्रकाश को **आंख द्वारा देख** ही सकते हैं। **कान द्वारा**

परन्तु यह कोई उत्तर नहीं है। क्योंकि यदि हम इसी प्रकार अध्यास की मीमाँसा करते जायं और पूछते जाँय कि फिर यह अध्यास किसके कारण हुआ तो अनवस्था दोष आ जायगा। कभी न कभी तो उस अध्यास का आरम्भ मानना ही पड़ेगा जो वास्तविक वस्तु के दीखने से हुआ।

इस व्याख्या में एक दोष यह भी है कि तुम्हारे पास सभी घटनाओं को अध्यास कहने के लिये प्रमाण क्या है ? केवल कल्पना कर लेने से ती काम नहीं चलता। जिस वस्तु को तुम देख रहे हो। या जिसके देखने की तुम बात कर रहे हो उसको मिथ्या या प्रतीति मात्र या अध्यास मात्र बताने के लिये अब तक सुदृढ़ प्रमाण नही इस प्रकार कल्पनायें करते जाना ठीक नहीं।

सुन नहीं सकते। और न जब कोई दरवाज़े पर पुकारता है तो उसकी आवाज़ आंखों द्वारा दिखाई पड़ती है। यदि सूर्य्य का प्रकाश भी शब्द की लहरों के तुल्य होता तो उस अन्धे को जो बहरा नहीं है सूर्य्य के प्रकाश का ज्ञान हो जाता। या उस बहिरे को जो अन्धा नहीं है आंखों द्वारा शब्द की लहरों का कुछ ज्ञान अवश्य होता। इससे सिद्ध है कि आंख उसी गुण को नहीं देखती जिसको कान सुनता है। रही मूल की बात। सो मूल एक होने पर भी शाखायें अलग अलग हो सकती हैं। एक सोने से बने हुये कंगन और बाली एक नहीं और न उनसे एक काम लिया जा सकता है। केवल इसलिये कि घड़ा और चूल्हा दोनों मिट्टी से ही बने हैं केवल पागल पुरुष ही घड़े में रोटी पकाने और चूल्हे में पानी भरने का यत्न करेगा।

फिर यदि मान भी लिया जाय कि एक ही अविकारी वस्तु को कान सुनते और आंखें देखती हैं और उनमें नाम और रूप का अध्यारोप करती हैं तो प्रश्न यह होगा कि कान और आंख स्वयं भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं या कान और आंख का अध्यास किसी अन्य वस्तु द्वारा किया हुआ है। शब्द के लिये तो यह माना कि कान का अध्यारोप है और रूप के लिये यह माना कि आंख का अध्यारोप है। इसलिये कान और आंख के भिन्न भिन्न अध्यारोप के कारण शब्द और रूप का भेद प्रतीत हुआ। परन्तु आंख और कान का भेद किसके कारण हुआ? यदि यह कहो कि वस्तु एक ही है अर्थात् आत्मा, वही अध्यारोप से कान और आंख हो जाता है, तो एक ही आत्मा में यह भिन्न भिन्न भाव अर्थात् कभी कान का भाव और कभी आंख का भाव उत्पन्न ही कैसे हुआ? क्या कारण है कि आत्मा कभी आँख होकर रूप देखता है और कभी कान होकर शब्द सुनता है? फिर यदि आत्मा एक-मात्र वस्तु है उससे अन्य कोई

नहीं। तो वह किस में अध्यारोप करके कान और आंख बन जाता है? तिलक महोदय ने यह प्रश्न तो उठाया है परन्तु इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। वह लिखते हैं :—

"अब यहाँ फिर प्रश्न होता है कि, निर्गुण को सगुण करने की यह शक्ति इन्द्रियों ने कहाँ से ली? इस पर अद्वैत वेदान्त-शास्त्र का यह उत्तर है कि मानवी ज्ञान की गति यहीं तक है, इसके आगे उसकी गुज़र नहीं। इसलिये यह इन्द्रियों का अज्ञान है और निर्गुण परब्रह्म में सगुण जगत का दृश्य देखना, यही उस अज्ञान का परिणाम है।" (पृ० २३९)

यह कोई उत्तर नहीं है। ऐसा उत्तर तो प्रत्येक सम्प्रदाय जिस का शंकर स्वामी ने खण्डन किया है दे सकता है। यह उत्तर नहीं किन्तु स्पष्ट स्वीकृति है कि हम उत्तर नहीं दे सकते। यदि हम समस्त संसार को विवर्त्त रूप में मान लें तो इसके तीन अर्थ होंगे :—

(१) एक हम हैं। दूसरी कोई अन्य वस्तु है जो हम से इतर है। इस इतर वस्तु पर हमने किसी अन्य वस्तु का अध्यारोप किया है।

(२) एक हम हैं। हमसे इतर कोई अन्य वस्तु नहीं। परन्तु हमने शून्य पर किसी अन्य वस्तु का अध्यारोप किया है।

(३) न हम हैं न अन्य कोई वस्तु है। शून्य ने शून्य पर शून्य का अध्यारोप किया है।

पहली दशा में अद्वैत की सिद्धि नहीं होती। फिर भी एक प्रश्न रहता है कि जिस वस्तु का उस अन्य वस्तु पर अध्यारोप किया गया उस वस्तु का ज्ञान हमको कैसे हो गया? क्योंकि जिस बालक ने कभी सांप नहीं देखा था उसको रस्सी में सांप का

विवर्त्त नहीं होता। रस्सी को सांप वही समझता है जिसने सांप पहले देखा हो।

दूसरी दशा में अद्वैत अवश्य सिद्ध है। परन्तु उस एक वस्तु ने जिसको 'अहम्' या 'ब्रह्म' कह सकते हैं अध्यारोप किस प्रकार किया? केवल इतना कह देने से काम नहीं चलता कि **"यह इन्द्रियों का अज्ञान है।"** यदि समस्त संसार 'इन्द्रियों के अज्ञान' के कारण हैं तो इन्द्रियां किसके कारण हैं? इन्द्रियां स्वतन्त्र वस्तु तो हो नहीं सकतीं। जब सब कुछ अध्यारोप है तो इन्द्रियां भी अध्यारोप होगीं। यदि अन्य सब कुछ की प्रतीति की उत्तरदाता इन्द्रियाँ हैं तो इन्द्रियों का उत्तरदाता कौन होगा जब अन्य कुछ है नहीं? परन्तु प्रतीत होता है और इस लिये इस प्रतीत का कारण इन्द्रियों का अज्ञान माना जाता है तो इन्द्रियाँ भी कुछ हैं नहीं। केवल प्रतीत होती हैं। इसलिये इनकी प्रतीत का कारण भी किसी अन्य वस्तु का अज्ञान होना चाहिये। यह अज्ञान किस वस्तु का हो? अद्वैतवाद में रहती ही कौन वस्तु शेष है? केवल ब्रह्म ही तो है। अतः अन्त में यही सिद्धान्त निकलता है कि ब्रह्म के ही अज्ञान के कारण यह सब जगत् प्रपञ्च है। यदि यह बात सच है तो ब्रह्म को न 'सत्यं' कह सकते हैं न 'ज्ञानम्' और न "अनन्तम्"। और वेदान्त दर्शन का यह सूत्र भी अनर्थक हो जाता है जिसमें ब्रह्म को जगत्

जन्माद्यस्य यतः। (१। १। २)।

का उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला और नाश करनेवाला माना गया है।

वेदान्त इस आक्षेप का क्या उत्तर देता है? हम इसको तिलक महोदय के ही शब्दों में देते हैं क्योंकि उन्होंने इस आशय को बहुत स्पष्ट करके लिखा है:—

"फिर यह आक्षेप होता है कि सत्कार्य्य-वाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करने के लिये ही विवर्त्त-वाद निकला है। परन्तु इसी से कुछ लोग जो यह समझ बैठे हैं कि वेदान्ती लोग गुण-परिणामवाद को कभी स्वीकार नहीं करते हैं अथवा आगे कभी नहीं करेंगे, यह उनकी भूल है। अद्वैत मत पर सांख्यमत वालों का अथवा अन्यान्य द्वैतमत वालों का भी जो यह मुख्य आक्षेप रहता है कि निर्गुण ब्रह्म से सगुण प्रकृति का अर्थात् माया का उद्गम हो ही नहीं सकता सो यह आक्षेप कुछ अपरिहार्य नहीं है। **विवर्तवाद का मुख्य उद्देश्य इतना ही दिखला देना है कि एक ही निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों का देख पड़ना सम्भव है।** यह उद्देश्य सफल हो जाने पर अर्थात् जहां विवर्तवाद से यह सिद्ध हुआ है कि एक निर्गुण परब्रह्म में ही त्रिगुणात्मक सगुण प्रकृति के दृश्य का देख पड़ना शक्य है वहां, वेदान्तशास्त्र को यह स्वीकार करने में कोई भी हानि नहीं कि इस प्रकृति का अगला विस्तार गुण परिणाम से हुआ है। अर्थात् वेदान्त का मुख्य कथन यही है कि स्वयं मूल प्रकृति एक दृश्य है—सत्य नहीं है। जहाँ प्रकृति का दृश्य एक बार दिखाई देने लगा। वहाँ फिर इन दृश्यों से आगे चलकर निकलने वाले दूसरे दृश्यों को स्वतन्त्र न मानकर अद्वैत वेदान्त को यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है कि एक दृश्य के गुणों से दूसरे दृश्य के गुण, और दूसरे से तीसरे आदि के इस प्रकार नाना गुणात्मक दृश्य उत्पन्न होते हैं। अतएव यद्यपि गीता में भगवान् ने बतलाया है कि "यह प्रकृति मेरी ही माया है' (गी० ७, १४, ४, ६), फिर भी गीता में ही यह कह दिया है कि ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित

(गी०, ९, १०) इस प्रकृति का अगला विस्तार इस 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गी०, ३२८; १४, २३) के न्याय से ही होता रहता है। इससे ज्ञात होता है कि **विवर्तवाद के अनुसार मूल निर्गुण परब्रह्म में एक बार माया का दृश्य हो चुकने पर इस मायिक दृश्य की, अर्थात् प्रकृति के अगले विस्तार की उपपत्ति के लिये गुणोत्कर्ष का तत्व गीता को भी मान्य हो चुका है।** जब समूचे दृश्य जगत् को ही एक बार मायात्मक दृश्य कह दिया, तब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इन दृश्यों के अन्यान्य रूपों के लिये गुणोत्कर्ष के ऐसे कुछ नियम होने ही चाहिये। **वेदान्तियों को यह अस्वीकार नहीं है कि मायात्मक दृश्य का विस्तार भी नियम बद्ध** ही रहता है। उनका तो इतना ही कहना है कि मूल प्रकृति के समान ये नियम भी मायिक ही है और परमेश्वर इन सब मायिक नियमों का अधिपति है। वह इनसे परे है, और उसकी सत्ता से ही इन नियमों को नियमत्व अर्थात नित्यता प्राप्त हो गई है।" (पृ० २४२)

हमने तिलक महाराज के इस लम्बे चौड़े लेख को अक्षरशः इसलिये उद्धृत किया है कि अद्वैतवाद पर किये हुये आक्षेपों का परिहरण करने में क्या क्या बातें पेश की जाती हैं। और वह आक्षेपों का कहाँ तक परिहरण करती हैं। परन्तु गम्भीर विचार करने पर पता लगता है कि समस्त अद्वैतवाद आक्षेपों के घोर भंवर में है जहाँ से वह बच ही नहीं सकता। तिलक जैसे विद्वान तार्किक तथा उच्च श्रेणी के लेखक ने अद्वैत रक्षा के लिये अत्यन्त परिश्रम किया परन्तु स्पष्ट बात यह है कि मुक-

हमा इतना कमज़ोर है कि कोई अच्छा वकील उसको जिता नहीं सकता। जितनी मीमांसा की जाय उतने ही और आक्षेप प्याज़ के छिलकों के समान निकलने लगते हैं। यह तो प्रश्न नहीं है कि वेदान्ती लोग गुण परिणामवाद को इस समय मानते हैं या नहीं। या अगले युग में मानेंगे या नहीं। या मायात्मक जगत् नियम बद्ध है या नहीं। प्रश्न यह है कि केवल एक ब्रह्म ही की सत्ता मानते हुये और ब्रह्मेतर किसी की सत्ता स्वीकार न करते हुए गुण परिणामवाद का मानना या जगत् का नियम-बद्ध मानना सुसंगत है या नहीं। यदि कोई मनुष्य दस बीस परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों को मानने के लिये हठ करे तो हमारी क्या हानि ? वह जैसा चाहे करे। परन्तु प्रश्न यह है कि दार्श-निक रीति से इसका मानना संभव भी है या नहीं। अर्थात् इसमें कोइ ऐसी अड़चन तो नहीं पड़ जाती जो मौलिक आक्षेप को दूर करने के स्थान में कोई अन्य आपत्ति पैदा कर दे और चौबेजी छबे बनने के बजाय दुबे ही न रह जायं। आइये थोड़ी सी मीमांसा करें।

तिलक जी का पहला कथन यह है कि विवर्तवाद का मुख्य उद्देश्य यह है कि **निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को देख पड़ना सम्भव है।** हम कहते हैं कि एक दशा में संभव है और दूसरी में असम्भव। सम्भव शब्द ही बताता है कि बात अवश्यम्भावी नहीं है। कदा-चित् हो कदाचित् न हो। हम दूसरे अध्याय में भली प्रकार दर्शा चुके हैं कि हमारी इन्द्रियों को भ्रम तो होता है परन्तु कभी होता है कभी नहीं। और भ्रम की मात्रा शुद्ध ज्ञान की मात्रा से बहुत न्यून होती है। हम कभी कभी रस्सी को सांप समझ लेते हैं परन्तु सर्वदा ही नहीं। यदि कहीं सर्वदा ही रस्सी

को सांप समझा जाता तो विवर्तवाद की पुष्टि के लिये यह दृष्टान्त भी नसीब न होता। क्योंकि पचास बार सांप को सांप समझने के कारण ही यह साहस हुआ कि एक बार रस्सी को सांप समझने की नौबत आ गई। विवर्त के जितने उदाहरण विवर्तवादियों की ओर से दिये जाते हैं वह इने गिने थोड़े से ही होते हैं। और उन्हीं का वंश परम्परा से प्रयोग होता चला आया है। इसी से सिद्ध होता है कि तिलक जी महाराज केवल इतना ही कह सकते थे कि **निर्गुण ब्रह्म में माया के अनेक दृश्यों का हमारी इन्द्रियों को दीख पड़ना सम्भव है।** हम इससे इनकार नहीं करते। हम कहते हैं कि न केवल निर्गुण ब्रह्म में किन्तु किसी अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का हमारी इन्द्रियों को दीख पड़ना सम्भव है। परन्तु तिलक जी महाराज यह नहीं कह सकते कि अवश्य ही ऐसा हो। 'सम्भव' शब्द के स्थान में 'अवश्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने भी नहीं किया। और बड़े मज़े की बात यह है कि "सम्भव" से माया वादियों का काम नहीं चलता। उनको तो 'अवश्य' शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये। परन्तु करें कैसे? इसके लिये कोई प्रमाण तो है ही नहीं। समस्त भ्रमवाद या विवर्तवाद के समस्त उदाहरणों से इसी बातकी साक्षी मिलती है।

परन्तु ऐसे साहसी अद्वैतवादी भी मिल सकते हैं जो 'सम्भव' शब्द को निकाल कर 'अवश्य' शब्द रखलें। अच्छा यही सही। परन्तु हम बताये देते हैं कि 'अवश्य' शब्द रखते ही आपके अद्वैतवाद की समस्त भित्ती धड़ाम से आ पड़ेगी। यदि निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है तो उससे भिन्न इन्द्रियाँ कहाँ से आवगी जो "निर्गुण ब्रह्म" में "माया के दृश्यों" को देख सकें। हम यों तो कह सकते हैं कि देवदत्त है और वह ग़लती

करता है। परन्तु यह नहीं कह सकते कि देवदत्त है नहीं परन्तु ग़लती करता है। अध्यारोप तो पीछे होगा। अध्यारोप करने वाला पहले होना चाहिये। यदि कोई अध्यापक कहे कि मेरे लड़कों ने अमुक प्रश्न अशुद्ध निकाला। और हमारे पूछने पर कि कौन से लड़के हैं वह कहे कि लड़के तो कोई नहीं हैं। तो उस अध्यापक के मस्तिष्क की डाक्टर द्वारा परीक्षा करानी आवश्यक हो जायगी। और यदि वह अध्यापक कहने लगे कि लड़के तो न थे परन्तु मुझे शून्य में अथवा अपने में ही पहले लड़कों का दृश्य दीख पड़ा और फिर उन उन लड़कों की ग़लतियाँ भी दीख पड़ीं और फिर मुझे ऐसा भी प्रतीत हुआ कि मैं लड़कों को नियमानुसार ग़लतियों के लिये दण्ड भी दे रहा हूँ। और दण्ड के कारण लड़के चिल्ला भी रहे हैं। और उनकी आंखों से आंसू भी गिर रहे हैं। तब तो मुझे उस अध्यापक के परिवार के साथ शीघ्र ही समवेदना प्रकट करने के लिये बाधित होना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हमारे अद्वैतवादी साहसी भाई यह कहने लगें कि इन्द्रियां भी उसी प्रकार का दृश्य हैं जैसे अन्य दृश्य हैं और माया के अन्य दृश्यों के समान विवर्त मात्र हैं तो अकेले "ब्रह्म" महाराज ही तो इन सब अध्यारोप अथवा भ्रम के करने वाले सिद्ध होंगे। फिर तो "ब्रह्म" शब्द को संसार से उड़ा देना होगा और उसकी जगह मोटे अक्षरों में "भ्रम" लिख देना पड़ेगा। "अहं ब्रह्मास्मि" के स्थान में "अहं भ्रमोऽस्मि" कहना चाहिये। और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के स्थान में "असत्यमज्ञानमनन्तो भ्रमः" ऐसा हो जायगा। ऐसा मानकर भी यदि शंकर स्वामी अथवा उनके अन्य अनुयायी ब्रह्म को 'कूटस्थ' मानें तो मानते रहें परन्तु उनका ऐसा मनना कभी युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता।

परन्तु तिलक महाराज की एक बात तो बड़े मजे की है।

अर्थात् "इस प्रकृति का अगला विस्तार गुण-परिणाम से हुआ है।" असत्य भ्रम के भीतर गुण-परिणाम का घुस पड़ना बड़े आश्चर्य की बात है। क्या लोक में भी ऐसा कोई दृष्टान्त मिलता है? क्या भ्रम में भी ऐसी शक्ति है कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" सिद्धान्त उस पर लागू हो सके? मेरी समझ में तो रेत की नींव पर महल बनाना सुगम है और विवर्त पर गुण-परिणाम होना सर्वथा अशक्य। गुण-परिमाण द्वारा बदली हुई वस्तु और की और दिखाई पड़े यह सम्भव बात है। परन्तु जो वस्तु और की और दिखाई पड़े फिर उस में से गुणों की शृङ्खला उपजने लगे यह तो कहीं न देखने में आया और न बुद्धि से ही विचारा जा सकता है। कल्पना कीजिये कि दूर स्थान पर चूने का पानी रक्खा हुआ है मैंने भ्रम से उसे दूध समझ लिया। यह विवर्त हुआ। इतना सम्भव है। परन्तु क्या उसके आगे यह भी सम्भव है कि चूंकि मैंने उसे एक बार दूध समझा इसलिये अब वह दूध का दही भी बन जाय और उसका मैं रायता भी बना सकूं और पकौड़िया भी भिगो सकूं? मैं कहता हूँ कि यदि यह सब कुछ हो सकता है तो मैं दावे के साथ कहूँगा कि मैंने चूने के पानी को दूध नहीं समझा किन्तु दूध को ही दूध समझा है। इसी प्रकार मृगतृष्णिका को जल समझ जाना तो शक्य है। परन्तु क्या जो पुरुष मृगतृष्णिका को जल समझ लेता है उसके लिये यह भी शक्य है कि वह गुण-परिणामवाद के अनुसार उस रेत से बर्फ की फैक्टरी बनाले। और बर्फ को बेच बेच कर धनाढ्य भी हो जाय और फिर उस धन से जायदाद भी ले ले और उस जायदाद से अपने पुत्र पौत्र आदि अगली सन्तान के लिये बड़ी सम्पत्ति छोड़ जाय? तिलक जी के इस उद्धरण में ऐसी बेतुकी बात है कि यह समझ में आना कठिन है कि तिलक जी ने ऐसी बात लिख कैसे दी? परंतु करते भी क्या? अन्य

अद्वैतवादी आचार्य भी ऐसा ही लिख गये हैं। हमारे कथन का सारांश यह है कि गुण-परिणाम के पश्चात् तो विवर्त का विस्तार हो सकता है परन्तु विवर्त के पश्चात् गुण-परिणाम का विस्तार हो ही नहीं सकता। जब दूध से दहीं बन गया तो यह संभव है कि उसको कोई कपास समझने लगे। परन्तु दही को एक बार भूल से कपास समझ कर उससे कपड़ा नहीं बुन सकता। गुण परिणाभ ही तो ऐसी कसौटी है जो शीघ्र ही विवर्त का भण्डा फोड़ देती है और भ्रम दूर करके शुद्ध-ज्ञान दिलाती है। जैसे कल्पना कोजिये कि एक मनुष्य दूर से अंधेरे में एक वृत्त के ठूंठ को मनुष्य समझ बैठा है। यह विवर्त है। परन्तु इस बात की क्या जांच है कि वह विवर्त है या नहीं ? यदि वह निकट जाकर उस पर एक लाठी मारता है और ठूंठ वैसा का वैसा ही खड़ा रहता है तो वह कहता है "वस्तुतः यह ठूंठ था। मैंने भ्रम से इसे मनुष्य समझा।" परन्तु यदि उसकी लकड़ी खाकर बदले में वह भी दो लकड़ियां झाड़ देता है तो यह अवश्य कहेगा कि "मुझे भ्रम नहीं किन्तु सच्चा ज्ञान था। यदि भ्रम होता तो लकड़ी का उत्तर लकड़ी से न मिलता"। लकड़ी का लकड़ी से उत्तर मिलना ही तो गुण-परिणाम है अर्थात् यदि कारण और कार्य की आगे शृङ्खला चल पड़ी तो मानना पड़ेगा कि पहले विवर्त नहीं था किन्तु शुद्ध ज्ञान था। और यदि शृङ्खला न चल पड़ी तो विवर्त सिद्ध है। यदि दूध से दही और दही से रायता बन गया तो सिद्ध है कि दूध को दूध समझा गया था। वह चूने का पानी न था। और यदि दही न बना न आगे चलकर नियमानुसार अन्य परिवर्तन हुये तो मानना पड़ेगा कि अवश्य "अतस्मिंस्-तद् बुद्धि" अर्थात् हम उस वस्तु को दूध समझ बैठे थे जो वस्तुतः दूध न थी।

इसलिये यदि तिलक जी महाराज के कथनानुसार वेदांतियों

को यह "अस्वीकार नहीं है" कि "प्रकृति का अलग विस्तार गुण-परिणाम से हुआ है, अथवा प्रकृति के अगले विस्तार का उपपत्ति के लिये गुणोत्कर्ष का तत्व गीता को भी मान्य हो चुका है", अथवा "मायात्मक दृश्य का विस्तार भी नियम बद्ध ही रहता है", तो उनको इस बात के मानने में भी आनाकानी न करनी चाहिये कि उसका पहला विस्तार भी विवर्त से न होकर गुण-परिणाम से ही हुआ होगा और विवर्तवाद या मायावाद जैसा कि अद्वैतवादी माना करते हैं सर्वथा अयुक्त; असंगत तथा त्याज्य हैं। परन्तु वह इस दूसरी बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। "उनका तो इतना ही कहना है कि मूल प्रकृति के समान ये नियम भी मायिक ही हैं"। या दूसरे शब्दों में वह किसी सुसङ्गत और युक्तियुक्त बात को नहीं मान सकते। क्योंकि इन नियमों को "मायिक" बताना और "परमेश्वर" को इन सब का "अधिपति" मानना, यह दोनों बातें निरर्थक सी हैं। हम कई बार बता चुके हैं कि यदि "माया" का अर्थ प्रज्ञा है जैसा कि मूल वेदों में आया है तो अवश्य यह सब नियम "मायिक" अर्थात् "प्रज्ञायुक्त" हैं और परमेश्वर उनका अधिपति है। परन्तु यदि 'माया' का अर्थ छलावा या विवर्त है तो उसके ऐसे नियम होना जिनका समस्त आधार माया पर हो और उनका ईश्वर को अधिपति कहना सर्वथा असङ्गत है।

हमारे इस कहने पर कि "परिणाम के पश्चात् विवर्त होना तो सम्भव है परन्तु विवर्त के पश्चात् परिणाम होना सम्भव नहीं" कुछ लोगों को आपत्ति है। वह कहते हैं कि हमारा कथन एक अवस्था की वस्तुओं पर ही लागू होता है। भिन्न २ अवस्था की वस्तुओं पर नहीं। अर्थात् यदि जागृत अवस्था ही होती तो यह कहना ठीक था कि विवर्त के पश्चात् परिणाम नहीं होता। अर्थात् जिस दही को कपास समझ लिया गया उसका

कपड़ा नहीं बुना जा सकता। परन्तु यहाँ तो अवस्थायें ही भिन्न २ हैं। स्वप्न में तो विवर्त मात्र ही हैं। स्वप्न में कपास नहीं होती। केवल उसकी प्रतीत होती है। उसी विवर्त रूपी कपास से हम कपड़ा बुनता हुआ देखते हैं। इसी प्रकार पहले विवर्त होकर फिर परिणाम होना सम्भव हैं।

परन्तु इस प्रकार की आपत्ति उठाने वाले पुरुष स्वप्न में प्रतीत होने वाले दृश्यों तथा परिणाम के तत्व पर विचार नहीं करते। स्वप्न में दीख पड़ने वाले दृश्यों में कारण कार्य्य की शृङ्खला उसी प्रकार नहीं होती जैसी जागृत अवस्था में परिणाम की होती है। उनमें सादृश्य होता है परन्तु बहुत थोड़ा। शृङ्खला की कड़ियां कई स्थानों पर टूटी होती हैं। इसी से तो हम कह सकते हैं कि स्वप्न है। जागृत नहीं। जो नियम बद्धता जागृत अवस्था में पाई जाती है वह स्वप्न में नहीं पाई जाती। स्वप्न हैं अवश्य जागृत के आश्रय। परन्तु वह जागृत का बिगड़ा हुआ रूप है। इसका पूरा विवरण हम "स्वप्न" शीर्षिक वाले अध्याय में कर चुके हैं। इससे यह कहना ठीक नहीं कि एक बार विवर्त होकर फिर परिणाम मानने से सृष्टि की उलझन सुलझ जायगी। प्रत्येक स्वप्न देखने वाला पुरुष जानता है कि कुछ देर तक नियम बद्ध बातें दीख पड़ने पर भी अचानक बहुत से असमबद्ध दृश्य प्रतीत होने लगते हैं, जो स्वप्न के स्वप्नत्व को प्रकट करते हैं। जागृत अवस्था में ऐसा नहीं होता। संसार की समस्त घटनायें नियम बद्ध हैं उनमें शृङ्खला कहीं पर टूटती नहीं। इस लिये संसार को स्वप्न अवस्था के तुल्य मानना ठीक नहीं है।

हमने इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विवर्तवाद के आधार पर जो लोग कहते कि वस्तु केवल एक हैं अनेकत्व मिथ्या है वह न्याय-युक्त नहीं हैं। आगे चल कर हम इसी बात पर दूसरे ढङ्ग से प्रकाश डालेंगे।

नवाँ अध्याय

—०—

सत्ता और एकीकरण



म इस पुस्तक के आरम्भ में ही एकीकरण का कुछ विषय प्रतिपादित कर चुके हैं। एकीकरण का अद्वैतवाद से घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ लोगों का विचार है कि एकीकरण का नियम ही बताता है कि केवल एक मात्र सत्ता है अन्य सब कुछ विवर्त है। क्योंकि ज्ञान कहते ही हैं एकीकरण को। एक से भिन्न अनेक देखना ही अज्ञान या भ्रम है। तिलक महोदय लिखते हैं :—

"सृष्टि ज्ञान केवल इन्द्रियों से दिखाई देने वाला जड़ पदाथ नहीं है ; किन्तु इन्द्रियों के द्वारा मन पर होने वाले अनेक संस्कारों या परिणामों का जो "**एकीकरण**" 'द्रष्टा आत्मा' किया करता है उसो एकीकरण का फल ज्ञान है। इसी लिये भगवद्-गीता में भी ज्ञान का लक्षण इस प्रकार कहा है—"अविभक्तं विभक्तेषु" अर्थात् ज्ञान वही है कि जिससे विभक्त या निरालेपन में अविभक्तता या एकता का बोध हो (गीता० १८, २०)। परन्तु इस विषय का यदि सूक्ष्म विचार किया जावे कि इन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार प्रथम होते हैं वे किस वस्तु के हैं तो जान पड़ेगा कि यद्यपि आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियाँ

से पदार्थ के रूप, शब्द, गन्ध आदि गुणों का ज्ञान हमें होता है तथापि जिस पदार्थ में यह बाह्य गुण हैं उसके आन्तरिक स्वरूप के विषय में हमारी इन्द्रियाँ हमें कुछ भी नहीं बतला सकतीं। हम यह देखते हैं। सही कि 'गीली मिट्टी' का घड़ा बनता है, परन्तु यह नहीं जान सकते कि जिसे हम 'गीली मिट्टी' कहते हैं उस पदार्थ का यथार्थ तात्त्विक स्वरूप क्या है। चिकनाई, गीलापन, मैला रंग या गोलाकार (रूप) इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को पृथक पृथक मालूम हो जाते हैं तब उन सब संस्कारों का **एकीकरण** करके 'द्रष्टा' आत्मा कहता है कि "यह गीली मिट्टी है ;" और आगे इसी द्रव्य का (क्योंकि यह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि द्रव्य का तात्त्विक रूप बदल गया) गोला तथा 'पोली आकृति या रूप, ठन ठन आवाज़ और सूखापन इत्यादि गुण जब इन्द्रियों के द्वारा मन को मालूम हो जाते हैं तब आत्मा उनका एकीकरण करके उसे 'घड़ा' कहता है। सारांश, सारा भेद रूप या आकार में ही होता रहता है। और जब इन्हीं गुणों के संस्कारों को, जो मन पर हुआ करते हैं 'द्रष्टा' आत्मा एकत्र कर लेता है तब **एक ही तात्त्विक पदार्थ के अनेक नाम प्राप्त हो जाते हैं**। इसका सब से सरल उदाहरण समुद्र और तरङ्ग का, या सोना और अलङ्कार का है। क्योंकि उन दोनों उदाहरणों में रंग, गाढ़ापन, वज़न **और गुण एक ही से रहते हैं** और केवल रूप (आकार) तथा नाम यही दो गुण बदलते रहते हैं। इसी लिये वेदान्त में यह सरल उदाहरण हमेशा पाये जाते हैं। सोना तो एक पदार्थ है ; परन्तु भिन्न भिन्न समय पर बदलने वाले उसके आकारों के जो संस्कार इन्द्रियों के द्वारा मन पर होते हैं उन्हें एकत्र करके 'द्रष्टा' उस सोने के ही (कि जो

तात्विक दृष्टि से एक ही मूल पदार्थ है) कभी 'कड़ा' कभी 'अंगूठी' या कभी 'पँचलड़ी' 'पहुँची' और 'कंगन' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम दिया करता है।"

(गीता रहस्य पृ० २१५)

"न्यायतः यह सिद्ध होता है, कि 'कड़ा सोने का है,' 'कंगन सोने का है' इत्यादि वाक्यों में 'है' शब्द से जिस सोने के साथ नाम रूपात्मक 'कड़े' और 'कङ्गन' का सम्बन्ध जोड़ा गया है वह सोना केवल शशशृङ्गवत् अभाव रूप नहीं है, किंतु यह उस द्रव्यांश का ही बोधक है कि जो सारे आभूषणों का आधार है इसी न्याय का उपयोग सृष्टि के सारे पदार्थों में करें तो सिद्धांत यह निकलता है कि पत्थर, मिट्टी, चांदी, लोहा, लकड़ी इत्यदि अनेक नाम रूपात्मक पदार्थ, जो नजर आते हैं वे सब किसी एक ही द्रव्य पर भिन्न २ नाम रूपों का मुलम्मा या गिलट कर, उत्पन्न हुये हैं। अर्थात् सारा भेद केवल नाम रूपों का है; मूल द्रव्य का नहीं। भिन्न २ नाम रूपों की जड़ में ही द्रव्य नित्य निवास करता है। 'सब पदार्थों में इस प्रकार से नित्य रूप से सदैव रहना'—संस्कृत में **'सत्ता सामान्यत्व'** कहलाता है" (पृ० २१६)

"जिसे सत्य अर्थात् नित्य स्थिर तत्व देखना हो, उसे अपनी दृष्टि को इन नाम रूपों से बहुत आगे पहुँचाना चाहिये। इसी रूप को कठ ❀ (२, ५) और मुण्डक (१, २, ९) आदि उपनि-

---

❀ कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर के जो प्रमाण दिये गये वह ठीक नहीं हैं क्योंकि इन प्रमाणों में साधारणतया अविद्या का वर्णन है। वहां यह नहीं कहा गया कि भिन्न २ पदार्थों का अस्तित्व मानना अविद्या है। तिलक जी चूंकि समस्त नाम द्वारा इङ्गित संसार को अविद्या मान रहे हैं अतः उन्होंने इन उपनिषदों में आए 'अविद्या' शब्द का अपना कल्पित अर्थ ले लिया।

षदों में 'अविद्या' तथा श्वेताश्वर उपनिषद् (४, १०) में 'माया' कहा है।" (पृ० २१९)

यहां तिलक महाराज को यह सिद्ध करना है कि केवल 'सत्ता' जो सब पदार्थों में समान है वह तो सत्य है और शेष सब गुण जो पदार्थों में भेद उत्पन्न करते हैं असत्य हैं। जब गुण असत्य हो गये तो गुणी स्वयं असत्य हो जायँगे। जब अन्य पदार्थ न रहेंगे तो केवल एक सत्ता रह जायगी जिसको ब्रह्म कहते हैं। इसके लिये वह क्रमशः हेतु देते हैं:—उनका पहला कथन यह है कि इन्द्रियाँ बाह्य गुणों को तो जानती हैं जैसे घड़े के ठोसपन, गोलपन आदि को, परन्तु वास्तविक घड़ा क्या है यह नहीं जानतीं. यह मन का काम है कि इन्द्रियों से जाने हुये गुणों का एकीकरण करे। अर्थात् यह कल्पना करे कि घड़ा एक वस्तु है जिसमें यह सब गुण रहते हैं। हम इतनी बात को स्वीकार करते हैं। आँख ने देखा कि कोई गोल गोल चीज़ है, हाथ ने छुआ कि यह ठोस है, कान ने सुना कि हाथ के बजाने से ठन ठन की आवाज़ निकली। मन ने एकीकरण किया। अर्थात् विचारा कि जिस एक वस्तु के भिन्न २ गुणों को इन्द्रियों ने देखकर मुझे बताया है वह घड़ा है। परन्तु इस समस्त घटना से यह कैसे सिद्ध हो गया कि जिन गुणों को इन्द्रियों ने देखा वह झूठ थे, असत्य थे अर्थात् वह "अस्तित्व" न रखते थे? यह तो हम मान सकते हैं कि जो तत्त्व जानना चाहता है उसको इन्द्रियों के परे जाना चाहिये क्योंकि यदि वह ऐसा न करेगा तो उसका ज्ञान अधूरा रह जायगा। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इन्द्रियों ने जो रूप देखा वह मिथ्या या कल्पित है जैसा कि गौड़पादाचार्य्य मानते हैं:—

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।

कल्पित एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरं ॥

(वैतथ्य प्रकरण, श्लो० १५)

तो मन एकीकरण किसका करेगा ? रही अधूरे ज्ञान की बात सो यह न केवल मन के द्वारा एकीकरण न करने से ही होता है किन्तु कुछ इंद्रियों के प्रयोग न करने से भी होता है। अर्थात् यदि आप आंख से देखें और हाथ से स्पर्श न करें तो भी अधूरा ज्ञान होगा। चित्रकार ऐसे चित्र बनाते हैं जिनकी ओर टकटकी लगाने से यह प्रतीत होने लगता है कि वह चित्र नहीं किन्तु वास्तविक पदार्थ हैं। परन्तु हाथ बढ़ाकर देखने से पता चल जाता है कि चित्र मात्र है, चीज़ नहीं। इसी प्रकार बाज़ार में मिट्टी के आम बिकते हैं जो देखने और छूने में असली आमों के समान मालूम होते हैं परन्तु चखने से पता चलता है कि वह खिलौने मात्र हैं। चित्र को या मिट्टी के खिलौने को आप केवल इस लिये झूठा कह सकते हैं कि जिस चीज़ को आप चाहते थे वह नहीं है। परन्तु यह कहना कि चित्र का या खिलौने का अस्तित्व ही नहीं है किन्तु केवल कल्पना करली गई है सर्वथा अनुभव के विरुद्ध और युक्ति शून्य बात है। जिस प्रकार घोड़े को देखकर आप कह सकते हैं कि यह गाय नहीं है हम तो गाय के ग्राहक थे, इसी प्रकार आप कह सकते हैं कि हम खाने का आम चाहते थे चित्र का नहीं या खिलौने का नहीं। परन्तु आप यह नहीं कह सकते कि आंखों ने जिस चित्र का रूप देखा या हाथ ने जिस खिलौने को छुआ वह सर्वथा असत्य या कल्पित था। मन ने चित्र और खिलौने का भी उसी प्रकार एकीकरण किया जैसे असली आम का और चित्र भी असली चित्र है नक़ली नहीं। खिलौना भी असली खिलौना है नक़ली नहीं। इसलिये मन का एकीकरण कभी वस्तुओं

की असारता की दलील नहीं। यह जो कहा जाता है कि इन्द्रियां गुणी को नहीं देखतीं गुण को देखती हैं सच है। यदि वह गुणी को भी देखती तो एकीकरण के साधन मन की क्या आवश्यकता होती ? जिस ताप का माप हाथ नहीं कर सकते उसके लिये थर्मामीटर लगाते हैं। परन्तु इससे ताप के मिथ्यात्व की सिद्धि कदापि नहीं होती।

अब नाम और रूप का भी विचार कीजिये। नाम क्या है और रूप क्या है ? "रूप" शब्द तो उन सब गुणों का द्योतक है जो किसी ज्ञेय पदार्थ में पाये जाते हैं चाहे वह किसी इन्द्रियों से क्यों न जाने गये हों। परन्तु 'नाम' वह शब्द है जो ज्ञाता ने अपने मतलब के लिये उस ज्ञान का प्रतिनिधि रूप रख छोड़ा है। नाम पदार्थ में नहीं होता। किन्तु ज्ञाता उसको अपने मतलब के लिये रखता है। परन्तु रूप पदार्थ में स्वयं होता है। इन्द्रियां रूप को जानती हैं कल्पना नहीं करती। जो आग मुझे गर्म या चमकने वाली मालूम होती है वह एक अंगरेज़ को भी वैसी ही मालूम होती है और कुत्ते को भी वैसी ही; परन्तु मैं उसका नाम 'आग' रखता हूँ, अंगरेज़ 'फ़ायर' (Fire) और कुत्ता शायद कोई नाम नहीं रखता। हम तीनों की इन्द्रियां एक ही गुणों का अनुभव करती हैं हम तीनों के मन एक प्रकार से एकीकरण करते हैं। परन्तु हम तीनों नाम भिन्न २ रखते हैं।

"नाम कल्पित हैं परन्तु रूप कल्पित नहीं"

'नाम' है ही कल्पना की चीज़ और यह कल्पना रूप के भाव को एक दूसरे पर प्रकट करने के लिये की जाती है। ग़लती यह है कि नाम और रूप दोनों को कल्पित मान लिया जाता है। यदि अद्वैतवाद के ग्रन्थों को देखा जाय तो एक प्रकार से 'नाम और रूप' एक डरावनी वस्तु (हौआ) हो गये हैं। ऐसा मान लिया

गया है कि नाम और रूप अपत्यता अर्थात् 'नास्तित्व' के पर्य्याय हैं। परन्तु यह बात न्याय सङ्गत नहीं है। एक प्रकार से तो नाम भी कल्पित नहीं किन्तु 'सत्य' ही है। क्योंकि वह **है, उसका अस्तित्व है।** कल्पना केवल सम्बन्ध की की गई है। फ़ायर शब्द ऐसा ही अस्तित्व रखता है जैसा 'आग'। दोनों को हम मुँह से बोल सकते और कान से सुन सकते हैं। परन्तु यदि हमारी इच्छा हो तो हम 'आग' शब्द से जलाने वाली विशेष वस्तु का अर्थ न लेकर अपनी मेज़ या कुर्सी या गाड़ी, या कुत्ते का 'आग' नाम रख सकते हैं। इसलिये न तो 'नाम' कल्पित वस्तु है न रूप, केवल नाम और रूप का सम्बन्ध कल्पित है।

कुछ लोगों का विचार है कि सम्बन्ध या अपेक्षा मिथ्यात्व की निशानी है। वह लोग इस प्रकार दलील करते हैं कि जिस क़लम से मैं लिख रहा हूँ वह सुई **से बड़ी है** और **तलवार से छोटी है।** इसलिये **बड़ापन या छोटापन** दोनों क़लम में नहीं हैं। किन्तु **'अपेक्षा'** अर्थात् सम्बन्ध (Relativity) के कारण हैं। अतः मिथ्या हैं। बार्कले आदि कुछ पाश्चात्य दर्शनकारों ने भी इसी प्रकार दलील दी है। वह कहते हैं कि जिस प्रकार क़लम में छोटापन या बड़ापन गुण नहीं उसी प्रकार अन्य सब गुण जो क़लम में बताये जाते हैं सापेक्षिक और इसलिये मिथ्या सिद्ध हो जयगे और अन्त में 'क़लम' कुछ भी न रहेगी। परन्तु हमारा उनसे विरोध है। हम कहते हैं कि **अपेक्षा या सम्बन्ध** एक ही का नहीं किन्तु **दो** का **अस्तित्व बताता है।** क़लम का तलवार से छोटा होना 'क़लम' और 'तलवार' दोनों के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसलिये 'अपेक्षा'

से अद्वैत नहीं किन्तु द्वैत की सिद्धि होती है। तुम सापेक्षिक गुणों को एक एक करके गुणी के 'नास्तित्व' को सिद्ध करने के लिये पेश करते हो। हम उन्हीं गुणों से न केवल एक गुणी किन्तु दो गुणियों को सिद्ध करते हैं।

जरा सोचिये! सम्बन्ध या अपेक्षा का ज्ञान हम को कैसे होता है? राम और लक्ष्मण भाई भाई हैं। क्या इसके कहने से राम और लक्ष्मण दोनों के अस्तित्व पर पानी फिर जायगा।

राम कौन है? लक्ष्मण का भाई।
लक्ष्मण कौन है? राम का भाई।

इसलिये शायद सधारण तार्किक कहेंगे कि यह तो अन्योन्याश्रित लक्षण हो गया। जब तक हम लक्ष्मण को न जानें राम को नहीं जान सकते और जब तक राम को न जानें तब तक लक्ष्मण को नहीं जान सकते। और जब लक्षण में ही दोष है तो उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण कहां से आवें। और

लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः

किसी वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाणों से ही हुआ करती है अतः न राम की सिद्धि होती है न लक्ष्मण की। परन्तु यह दलील ठीक नहीं। उस मनोवृत्ति पर विचार कीजिये जिस के द्वारा हम ऐसे अपेक्षा-सूचित वाक्य कह सकते हैं। चाहे हमारे पास किसी अर्थ को यथार्थ रीत्या सूचित करने के लिये शब्द न हों परन्तु भाव क्या है? जब हम कहते हैं कि राम और लक्ष्मण भाई हैं तो हमारे मन में क्या भाव उठते हैं? राम और लक्ष्मण का भाई होना मन द्वारा किसी एकीकरण का फल है या क्या? वस्तुतः हम यह वाक्य कह ही नहीं सकते जब तक दो व्यक्तियों का ज्ञान न हो। हमको राम का ज्ञान है। कुछ दो चार या छः गुण 'राम' के मालूम हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण के

भों। इनका विश्लेषण तथा संश्लेषण करके मालूम हुआ कि कुछ **गुण सामान्य** हैं। जैसे उदाहरण के लिये राम के पिता का नाम दशरथ है। लक्ष्मण के पिता का नाम भी दशरथ है। अतः गुणों की समानता या कभी कभी असमानता ही सम्बन्ध या अपेक्षा है। और इससे राम और लक्ष्मण दोनों की सत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि यह क़लम तलवार की अपेक्षा छोटी है या टट्टू रेल की अपेक्षा सुस्त है या यह लड्डू उस अमरूद की अपेक्षा मीठा है तो यहाँ भी मन द्वारा वही विश्लेषण और संश्लेषण हुआ करते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सापेक्षिक गुणों को बताने के कारण गुणी का मिथ्यात्व या नास्तित्व सिद्ध हो सके। या उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का संदेह हो सके।

तिलक महोदय का जो संदर्भ हमने इस अध्याय के आरम्भ में दिया है उसमें एकीकरण के कई अर्थों को गड़बड़ा दिया गया है, अतः उसकी मीमांसा करने के लिये उसको अलग अलग दिखाने की आवश्यकता है। एक ही प्रसंग में एक शब्द का एक ही अर्थ लेना चाहिये, नहीं तो ठीक नतीजा नहीं निकल सकता। यहां एकीकरण को तीन अर्थों में लिया गया है :—

(१) भिन्न भिन्न इन्द्रियों के द्वारा भिन्न भिन्न गुणों का ग्रहण करके मन द्वारा उन गुणों को किसी वस्तु विशेष से सम्बद्ध करना। जैसे गोलाई, रूप, स्पर्श आदि गुणों को जानकर यह कहना कि यह घड़ा है।

(२) कुछ वस्तुओं को देखकर उनके उपादान या मूल तत्व की खोज करना, जैसे कङ्कन, पहुँची आदि से सोने की खोज लगाना।

(३) कई व्यक्तियों को देखकर एक विशेष जाति का पता

लगाना, जैसे शिवदत्त, देवदत्त, यज्ञदत्त को देखकर कहना कि यह मनुष्य हैं।

व्यक्तियों से उपजातियों, उपजातियाँ से जातियाँ और जातियों से बृहज्जातियाँ इसी प्रकार खोजी जाती हैं। मन जिस वस्तु को देखता है उसके गुणों का विश्लेषण करता है। इन्द्रियाँ मन के लिये एक प्रकार का साधन मात्र हैं। वह प्रत्येक सन्निकृष्ट वस्तु के गुणों का ज्ञान प्राप्त करके मन के हवाले करती रहती हैं। मन कई चीज़ों के गुणों का विश्लेषण करके समान को इकट्ठा कर लेता है और असमान को छोड़ देता है। इस समान धर्म को ले लेने को ही **एकीकरण** कहते हैं और इस एकीकरण से जो प्राप्त होता है वह जाति है। जब मैंने शिवदत्त को देखा तो उसमें कई गुण प्रतीत हुये, नाक, कान, आंख आदि की आकृति, शरीर का रंग रूप, इत्यादि। देवदत्त को देखकर भी ऐसा ही हुआ। देवदत्त और शिवदत्त के गुणों में से बहुत से समान निकले और बहुत से असमान। फिर अन्य पुरुषों का अवलोकन किया। इस प्रकार निरीक्षण करते करते मन ने असमान धर्मों को वहीं छोड़ा और समानों को मिलाकर एक नाम दिया कि यह सब "मनुष्य" हैं। इसी प्रकार मनुष्य और पशुओं में तुलना की। वहां भी एक समानता प्रतीत हुई और हमने एक बड़ी जाति का आविष्कार किया जिसको "प्राणी" कह सकते हैं। फिर हम और आगे चले। कुत्ता बिल्ली प्राणियों और ईंट, पत्थर अप्राणियों की समानताओं पर लक्ष्य दिया तो उनमें से कुछ न कुछ समानतायें मिलीं और हम उनको 'वस्तु' नाम देने लगे। परन्तु मन ने अपना काम जारी रक्खा। जो चीज़ उसके संसर्ग में आई वह उसका विश्लेषण, और संतोलन करता ही गया। अन्त में एक धर्म ऐसा मिला जो सब में उपस्थित था वह थी "सत्ता" अर्थात

प्रत्येक वस्तु के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह "है"। अन्य धर्म तो वस्तुओं के अपने विशेष धर्म है परन्तु एक धर्म सब वस्तुओं में समान है। उसका नाम है 'होना' या 'सत्ता' इसी को सत्तासामान्य" कहते हैं, श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं :—

"दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानः। (२।१।६।)

अर्थात् सत्ता लक्षण जो ब्रह्म का स्वभाव है वह आकाश आदि सभी पदार्थों में वर्त्तमान है।

हम को 'एकीकरण' के इन तीनों अर्थों के मानने में कोई आपत्ति नहीं हैं। वस्तुतः यह तीनों क्रियायें हमारे मन में हुआ ही करती हैं। परन्तु तिलक महोदय या अन्य अद्वैतवादी विद्वान् इन एकीकरण रूपी भिन्न भिन्न क्रियाओं से अद्वैतवाद कैसे सिद्ध कर सकते हैं ?

हम ऊपर लिख चुके हैं कि पहले अर्थ से इन्द्रियों द्वारा जाने हुये गुणों के अस्तित्व का खंडन नहीं होता। मन ने जिस समय एकीकरण करके 'घड़ा' नाम रख लिया तो घड़े में वह सब गुण विद्यमान रहे। नष्ट नहीं हो गये। न उनका तिरोभाव ही हुआ। मन ने केवल बण्डल बाँधने का काम किया। जिस प्रकार आप बीस चीजों का एक बंडल बना कर कहने लगते हैं कि यह एक वस्तु है, एक अंश में ठीक उसी प्रकार मन ने आंख द्वारा देखे हुये रूप, हाथ द्वार छुये हुये ठोस पन, कान द्वारा सुने हुये ठन ठन शब्दों का बंडल बाँध कर कह दिया कि यह घड़ा है। जो चीजें बंडल में बांधी गई थीं वह बंडल के ऐक्य के कारण नष्ट नहीं हो गईं वह ज्यों को त्यों वर्त्तमान हैं। 'घड़ा' शब्द उच्चारण करते ही हमको उन सब धर्मों का विचार आ

जाता है जो घड़े में उपस्थित हैं या जिनके कारण उनको यह नाम दिया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम गुणों के बंडल को द्रव्य मानते हैं। हमारा केवल इतना तात्पर्य है कि जहां तक नाम का झगड़ा है वहाँ तक बंडल के नाम और द्रव्य के नाम में बहुत कुछ सादृश्य है। हम केवल नाम देते हैं। द्रव्य के द्रव्यत्व का भाव तो हमारे आत्मा में स्वयं उत्पन्न हो जाता है। प्रत्येक पुरुष के आत्मा में यह शक्ति है कि वह किसी वस्तु के गुण देख कर उस वस्तु के अस्तित्व का अनुभव कर सके। हमारा प्रयोजन यहाँ गुण और द्रव्य के प्रश्न को छेड़ने का नहीं है। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि मन द्वारा घड़े का एकी-करण हो जाने पर घड़े के गुणों का भाव नष्ट नहीं हो जाता किन्तु स्मृति पर अधिक दृढ़ रूप से अङ्कित हो जाता है।

दूसरा आशय है "मूल तत्त्व अर्थात् उपादान की खोज करना।" इस अर्थ में शब्द एकीकरण साधारणतया तो नहीं आता। परन्तु तिलक जी ने प्रयुक्त किया है। मन की इस एकीकरण क्रिया से भी संसार का विवर्त होना सिद्ध नहीं होता। माना कि पहुँची और कङ्गन दोनों का उपादान सोना है। तथापि पहुँची का आकार और है और कङ्गन का और। यह आकार आभास रूप नहीं हैं। कङ्गन और पहुँची अनित्य अवश्य हैं। जितने पदार्थ अनित्य हैं उन सब का विवर्त मानना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता और न उनके लिये कोई उदाहरण ही है। अनित्य का केवल इतना अर्थ है कि वह परिणामी है अर्थात् कारण रूप से कार्य्य रूप में आया है। परन्तु उसका यह कार्य रूप वास्तव में है। आभास मात्र नहीं है। हम विवर्त की मीमाँसा करते हुये लिख चुके हैं कि विवर्त ज्ञाता की अपेक्षा से होता है। ज्ञेय की अपेक्षा से नहीं। कारण से कार्य रूप होने में ज्ञाता की अपेक्षा नहीं होती। मैं देखता हूँ कि सुनार ने सोना लिया।

पहले वह ठोस अवस्था में था। आग पर रखते ही गल गया। अब यह जल के समान बहने वाली वस्तु हो गया। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तुतः वह ठोस है और मैं उसे बहने वाली समझता हूँ या वस्तुतः वह बहने लगा है। मूर्ख से मूर्ख भी यह कह देगा कि सोना अब ठोस नहीं किन्तु द्रवीभूत हो गया। परन्तु हमारे अद्वैती भाई कहेंगे कि यह मूर्खों के लिये ही द्रवीभूत हो गया। हम ज्ञानी हैं। इसलिये हमारे लिये ठोस ही है। अच्छा यदि आप अद्वैतियों में से कोई पुरुष पानी को बर्फ़ की शक्ल में देखकर भी यह कहे कि यह तो पानी ही है मैं इससे स्नान करूँगा। और वह उसके एक मन टुकड़े को अपने सिर पर उसी प्रकार उंडेल ले जैसे पानी का घड़ा उंडेलते हैं तो आप उसको मस्तिष्क-परीक्षा के लिये डाक्टर के यहाँ तो न भेजेंगे ? यदि सुनार भी आपकी भांति ज्ञानी अद्वैतवादी हो। और आप की तरह पिघले हुये सोने को भी ठोस कहने लगे तो क्या वह ज्ञानी सुनार कहलायेगा ? कदापि नहीं। वस्तुतः अनित्यता का अर्थ अभाव नहीं है। चीजें नित्य भी होती हैं और अनित्य भी। अनित्य वस्तुओं की अनित्यता को विवर्त कहना बड़ी भारी भूल है। एक वस्तु को तब्दील होते हुये देखकर भी उसको वैसा ही समझना भी कभी कभी भ्रम का कारण हो जाता है। उस समय उसको वैसा समझना अज्ञान कहलाता है। और उससे अन्यथा समझना ज्ञान। ऐसा बहुत हुआ करता है। कल्पना कीजिये कि आलू उबालने के लिये चूल्हे पर रक्खे। मैं जाकर देखता हूँ कि आलू वैसे ही रक्खे हैं। उनकी आकृति में कोई परिवर्त्तन नहीं दृष्टि पड़ता। परन्तु अधिक अनुभवी पुरुष कहता है कि आलू उबल गये। तुम को भ्रम हुआ है। देख लो, रंग में कुछ तब्दीली आ गई है। प्रायः दूर से देखने में पकी चीज़ कच्ची सी दिखाई पड़ती है और निकट जाकर मालूम होता है कि पक

गई। कच्चा समझना उसको पूर्ववत् समझना है और पक्का समझना उसकी तब्दीली को स्वीकार करना है। जो भेद कच्चे और पक्के में हैं वही सोने और पहुँची में। इसलिये जो लोग प्रत्येक तब्दीली को भ्रम समझ लेते हैं वह भ्रम में हैं। कभी २ तब्दीली का अनुभव न होना भ्रम होता है।

एक और दृष्टान्त लीजिये। एक स्त्री का दो वर्ष का बालक खो गया। बीस वर्ष पीछे उसने एक और बालक को देखा जो बिल्कुल उसी बालक के सदृश है रूप में भी, क़द में भी और अवस्था में भी। वह स्त्री कहती है कि "यह वही बालक है जो बीस वर्ष पहले खोया था" तो आप उसको क्या कहेंगे? यही न कि "अरी बुढ़िया! तू भ्रम में है। यदि यह तेरा ही बालक होता तो आज जवान, डाढ़ी मूंछों वाला होना चाहिये था। चूंकि यह वैसा ही है इसीलिये सिद्ध है कि यह वह नहीं किन्तु कोई और है।" और यदि उसी बुढ़िया को कोई ऐसा पुरुष मिल जाय जिसके डाढ़ी मूंछ आदि हों और आकृति कुछ कुछ उसी बच्चे से मिलती हो और वह आकर कहे "माता! मैं वही तेरा पुत्र हूँ," और बुढ़िया कहे कि "नहीं, तू मेरा पुत्र नहीं हो सकता क्योंकि मेरे बच्चे के तेरे समान डाढ़ी न थी" तो उस समय भी लोग बुढ़िया को पागल कहेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि कभी कभी तो तबदीली का अनुभव न करना भ्रम है और कभी कभी अनुभव करना। बात यह है कि भ्रम कभी ज्ञेय की अपेक्षा से नहीं होता किन्तु ज्ञाता की अपेक्षा से। यदि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद निकाल दिया जाय तो न कुछ भ्रम रहता है न झूठ सच्च। फिर क्यों कहते हो कि रस्सी में सांप दीखता है। फिर तो रस्सी में हाथी भी दीखे तो भ्रम न होगा। क्योंकि ज्ञेय तो कुछ है ही नहीं। ज्ञाता ही ज्ञाता है। वह जब चाहे समझ ले कि हाथी देख रहा हूँ और जब चाहे समझ ले कि साँप देख रहा

हूँ। जब आप कहते हैं कि पहुँची तत्व नहीं है सोना तत्व है तो आप यह अपने प्रयोजन की अपेक्षा से कहते हैं। तत्व को तुम जिस अर्थ में चाहो ले लो। यदि तत्व का अर्थ नित्य उपादान है तो सोना ही तत्व है। यदि तत्व का अर्थ किसी वस्तु का होना है तो पहुँची का भी उसी प्रकार अस्तित्व है जैसा सोने का। इसका एक प्रमाण हम शङ्कर स्वामी के लेखों से ही देते हैं। सत्कार्य्यवाद की पुष्टि में उन्होंने लिखा है:—

यद्यभावाद् भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्।

(शा० भा० २। १। २६)

अर्थात् यदि अभाव से भाव होता तो विशेष कारण से विशेष कार्य्य के उत्पन्न होने का नियम न होता। यहां श्री शङ्कर स्वामी विशेष उपादान से विशेष कार्य्य के उत्पन्न होने को मानते हैं। यह विशेष उपादान से विशेष कार्य होने का नियम उसी समय ठीक हो सकता है जब कार्य्य का वास्तविक अस्तित्व माना जाय। यदि कार्य केवल विवर्त है तो उसके लिये केवल विवर्त करने वाले आत्मा की अज्ञानता ही पर्याप्त है। विशेष कारण की आवश्यकता नहीं। सच्चा दही बनाने के लिये तो सच्चे दूध की आवश्यकता है। परन्तु यदि किसी को भ्रमोत्पन्न अर्थात् झूठा दही देखना हो तो साधारण मूर्ख मनुष्य कपास को दही समझ सकता है जैसे बहुत से धनहीन माता पिताओं के बच्चे चावल के पानी को ही दूध समझ कर पी जाते हैं। परन्तु यदि मतिष्क में अधिक विकार हो तो शायद आग को ही दही समझ कर खाने लगें। उन्मत्त लोग किसी चीज़ को कुछ समझ लेते हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि समस्त कार्य्यरूप

संसार को विवर्त मानने का सिद्धान्त वस्तुवः ऐसा भयानक है कि कोई बड़े से बड़ा अद्वैतवादी भी उसको ठीक ठीक मान नहीं सकता। और यद्यपि श्री शङ्कराचार्य जी ने इसकी बहुत कुछ पुष्टि की है परन्तु अनेक स्थानों पर वह बातें लिखी हैं जो सच्चे विवर्त-वादी को माननी नहीं चाहिये। उदाहरण के तौर पर पहले अध्याय के तीसरे पाद के ३० वें सूत्र को लीजिये। सूत्र यह है—

समान नाम रूपत्वाच्चावृतावप्यविरोधो दर्श-नात् स्मृतेश्च।

इस पर भाष्य करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं:—

यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनाम रूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुति-स्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध इति। तत्रे-दमभिधीयते — समान नामरूपत्वादिति।

तात्पर्य यह है कि प्रलय में यह नाम रूप वाला संसार नहीं रहता परन्तु संसार के प्रवाह रूप से अनादि होने के कारण फिर दूसरे कल्प में उत्पन्न हो जाता है और जिस प्रकार पहले कल्प में नाम रूप हुये उसी प्रकार दूसरे कल्प में भी होते हैं।

यह सृष्टि और प्रलय की कथा ऐसी है जिसके सामने विवर्तवाद ठहर ही नहीं सकता। या यदि विवर्तवाद पर विश्वास किया जाय तो यह सृष्टि और प्रलय तथा फिर सृष्टि और फिर प्रलय का लगातार नियम असङ्गत हो जाता है। क्योंकि यदि माना जाय कि यह वर्तमान संसार प्रतीत मात्र है। है नहीं। मिथ्या है, असत्य है। मालूम पड़ता है। दृष्टि का भ्रम मात्र है तो प्रलय का क्या तात्पर्य है? विवर्त की प्रलय कब

होती है ? उसी समय जब ज्ञान हो जाय। जब तक हम रस्सी को सांप समझते रहे हम भ्रम में थे। हमारे लिये सांप रूपी जगत् था। परन्तु जब ज्ञान हुआ और रस्सी को रस्सी समझा तो फिर हमारे लिये सांप रूपी जगत् भी नष्ट हो गया। ज्योंही मृगतृष्णिका के पास गये और समझने लगे कि जल नहीं किन्तु रेत है तो वह जल रूपी या मृगतृष्णिका रूपी भ्रम नष्ट हो गया। जहाँ जगत् नष्ट हुआ तो इसी का नाम प्रलय है।

विवर्तवादियों को इससे अधिक प्रलय मानने का अधिकार ही नहीं है। नियमानुसार नियत एक सहस्र चतुर्युगियों के पीछे प्रलय मानना और फिर नियत प्रलय के पश्चात् सृष्टि का नये रूप से उत्पन्न होना। इन सब का विवर्तवाद में तो स्थान होना ही नहीं चाहिये। कल्पना कीजिये कि भूल से अज्ञान से या भ्रम से मुझे रस्सी साँप मालूम होती थी। अब ज्ञान हो गया और मैं रस्सी को रस्सी समझने लगा तो क्या मेरे सिर पर भूत सवार है कि नियत समय के पश्चात् वह रस्सी फिर मुझको सांप देख पड़ने लगे। श्री शंकराचार्य्य जी को इस आक्षेप की आशंका थी। अतः वह आगे लिखते हैं:—

अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलय प्रभवश्रवणेऽपि पूर्वं प्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहाराभ्रकश्चिद्विरोधः।

अर्थात् जैसे सोने के पश्चात् जागना और जागने के पश्चात् सोना होता है उसी प्रकार प्रलय और सृष्टि होती है।

परन्तु यहाँ तो श्री शंकर स्वामी ने ऐसी मजे की बात लिखी है जैसी शायद समस्त भाष्य भर में भी न मिलेगी। वह यह कि सृष्टि को जागने और प्रलय को सोने से उपमा दी है।

और इसी की पुष्टि में उपनिषदों का प्रमाण भी दिया है परन्तु यदि मुझसे पूछा जाय तो मैं यही कहूँगा कि मेरा आक्षेप दूर तो नहीं हुआ किन्तु और दृढ़ हो गया। अब तक हमारे कान में ठूँस ठूँस के भरा जाता रहा कि यह समस्त जगत् प्रपंच स्वप्नवत् है। परन्तु यहाँ कहा जाता है कि सृष्टि जागने के समान है और प्रलय सोने के समान। यदि यह जगत् का प्रपंच मिथ्या और विवर्त होता तो इसका मिटना प्रलय होती। अर्थात्

ख्वाब था जो कुछ कि देखा जो सुना अफ़साना था।

अब जाग पड़े तो न ख्वाब रहा न अफ़साना। ज्ञान हो गया भ्रम दूर हो गया। सत्ता केवल रह गई। वह विशेष गुण जो सृष्टि की भिन्न २ वस्तुओं में भेद उत्पन्न किया करते थे मदारी के खेल के समान विलुप्त हो गये। अब क्या है? चैन की वंशी बजाइये और "अहं ब्रह्मास्मि" कहते जाइये। परन्तु इस आनन्द की समाप्ति ही क्यों हो? एक बार ज्ञान हो गया तो फिर भ्रम क्यों हो? अजब तमाशा है कि एक बार भ्रम मिटने पर भी भ्रम पीछा नहीं छोड़ता। अविद्या अच्छी हमारे पीछे पड़ी है कि इसका अन्त ही नहीं होने आता। एक बार लैम्प जलाने से अंधेरा भाग जाता है। परन्तु यह विवर्तरूपी अँधेरा ऐसा है कि लैम्प को भी बुझाने का दम भरता है। और उसे बुझाकर छोड़ता है। प्रलय के पीछे फिर यही नाम रूप जो विवर्त थे, मिथ्या थे, फिर आ विराजते हैं और हमको फिर 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ भुलाकर 'अहं जीवोस्मि' कहने पर मजबूर करते हैं। परन्तु हैरानी तो यह है कि हम इस 'अहं जीवोस्मि' वाली अवस्था को जागृतावस्था कहें कि स्वप्नावस्था।

शायद शंकर स्वामी चाहते हैं कि हम कहीं अपने को सोता समझें और कहीं जागता। विरोध हो तो क्या और अविरोध हो तो क्या ? सोते में जो कुछ मान लो सब कुछ सुसंगत नहीं।

अब सत्ता-सामान्य को लीजिये। कुछ लोग कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं में समान धर्म केवल एक है अर्थात् सत्ता। अन्य सब धर्म किसी न किसी में असमान हैं। अतः जिसमें केवल सत्ता मात्र हो वह तो सत्य है और जिसमें सत्ता के अतिरिक्त अन्य गुण भी हों वह असत्य है क्योंकि वह विशेष गुण केवल प्रतीत होते हैं। हैं नहीं। अर्थात् विवर्त रूप हैं। और चूँकि ब्रह्म ही ऐसी वस्तु है जो सत्ता मात्र है। उसमें कोई गुण नहीं है। अतः ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब मिथ्या।

हम अब इस मत की समीक्षा करते हैं। पहले ऊपर से चलिये। शिवदत्त और देवदत्त दो व्यक्तियाँ हैं। इनमें मनुष्यत्व समान है। अन्य कई धर्म असमान। समान धर्मों को लेकर कहते हैं कि वह दोनों मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् मनुष्य हैं। सत्ता समान्यवादी यहीं से चलता है। वह कहता है कि मनुष्यत्व सत्य है। असमान धर्म मिथ्या। परन्तु इसका प्रमाण क्या ? जो धर्म शिवदत्त को मनुष्य बताते है वह क्यों सच्चे और जो उसको शिवदत्त बताते हैं अर्थात् विशेष धर्म, वह क्यों झूठे ? आख़िर इस सिद्धान्त का मूल क्या है कि समान धर्म सच्चे और असमान झूठे ? धर्म तो दोनों प्रकार के उसी वस्तु में विद्यमान हैं। जिसमें ज्ञान है, प्रयत्न है, मनुष्य की सी सामान्य आकृति है उसी में नाक, कान या चेहरे की विशेषता भी है जिसको देखकर हम कहते हैं कि यह शिवदत्त है देवदत्त नहीं है। गौ और अश्व दोनों में पशुत्व सामान्य है परन्तु वह विशेष धर्म भी हैं जिनको गोत्व और अश्वत्व कहते हैं। यदि शिवदत्त और देवदत्त में मनुष्यत्व सच्चा और शिवदत्तत्व या

देवदत्तत्व झूठा होता तो वही पुरुष ज्ञानी कहलाने के योग्य है जो शिवदत्त को मनुष्य तो समझ लेता है परन्तु शिवदत्त नहीं समझता। और इस प्रकार जब शिवदत्त में शिवदत्तत्व झूठा हुआ और देवदत्त में देवदत्तत्व झूठा तो महाज्ञानी वह होगा जो देवदत्त और शिवदत्त में भेद न कर सके। हम नहीं कह सकते कि उस पुरुष के लिये क्या कहें जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पहचान न सके।

जो बात एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के विषय में कही जा सकती है वही एक जाति और दूसरी जाति के साथ भी लागू होती है। और वही चेतन और अचेतन वस्तुओं के साथ भी। चेतन और अचेतन वस्तुयें सत्ता धर्म की अपेक्षा से ही समान हैं अर्थात् वह "हैं"। परन्तु उनमें असमान धर्म भी तो हैं, जो जड़ को जड़ और चेतन को चेतन बना रहे हैं। चेतनत्व और जड़त्व यह विशेष धर्म दोनों में अलग अलग पाये जाते हैं। अतः कहना पड़ता है कि न तो चेतन का चेतनत्व झूठा है न जड़ का जड़त्व। यदि चेतनत्व और जड़त्व रूपी विशष धर्मों को दूर कर दिया जाय तो फिर रह ही क्या जायगा ?

हम यहां एक बात और बताते हैं जिस पर साधारणतया विचार हीं नहीं किया जाता। वह यह कि ज्ञान कहते किसको हैं ? जब कहा जाता है कि अमुक वस्तु का हम को परिज्ञान है तो इसका क्या तात्पर्य होता है ? यही न कि अमुक वस्तु में विशेष धर्म है ? मैं किसी स्कूल के छात्र से पूछता हूँ कि "दशरथ कौन थे" ? और वह उत्तर देता हैं कि "एक मनुष्य !" तो मैं उसे मूर्ख कहूँगा। क्योंकि यह तो एक मूर्ख भी जानता है कि दशरथ एक मनुष्य थे। एक इतिहास के विद्यार्थी को उन विशेष बातों का वर्णन करना चाहिये जो दशरथ में पाई जाती थीं। इसी पुस्तक के पृष्ठों पर अनेक अक्षर लिखे जा रहे हैं। यह सब

अक्षर एक से नहीं हैं। इनमें समानता और असमानता दोनों हैं। यदि किसी बे पढ़े से पूछा जाय कि इस पृष्ठ पर क्या लिखा है? तो वह झट उत्तर देगा कि अक्षर लिखे हैं। यदि मैं उससे पूछूँ कि यह सब अक्षर एक से हैं या भिन्न भिन्न तो वह कहेगा कि "मुझे तो एक से ही प्रतीत होते हैं"। वस्तुतः यह ठीक है। जिस को अक्षरों का बोध नहीं उसे तो सभी अक्षर एक से दृष्ट पड़ेंगे। भेद तो केवल वही देख सकेगा जिसकी दृष्टि तीव्र है। इसलिये केवल सत्तामात्र का ज्ञान होना और विशेष बात का ज्ञान न होना मूर्खता का चिह्न है ज्ञान या बुद्धि का नहीं। यदि संसार की वस्तुओं में भिन्न भिन्न धर्म न होते तो उनके नापने के लिये हमको भिन्न भिन्न करण अर्थात् इन्द्रियाँ भी न दी गई होतीं। नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा इसलिये हैं कि प्रत्येक यंत्र से हम अलग अलग चीज़ों के गुणों को जान सकें। मन अवश्य एकीकरण का कृत्य करेगा अर्थात समान धर्मों को देखकर उनकी भिन्न भिन्न जातियाँ बनायेगा। परन्तु उसके एकीकरण करने के लिये भी तो इन्द्रियों के द्वारा विशेष गुणों का परिज्ञान होना चाहिये। यदि वस्तुओं में विशेष गुण नहीं है केवल सत्तामात्र ही सच्ची है तो उस सत्ता को जानने के लिये एक सत्ता वाली इन्द्रिय परियाप्त थी। परन्तु ऐसा नहीं है। इस बात को हमीं नहीं कहते। विवर्तवाद के पिता शंकर स्वामी भी कहते हैं। उनके नीचे के वाक्य पर ध्यान दीजिये :—

नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्। न। गन्धादि विषय विशेषपरिच्छेदार्थत्वात्॥

(शां० भा० २। ३। १८)

अर्थात् यदि आत्मा स्वरूप से चेतन है तो उसके लिये नाक आदि इन्द्रियाँ व्यर्थ होगीं। यह प्रश्न उठाया गया है। इस पर

शंकर स्वामी उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है। गन्ध आदि अलग अलग विषय हैं उनके जानने के लिये विशेष करण या साधन चाहिये।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि यदि यह विशेष विषय झूठे होते या इनका अस्तित्व न होता तो यह इन्द्रियाँ न दी जातीं।

यहाँ शंकर स्वामी ने भूल से अपने मत के विरुद्ध ही एक और बात मान ली। यों कहना चाहिये कि उनके मुँह से निकल गया कि इन्द्रियाँ अध्यास नहीं हैं किन्तु वास्तविक करण हैं। हम दूसरे अध्याय में इस बात का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि शंकर स्वामी ने वेदान्तभाष्य की भूमिका में किस प्रकार इन्द्रियों को भी अध्यासरूप माना है। अर्थात इन्द्रियाँ वास्तविक साधन नहीं हैं। परन्तु इस सूत्र का भाष्य करते हुये वह यह कहने पर मजबूर हो गये कि इन्द्रियाँ मनुष्य को धोखा देने के लिये नहीं किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये बनाई गई हैं और यह ज्ञान किस बात का? क्या मिथ्यात्व का? क्या विवर्त का? क्या रस्सी को सांपरूप में देखने के लिये? नहीं। कदापि नहीं। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मिथ्या ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी साधन ढूँढे? यदि कोई ऐनक ऐसी हो जो वस्तु को यथार्थ रूप में न दिखाये किन्तु टेढ़ा मेढ़ा दिखाये तो मैं कदापि ऐसी ऐनक को न खरीदूँगा। इसी प्रकार यदि संसार के सब विषय झूठे या मिथ्या हैं या विवर्त हैं तो उनके लिये इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं। और चूँकि इस सूत्र में शंकर स्वामी इन्द्रियों की उपयोगिता बताते हैं अतः यह भी सिद्ध है कि उनके कथनानुसार संसार के सब विषय सच्चे ही होने चाहियें और जो कुछ हम देखते हैं उसको विवर्त न होना चाहिये।

जिस प्रकार विना रूप की सारता के आंखें भी असार हैं इसी प्रकार विना ज्ञेय के अस्तित्व के ज्ञाता का भी अस्तित्व सिद्ध

नहीं होता। यदि मैं ही मैं हूँ। और 'मैं' से इतर कोई अन्य वस्तु है ही नहीं तो मैं ज्ञाता किस वस्तु का? फिर तो मैं क्या जानता हूँ? कुछ नहीं! कुछ नहीं? हां कुछ नहीं! क्योंकि मेरे सिवा कुछ नहीं है। यदि कुछ होता तो मैं उसे जानता। कुछ है ही नहीं तो जानूँ क्या, अपना सिर? फिर मेरा ज्ञाता होना किस काम का? सर्वथा व्यर्थ और सर्वथा अनर्थक। इस बात के लिये भी हम शंकर स्वामी की ही गवाही देंगे :—

सुषुप्तं प्रकृत 'यद्वै तन्नपश्यति पश्यन् वै तन् न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्त यत् पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) **इत्यादिना। एतदुक्तं भवति-विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति। वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद् वत्।**

(शां० भा० २ । ३ । १८)

यहाँ प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या सोते समय मनुष्य की देखने की शक्ति नहीं होती। इस पर बृहदारण्यक का प्रमाण देते हैं कि आत्मा सुषुप्ति में देखता हुआ भी नहीं देखता क्योंकि उस समय उसके देखने के लिये अपने अतिरिक्त कोई पदार्थ भी नहीं होता। इस पर शंकर स्वामी लिखते हैं कि जीव कभी कभी अचेतन सा दीख पड़ता है उसका कारण यह नहीं है कि वह अचेतन हो गया किन्तु इतना ही है कि उसके ज्ञान के लिये कोई ज्ञेय पदार्थ नहीं रहा। जैसे आकाश के आश्रय प्रकाश का उस समय तक अनुभव नहीं होता जब तक कोई प्रकाश्य वस्तु न हो। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि चेतन आत्मा की चेतनता या ज्ञातृत्व

भी ज्ञेय वस्तु की अपेक्षा से है। और संसार असार नहीं किन्तु संसार है। यह मिथ्या नहीं किन्तु सत्य है। हां, जिस प्रकार कभी कभी लोग रस्सी को सांप मान लेते हैं या सांप पड़ा भी हो तो भी नहीं देखते क्योंकि उनकी आँख में कुछ दोष आ जाता है। इसी प्रकार कोई कोई पुरुष किसी भ्रम के कारण देखते हुये भी नहीं देखते और सुनते हुये भी नहीं सुनते। वह इस सारगर्भित संसार को असार समझ बैठे हैं। यहाँ मुझे शंकर स्वामी का ही एक श्लोक याद आ गया। वह यह है।

असार संसार समुद्रमध्ये निमज्जितो मे शरणं किमस्ति ?

अर्थात् इस असार संसार रूपी समुद्र के बीच में मैं डूब रहा हूँ। इसके लिये कौन सी शरण ढूँढ़नी चाहिये ? मैं तो इस का उत्तर यह देता कि महाराज ! सचमुच के समुद्र में डूबने वाला शरण पुकारे तो पुकारे। आप क्यों पुकारते हैं ? क्योंकि आप का यह समुद्र तो असार है। झूठ मूठ के समुद्र में मज़े से ग़ोते मारते रहिये क्या परवाह है ? डूबियेगा तो कदापि नहीं। झूठ मूठ के पानी से तो बच्चे खेल में नहाया करते हैं और उनका अंग नहीं भीगता। आप भी ख़ूब डुबकियाँ लगाइये, कूदिये, उछलिये, तैरिये आपका बाल भी बांका न होगा। आफ़त तो हमारी है जो इसको सच्चा समुद्र मान रहे हैं। डूबने का भय तो हमको है और हम ही ईश्वर की शरणरूपी नौका से इस को तरना चाहते हैं।

एकीकरण के विषय में एक बात और कह कर इस अध्याय को समाप्त करते हैं। यह केवल शाब्दिक बात है परन्तु अर्थ से भी बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है। 'एकीकरण' का क्या अर्थ है ? एकीकरण संस्कृत व्याकरण के नियम से एक+च्वी+

करण से बनता है। च्वी प्रत्यय के लिये नियम है 'अभूत तद्भावे च्वी'। अर्थात जो न हो और हो जाय वहाँ च्वी लगाते हैं। इस प्रकार एकीकरण का अर्थ हुआ "एक करना उन चीजों का जो एक न हों अर्थात् अनेक हों"। इससे तात्पर्य यह निकला कि जो वस्तु एक ही है उसका एकीकरण नहीं हो सकता। एकीकरण उन वस्तुओं का ही होगा जो अनेक हों। इसलिये क्या व्याकरण, क्या मनोविज्ञान, क्या अन्य शास्त्र, सभी के द्वारा वस्तुओं का अनेकत्व या बहुत्व सिद्ध है। ऐक्य नहीं। वस्त्वैक्यवाद न केवल विवर्तवाद या भ्रमवाद ही है किन्तु विवर्त भी है और भ्रम भी। वस्तुतः बहुत्ववाद ही ठीक है।

---

*

*

दसवां अध्याय

—:०:—

माया की माया



शंकराचार्य्य जी का अद्वैतवाद कोरा अद्वैतवाद नहीं है। उसमें मायावाद सम्मिलित है। हम चौथे अध्याय में 'माया' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थों के विषय में लिख चुके हैं। यहाँ हम केवल उस 'माया' के मीमांसा करेंगे जो श्री शंकराचार्य के मत का बुनियाद पत्थर है।

सब से पहले हम यह बता दें कि श्री शङ्कराचार्य्य जी को 'माया' की क्या आवश्यकता पड़ी। स्वामी शङ्कर जी केवल ब्रह्म को ही सत्ता मानते हैं। इससे इतर सब कुछ मिथ्या है। "ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या" यह उनके धर्म का महावाक्य या परम सूत्र है।

गत अध्यायों में हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि केवल ब्रह्म से यह सृष्टि जैसी कि प्रतीत होती है बन नहीं सकती। यदि ब्रह्म के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं तो यह सृष्टि बनी कैसे? यदि परिणामवाद के अनुसार सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम और ब्रह्म को सृष्टि का उपादान माना जाय तो सब से बड़ी कठिनाई यह है कि ब्रह्म कूटस्थ, अखण्ड और एक रस नहीं रहता। इसलिये कहा गया कि यह सृष्टि परिणाम नहीं किन्तु विवर्त है। अर्थात् है नहीं। केवल प्रतीत होती है। यहाँ

भी आक्षेप से छुटकारा नहीं। क्योंकि यदि ब्रह्म ही ब्रह्म एक सच्ची सत्ता है और सब कुछ विवर्त है तो अखण्ड, एक रस, ज्ञानमय ब्रह्म में यह विवर्त कैसे हुआ ?

बस इसी रोग की औषधि माया है।

पहले देखना चाहिये कि श्री शङ्कराचार्य आदि के मत में "माया" क्या चीज़ है ?

निश्चलदास जी वृत्तिप्रभाकर में लिखते हैं—"अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया, शक्ति, ये नाम एक ही पदार्थ के हैं, माया अविद्या का भेदवाद एक देशी का है नैयायिकादिक ज्ञानाभाव कूं ही अज्ञान कहैं हैं, सिद्धान्त मत मैं **आवरण विक्षेप शक्ति वाली अनादि भावरूप** अज्ञान पदार्थ है, विद्या सैं नाश होने ते अविद्या कहैं हैं, प्रपंच का उपादान होने तैं प्रकृति कहैं हैं दुर्घट कूं भी संपादन करै या तैं माया कहैं हैं, स्वतन्त्रता के अभाव तैं शक्ति कहैं हैं।...जैसे सतविलक्षण अज्ञान है, तैसे असत् विलक्षण भी हैं, या तैं अवाध्यरूप सत्व को अज्ञान में अंगीकार है। इसी वास्ते सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अज्ञान है, सर्वथा वचन के अगोचर कूं अनिर्वचनीय कहैं हैं, किन्तु पारमार्थिक सत् स्वरूप ब्रह्म से विलक्षण औ सर्वथा सत्ता स्फूर्त्तिशून्य शशश्रृंगादिक असत् से विलक्षण ही अनिर्वचनीय शब्द का पारिभाषिक अर्थ है, या तैं अनादिभावरूपता कथन संभवै है। औ नैयायिकादिकन के मत में जैसे निषेधमुख प्रतीति का विषय ज्ञानाभावरूप अज्ञान है, तैसा अद्वैतग्रन्थन में अज्ञानशब्द का अर्थ नहीं है, किन्तु ज्ञानबाध्यरूप रज्जुसार्पादिक जैसे विधिमुख प्रतीति के विषय हैं तैसैं ज्ञान से विवर्तनीय विधिमुख प्रतीति का गोचर अज्ञान है। अज्ञान शब्द में आकार का विरोधी अर्थ है यह पूर्व कहा

है। या तैं अज्ञान मैं भावरूपता कथन संभवै है, और प्राचीन आचार्य विवरणकारादिकां ने अत्यन्त उद्घोष तैं प्रकाश विरोधी अंधकार कूं भावरूपता प्रतिपादन करके ज्ञान विरोधी अज्ञान कूं भावरूपता ही प्रतिपादन करी है; या तें अज्ञान कूं भावरूपता श्रवण करैं तो उत्कर्ष होवै तो अल्प-श्रुत हैं, इस रीति से भावरूप अवज्ञान है, उत्पत्तिरहित होने में अनादि है औ घट की नाईं अवयवसमवेत रूप सावयव नहीं है, तथापि अंधकार को नाईं सांश है।"

(बृत्तिप्रभाकर प्रकरण ८)।

यहाँ निश्चिलदास जी ने इतनी बातें मानी है :—

(१) अविद्या, माया, प्रकृति, अज्ञान, शक्ति एक ही पदार्थ के भिन्न २ नाम हैं।

(२) यह अज्ञान **आवरण विज्ञेय शक्ति** वाला है उसी प्रकार जैसे अंधकार है।

(३) **भाव रूप** पदार्थ है। खरगोश के सींग के समान असत् नहीं है! उसी प्रकार जैसे अंधकार को भावरूप आचार्यों ने माना है।

(४) ब्रह्म के समान सत् नहीं है।

(५) अनादि है।

(६) प्रपंच (संसार) का उपादान कारण है।

अब यह भी देखिये कि यह 'माया' या 'अविद्या' क्या करती है।

(१) "शुद्ध चेतन के आश्रित मूल प्रकृति में चेतन का प्रति-बिम्ब ईश्वर है।" (पृ० ३४६)

(२) "आवरण शक्ति विशिष्ट मूल प्रकुति के अंशन कूं अविद्या कहैं हैं, अविद्यारूप अनंत अंशन मैं चेतन के अनंत प्रतिबिम्ब जीव कहैं है" (पृ० ३४६)

(३) "और तत्वविवेक प्रन्थन में इस रीति सें जीव ईश्वर का निरूपण है, जगत् का मूल भूत प्रकृति के दो रूप कल्पित हैं, इसी वास्तै मूल प्रकृति के प्रसंग में "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" यह श्रुति है। "स्वयमेव" कहिये जगत् का मूल प्रकृति आप ही मायारूप अविद्या रूप होवै है। शुद्ध सत्व प्रधान माया है, मलिन सत्ववादी अविद्या है, रजोगुण तमोगुण सें अभिभूत सत्व कूं मलिन सत्व कहें हैं, जासें रजोगुण तमोगुण अभिभूत होवै ताकूं शुद्ध सत्व कहें हैं। तिरस्कत कूं अभिभूत कहें हैं। उक्त रूप माया के प्रतिबिम्ब ईश्वर है और विद्या में प्रतिबिम्ब जीव है।" (पृ० ३४६)

(४) "ईश्वर की उपाधि माया का सत्व शुद्ध होने तें ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव की उपाधि अविद्या का सत्त्व मलिन है या तें जीव अल्पज्ञ है" (पृ० ३४७)

(५) "विशेष शक्ति की प्रधानता सें माया कहैं, आवरण शक्ति की प्रधानता सें अविद्या कहें हैं।" (पृ० ३४७)

(६) "ईश्वर की उपाधि माया में आवरण शक्ति नहीं; या तें माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर कूं अज्ञता नहीं और आवरण शक्तमती अविद्या में प्रतिबिम्ब जीव कूं अज्ञता है।" (पृ० ३४७)

(७) "माया तें प्रतिबिम्ब ईश्वर है, अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब जीव है।" (पृ० ३४७)

(८) "या प्रसंग में प्रतिबिम्ब के जीव कहें अथवा ईश्वर कहें, तहाँ केवल प्रतिबिम्बत्व कूं जीवता अथवा ईश्वरता इष्ट नहीं है। किन्तु प्रतिबिम्बत्वविशिष्ट चेतन कूं जीवता और ईश्वरता जाननी।" (पृ० ३४७)

(९) "काहे तें ? केवल प्रतिबिम्ब कूं जीवता ईश्वरता होवै

तो जीव वाचकपद और ईश्वर वाचकपद मैं भाग त्याग लक्षण का असंभव होवैगा।" (पृ० ३४७)

(१०) "प्रतिबिंबत्व धर्म तो मिथ्या है और स्वरूप मैं प्रतिबिंब मिथ्या नहीं।" (पृ० ३४७)

(११) "आकाश के च्यारि भेद हैं। घटावच्छिन्न आकाश कूं घटाकाश कहै हैं, निरवच्छिन्न आकाश कूं महाकाश कहैं हैं, घट जल मैं आकाश के प्रतिबिंब कूं जलाकाश कहैं हैं मेघ मैं जल के सूक्ष्म कण हैं तिनमैं आकाश के प्रतिबिंब कूं मेघाकाश कहैं हैं।" (पृ० ३४८)

(१२) "तैसैं चेतन भी कूटस्थ १, ब्रह्म २, जीव ३, ईश्वर ४, भेद से च्यारि प्रकार का है। स्थूल सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान चेतन कूं कूटस्थ कहैं हैं, निरवच्छिन्न चेतन कूं **ब्रह्म** कहैं हैं, शरीर रूप घट मैं बुद्धिस्वरूप जल मैं जो चेतन का प्रतिबिंब ताकूं जीव कहैं हैं, मायारूप अंधकारस्थ जो जलकण समान बुद्धिवासना तिनमें प्रतिबिंब कूं ईश्वर कहैं हैं। (पृ० ३४८)

(१३) जहां कूटस्थ का ब्रह्म से अभेद कहैं तहाँ **अभेद समाना-धिकरण** है। जैसे जलाकाश का महाकाश तैं अभेद कहैं तहां जलाकाश का महाकाश तैं **बाधसमानाधिकरण** है, और घटाकाश का महाकाश तैं, अभेद कहैं तहाँ **अभेद समानाधिकरण** है, या ही कूं मुख्य समानाधिकरण कहैं हैं, इस रीति मैं विद्यारण्य स्वामी नैं जीव का ब्रह्म सैं बाधसमा-नाधिकरण ही लिखा है। (पृ० ३५०)

श्री विद्यारण्य स्वामी पञ्चदशी के चित्रदीप प्रकरण में लिखते हैं :—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा

घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा । १८ ।

यहां कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर चार भेद किये हैं। जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश आकाश के चार भेद हैं।

यथा धौतो घट्टितश्च लाँछितो रंजितः पटः ।
चिदंतर्यामी सूत्रात्मा विराट चात्मातथेर्यते ॥ २ ॥

अर्थात् जैसे वस्त्र की चार अवस्थायें होती हैं :—

(१) श्वेत (२) इस्तिरी किया हुआ (३) जिस पर सिकुड़न पड़ी हो, (४) जिस पर तसवीर खिंची हो। उसी प्रकार (१) चेतन (२) अतर्यामी (३) सूत्रात्मा (४) विराट् चार भेद हैं।

जड़ सृष्टि के सम्बन्ध में विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं : —

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकानीनां चिदाभासस्तथा न हि ॥ ६ ॥

अर्थात् जैसे तसवीर में बने हुये पहाड़ आदि का वस्त्राभास लिखा नहीं जाता उसी प्रकार सृष्टि के स्थित मिट्टी आदि में चेतना नहीं होती।

अब जीवों में जन्म आदि का कारण सुनिये :—

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ।
वदंत्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥ ८ ॥

अर्थात् जैसे तसवीर में दिखलाये हुये नक़ली कपड़े के ऊपर रेखाओं को मूर्ख लोग यही कहते हैं कि यह कपड़े पर रेखायें हैं उसी प्रकार जीव का जन्म मरण भी जीव से सम्बद्ध होना चाहिये। ८।

ऊपर से उद्धारणों से पाठकों को विदित हो गया कि माया क्या वस्त है और किस प्रकार उसके द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है। वस्तुत: यदि कोई मनुष्य बुद्धि को काम में लाकर यह समझने की कोशिश करे कि माया क्या है तो वह सर्वथा विफल होगा। मायावादियों ने माया के जो लक्षण दिये हैं वह सब बेतुके और परस्पर विरुद्ध हैं। जो बात एक स्थान पर कही जाती है वही दूसरे स्थान पर काट दी जाती है। कहीं एक बात कहते हैं कहीं उसके सर्वथा विपरीत कहने लगते हैं। श्रीनिश्चलदास जी के वाक्यों में ही कितना भारी विरोध है? देखिये एक स्थान पर तो कहते हैं कि "अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया, शक्ति, ये नाम एक ही पदार्थ के हैं।" और दूसरे स्थान पर कहते हैं कि "शुद्ध सत्व प्रधान माया है, मलिन सत्व वाली अविद्या है।" अब उनसे पूछिये कि इनमें से कौन सी बात सच है? माया और अविद्या एक ही पदार्थ है या भिन्न भिन्न? यदि भिन्न भिन्न हैं तो "एक" क्यों कहा? और यदि एक हैं तो उनमें "शुद्ध सत्व प्रधान" और "मलिन सत्व प्रधान" का भेद कैसा है। यदि माया और अविद्या एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न नाम हैं तो "ईश्वर की उपाधि माया का सत्व शुद्ध" क्यों और "जीव की उपाधि अविद्या का सत्व मलिन" क्यों? दो पर्य्यायवाची शब्दों के अर्थों में इतना भेद कैसे हो सकता है? "अनल" और "अग्नि" दो एक ही पदार्थ अर्थात आग के नाम हैं। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि "अनल से रोटी पक सकती है" और "अग्नि से केवल भात पक सकता है"। या अनल शुद्ध होती है और अग्नि अशुद्ध। 'माया' और अविद्या का यह भेद श्रीशंकराचार्य्य जी की पुस्तकों से पाया नहीं जाता। वह अविद्या को ही माया कहते हैं परन्तु जब उनके अनुयायियों ने देखा कि केवल माया से काम नहीं चलता तो

माया और अविद्या में भी भेद कर दिया। इस प्रकार पहले ब्रह्म और माया दो हुये। फिर इनमें एक और "पदार्थ" अर्थात् अविद्या का आधिक्य हुआ।

यदि विचार किया जाय तो अविद्या और माया में जो भेद श्री निश्चलदासजी ने बताया है वह भी समझ में नहीं आ सकता। वह कहते हैं :—

(१) शुद्ध सत्व प्रधान माया है।

(२) मलिन सत्व वाली अविद्या है।

(३) रजोगुण, तमोगुण से अभिभूत सत्व कूं मलिन सत्व कहैं हैं।

(४) जासैं रजोगुण तमोगुण अभिभूत होवै ताकूं शुद्ध सत्व कहैं हैं।

तिरस्कृत कूं अभिभूत कहै हैं।

इसका तात्पर्य्य यह है कि जिस "सत्व" को "रजोगुण" "तमोगुण" दबा लें वह मलिन सत्व" है और जो "सत्व" रजोगुण तमोगुण को दबा ले वह शुद्ध सत्व है। प्रथम तो 'सत्व' शब्द के अर्थों पर ही विचार कीजिये। "सत्व" क्या वस्तु है? यदि 'अस्तितत्व' का नाम सत्व है तो माया और अविद्या दोनों की 'सत्ता' माननी पड़ेगी फिर कैसे कह सकोगे कि माया न सत् है न असत्। इससे भिन्न सत्व का अर्थ ही क्या हो सकता है? फिर 'रजोगुण तमोगुण' क्या बला है? यह माया और ब्रह्म से अतिरिक्त कोई वस्तु है या इन्हीं में से कोई एक है? जिस प्रकार सांख्य मत में प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण माने हैं वे तो इन माया-वादियों को किसी प्रकार ग्राह्य हो ही नहीं सकते। यह तो वैशे-षिक के समान द्रव्य और गुण का भेद भी नहीं मानते। फिर

यह "रजोगुण" और "तमोगुण" क्या हैं जो सर्वदा "सत्व" से मल्लयुद्ध करते रहते हैं और कभी सत्व जीत जाता है और कभी हार जाता है? यह रजोगुण और तमोगुण 'माया' के धर्म हैं या ब्रह्म के? यदि माया के हैं तो यह कहना कि यह माया के सत्व को तिरोभूत कर लेते हैं क्या अर्थ रखता है? और यदि ब्रह्म के हैं तो 'माया सत्व' इनका कैसे सामना करता है? माया एक ऐसी पहेली है जिसका बूझना असम्भव है। इसीलिये नैयायिकों को बुरा भला कहने के पश्चात् विद्यारण्य स्वामी को लिखना पड़ा कि

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः॥

(चित्रदीप प्र० श्लो० १३५)

अर्थात् जैसे जल बहता है, आग गर्म होती है और पत्थर कड़ा होता है उसी प्रकार माया का दुर्घटत्व भी सिद्ध है।

इसका तात्पर्य्य यह है कि माया के विषय में किसी को "ननु नच" करना नहीं चाहिये? क्यों पूछते हो कि माया क्या है? कैसी है? कैसे काम करती है? इसको तो आँख कान मूँद कर और बुद्धि को ताक़ में रखकर मान लो। तर्क की गुंजाइश ही नहीं। और यदि कोई तर्क करने का हठ करे तो उससे कह दो कि

आस्तांदुस्तार्किकैः साकं विवादः।

(चित्रदीप प्रकरण श्लो० ५७)

अर्थात कुतर्कियों के साथ विवाद मत करो।

और यदि कोई श्रद्धालु शिष्य कुतर्कियों का अनुकरण करके पूछने लगे कि महाराज!

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम्॥

(चित्रदीप प्र० श्लो० १३४)

अर्थात् माया कूटस्थ को जब जगत् रूप करती है तो वह ब्रह्म फिर कूटस्थ कैसे रह सकता है। तो उससे कह दो कि

दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥

(चित्रदीप प्र० श्लो० १३४)

अर्थात् दुर्घटत्व वाली माया सब कुछ कर सकती है। बर्फ़ को गर्म कर दे और बर्फ़ ठण्डी भी रहे। आग को बिना गर्मी दूर किये ठण्डा भी कर दे। वृत्त को वृत्तत्व खोये **बिना** त्रिकोण बना दे और त्रिकोण का त्रिकोण न जाय परन्तु वह वृत्त हो जाय। सम्भव और असम्भव यह दोनों शब्द ही संसार की भाषाओं में व्यर्थ बन गये। क्या है जो माया नहीं करती। और क्या है, जो माया ने नहीं किया ? यदि समझ में आ जाती तो माया को माया ही क्यों कहते ?

नमः सर्वशक्तिमत्यै मायायै नमो नमः ।

मुसल्मान लोग कहते हैं कि मज़हब में अक़्ल को दख़ल नहीं। ईसाई लोग तो ज्ञान के वृक्ष का फल खाने को ही आदम के स्वर्गविछोह का कारण बताते हैं। परन्तु हमारे मायावादी महाशय भी कुछ कम नहीं हैं। जब यह दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन करने बैठते हैं तो बाल की ख़ाल निकालते है। परन्तु अपने सिद्धान्तों को कभी उस दृष्टि से नहीं देखते। शायद कोई कहने लगें कि विद्यारण्य स्वामी ने स्वयं तर्क की महिमा वर्णन की है जैसे पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण के ५६ वें श्लोक में वह लिखते हैं :—

विना क्षोदक्षमं मानंतैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुति युक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नु दुःशकम् ॥

अर्थात नैय्यायिक लोग व्यर्थ कल्पना किया करते हैं। परंत

वेदान्ती लोग श्रुति, युक्ति और अनुभूति तीनों को साथ लेकर चलते हैं। परन्तु यह सब कहना मात्र है। जो लोग मायावाद या अद्वैतवाद को नहीं मानते वह भी वेदों के इतने ही श्रद्धालु हैं जितने शंकर स्वामी या विद्यारण्य स्वामी। वस्तुत: मायावाद की तो वेदों में झलक तक नहीं है। रही अनुभूति। इसका कहां तक प्रमाण किया जाय? माया की अनुभूति या अपने में ब्रह्मत्व की अनुभूति तो किसी मायावादी को नहीं होती और न हो सकती है। हां कभी कभी जिस प्रकार रस्सी में सांप का भ्रम हो जाता है या सीप में चांदी का, उसी प्रकार लोगों को मिथ्या सिद्धान्त सुनते सुनते अपने में ब्रह्मत्व का तथा संसार की सार युक्त वस्तुओं में माया का भ्रम हो जाता है, इस भ्रम का नाम अनुभूति रख लिया है। अन्यथा जिसको यह अनुभव हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ उसका व्यवहार भी उसी प्रकार का होने लगेगा। ऐसा हम मायावादियों के धुरन्धर से धुरन्धर पथदर्शक में भी नहीं पाते। मायावादियों की युक्ति का यह हाल है कि एक माया के चमत्कार से ही सब प्रश्नों का उत्तर देना चाहते हैं। इनकी माया न केवल अनिर्वचनीय ही है किन्तु अज्ञेय और अतर्क्य भी है। और जब इन पर कोई विशेष आक्षेप किया जाय तो झट से कह देते हैं कि यह श्रुति में लिखा है। जब श्रुति के अर्थों में भिन्न २ मतों में भेद है तो अपने अपने अर्थ की पुष्टि में भी तो युक्तियाँ देनी चाहिये। परन्तु शङ्कर स्वामी तक ने भी यह नहीं किया। हम नीचे कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) वेदान्त २।१।१४ का भाष्य करते हुये प्रश्न उठाया गया कि

मृदादिदृष्टान्त प्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते।

अर्थात् मिट्टी आदि के दृष्टान्त से तो ब्रह्म का परिणामी होना सिद्ध होता है।

इस पर शंकर स्वामी उत्तर देते हैं:—

नेत्युच्यते; 'स वा एव महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४ । ४ २५)...... इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रिया प्रतिषेध श्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् ।

अर्थात् "यह बात ठीक नहीं। क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म को अजर, अमर, अमृत, अभय आदि नामों से पुकारा गया है। जब श्रुति में लिखा है कि ब्रह्म में विकार नहीं होता तो ब्रह्म का अपरिणामी होना सिद्ध है। एक ही ब्रह्म में परिणामी और अपरिणामी दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते।"

।यदि श्री शंकराचार्य्य जी की युक्ति पर भली भांति विचार किया जाय तो यह युक्ति नहीं किन्तु भूल भुलइयाँ ही सिद्ध होती है। आक्षेप यह कि जब छान्दोग्य में ब्रह्म को मिट्टी से उपमा दी गई तो ब्रह्म उसी प्रकार परिणामी हो गया जैसे मिट्टी। अर्थात् जैसे मिट्टी से घड़ा बनने में मिट्टी में विकार हो जाता है उसी प्रकार यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण माना जाय तो ब्रह्म में भी विकार मानना पड़ेगा। इसका उत्तर तो शंकर स्वामी ने कुछ नहीं दिया केवल एक और श्रुति का उदाहरण दे दिया कि इसमें ब्रह्म को आप अपरिणामी माना गया है। यह कोई समाधान है? यदि एक श्रुति से परिणामी और दूसरी से अपरिणामी सिद्ध होता है और श्रीशंकर का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म अपरिणामी है तो शंकरस्वामी का कर्त्तव्य था कि जिस श्रुति से ब्रह्म का परिणाम सिद्ध होता है उसकी कोई

ऐसी व्याख्या करते जिससे परिणाम का अर्थ न निकल सकता परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। केवल यह कह कर टाल दिया कि दो परस्पर विरुद्ध बातें नहीं मानी जा सकतीं इसलिये ब्रह्म **अपरिणामी** है। इस प्रकार विपक्षी भी कह सकता है कि दो परस्पर विरुद्ध बातें नहीं मानी जा सकतीं इसलिये ब्रह्म **परिणामी** है। जब तक श्रुतियों के परस्पर विरुद्ध मालूम होने वाले वचनों की संगति न मिलाई जाय उस समय तक दोनों पक्षों को अपने अपने मत के मानने का अधिकार है। यही नहीं किन्तु एक तीसरा पक्ष और भी है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि दोनों श्रुतियां एक दूसरे से विरुद्ध होने के कारण दोनों एक दूसरे को काट देती हैं अतः उनका प्रमाण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ब्रह्म को उपादान कारण मानने में यह सब दोष हैं जिनका निराकरण कहीं नहीं किया गया।

(२) एक और स्थल लीजिये—सूत्र २। १। २६ का भाष्य करते हुये प्रश्न उठाया गया कि यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण मानो तो दो दोष आयेंगे। अर्थात् या तो "कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति; निरवयवत्वात्।" अर्थात् ब्रह्म को निरवयव कहा है। उसमें कोई अवयव नहीं हैं। अतः समस्त ब्रह्म का परिणाम मानना पड़ेगा। दूसरा आक्षेप है "अजत्वादिशब्दकोपश्च"। अर्थात् यदि समस्त ब्रह्म का परिणाम मानो तो उस श्रुति का खण्डन होगा जिसमें ब्रह्म को अजन्मा बताया गया है। यह ऐसा युक्ति युक्त आक्षेप है कि इसका उत्तर हो ही नहीं सकता।

अब देखिये शङ्कर स्वामी इसका क्या उत्तर देते हैं:—

न खल्वस्मत् पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति

"हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है"।

"कुतः" क्यों ?

"श्रुते" :—क्योंकि श्रुति में लिखा हुआ है।

"यथैव हि ब्रह्मणे जगदुपत्तिः श्रूयते, एवं विकार व्यतिरेकणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते"

(वे० शा० भा० २। १। २०)

जैसे ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति वेद में लिखी है वैसे ही ब्रह्म का अविकारी होना भी लिखा है।

यह भी उसी प्रकार का उत्तर है जैसे ऊपर कहा गया। यह तो बताया ही नहीं गया कि अपरिणामी ब्रह्म उपादान हो ही कैसे सकता है ? जो आक्षेप था वह ज्यों का त्यों रहा। या तो कहो कि श्रुतियों में इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध और असम्भव प्रलाप है या उनकी संगति मिलाओ। दोनों बातें कैसे मानी जा सकती हैं ? बात यह है कि श्रुति में जगत् की ब्रह्म से उत्पत्ति तो अवश्य मानी है परन्तु ब्रह्म को उपादान न मानकर निमित्त कारण माना है। ऐसा मानने से न तो किसी श्रुति का खण्डन होता है न ब्रह्म परिणाम ही सिद्ध होता है। परन्तु शङ्कर स्वामी यदि ब्रह्म को निमित्त कारण मान लेते तो उनको उपादान कारण ढूंढ़ने के लिये प्रकृति के मानने की भी आवश्यकता पड़ती और अद्वैतवाद कट जाता। अतः जब विपक्षियों के आक्षेप का खण्डन न कर सके तो श्रुति का आश्रय लिया। ऐसा करने से श्रुति पर कलंक तो लगता है परन्तु उनकी पुष्टि नहीं होती। बहुत से वेदों के अन्धविश्वासी पुरुष ऊटपटाँग बातों को वेदों के गले मँढ़ देते हैं और यदि उनसे कहा जाता है कि इनके लिये क्या प्रमाण ? तो कानों पर हाथ धर कर कहते हैं :—"शान्तं पापम्" ऐसा मत कहो। वेद में लिखा है अतः चाहे कितनी ही ऊटपटांग बात

क्यों न हो। हमको माननीय है। प्राचीन ऋषियों की यह धारणा न थी। यास्क मुनि ने निरुक्त में तर्क को ऋषि माना है। अर्थात् यदि वेद में कोई बात परस्पर विरुद्ध मालूम हो तो उसे आँख मूंद कर मान मत लो किन्तु उसकी संगति मिलाने का यत्न करो। यह बात खटकी तो शंकर स्वामी को भी थी क्योंकि उन्होंने कहा है "ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणामते न च कृत्स्नमिति"। अर्थात् वेद में दो परस्पर विरुद्ध अर्थ तो हो ही नहीं सकते। यह कैसे माना जा सकता है कि ब्रह्म में अवयव भी नहीं और उस संपूर्ण ब्रह्म का परिणाम भी नहीं होता ? परन्तु इसका जो समाधान किया है वह बड़ा विचित्र है वह लिखते हैं :—

नैष दोषः; अविद्या कल्पिरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्या कल्पितेन च नामरूप लक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्यकृतात्मकेन तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्मपरिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्व प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते।... न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था; तत् प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। सर्व व्यवहारहीन ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा; तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्।" (२।१।२७)

"यह दोष नहीं। क्योंकि हमारा सिद्धान्त है कि यह रूप भेद अविद्या द्वारा कल्पित है। यदि अविद्यावश कोई किसी चीज़ में रूप भेद कल्पित करले तो उससे वह चीज़ सावयव नहीं सिद्ध हो सकती। यदि अंधेरे के कारण कोई एक चाँद को कई चाँद देखने लगे तो क्या चांद कई हो जावेंगे ? इसी प्रकार जगत् में जो नाम रूप आदि का भेद है वही अविद्या के द्वारा है। इससे व्यवहार में तो ब्रह्म का परिणामी होना प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है जो परिणाम वाली श्रुति है (अर्थात् जिस श्रुति में ब्रह्म की मिट्टी से उपमा दी गई है) वह परिणाम दिखाने के लिये नहीं है किन्तु ब्रह्म में व्यवहारहीनता दिखाने के लिये है"।

यह है शङ्कर स्वामी का उत्तर। और इसी उत्तर पर अद्वैतवाद का सिद्धांत आश्रित है। अर्थात् यह संसार का प्रपंच अविद्या

❀ श्री साधु निश्चलदास जी ने वृत्तिप्रभाकर में सत्ख्यातिवाद के खण्डन रूप से जो भ्रम को सिद्ध करने के लिये युक्तियां दीं हैं वह ठीक नहीं हैं, हम यहां उनके प्रश्नोत्तरों को देखकर उसकी समीक्षा करते हैं:—

सत्ख्यातिवाद—"शुक्ति में रजत् सत्य है, तिसकूं दृष्टान्त करि कै प्रपंच मैं मिथ्यात्वसिद्धि होवै नहीं।"

निश्चलदास—'कालत्रयेपि शुक्तौ रजतं नास्ति।'

समीक्षा—हम कब कहते हैं कि सीपी में चांदी किसी काल में है ? हमारा तो कहना है कि सीपी और चाँदी में कुछ धर्म समान हैं। जिनके कारण सीपी में चाँदी का भ्रम होता है। यह धर्म तीनों काल में ही रहते हैं। अर्थात् जहाँ जहाँ सीपी होगी वहाँ वहाँ वह समान धर्म भी होंगे। जिस समय हम यह कहते हैं कि "यह सीपी है, चांदी नहीं। हमको धोखा हुआ था" उस समय भी हम उन समान धर्मों को सीपी में देख रहे हैं। केवल कुछ मुख्य असमान धर्मों के न दीख पड़ने के कारण हमने निश्चय किया कि "यह सीपी है चाँदी नहीं" "कुछ थोड़े से समान

कल्पित है। परन्तु अविद्या क्या वस्तु है? निश्चलदास तथा विद्यारण्य दो धुरन्धुर अद्वैतवादियों ने जो कुछ माया और अविद्या के विषय में लिखा है उसकी हम पीछे से मीमांसा करेंगे। पहले शंकर स्वामी से तो पूछ लें। अच्छा, देखिये, यहाँ शंकरस्वामी ने चांद के एक होने और अनेक प्रतीत होने का

धर्म" के बजाय समस्त सीपी में समस्त चांदी समझ लेना सर्वथा अन्याय है। यदि देवदत्त के सिर का कालापन यज्ञदत्त के सिर के कालेपन से मिलता है। तो इसका यह अर्थ नहीं कि यज्ञदत्त के सिर में देवदत्त का सिर घुसा हुआ है।

सत्ख्यातिवाद—"शुक्ति देश में रजत के अवयव हैं।"

निश्चलदास—"रजतवयावनका उद्भूत रूप है अथवा अनुद्भूत रूप है? उद्भूत रूप कहैं तौ रजतावयवन का भी रजत की उत्पत्ति में प्रथम प्रत्यक्ष हुआ चाहिये; जो अनुद्भूत रूप कहे तौ अनुद्भूत रूप वाले अवयवन मैं रजत भी अनुदभूत रूप वाला होवेगा, यातैं रजत का प्रत्यक्ष नहीं होवैगा"।

समीक्षा—यहां अवयव अवयवी का झमेला व्यर्थ है। केवल कुछ समान धर्मों की विद्यमानता है। अवयवों की नहीं।

निश्चिलदास—औ जहां एक रज्जु मैं दश पुरुषन कूं भिन्न भिन्न पदार्थन का भ्रम होवे, किसी कूं दण्ड का, किसी कूं माला का, किसी कूं सर्प का तथा किसी कूं जल धारा का इत्यादिक पदार्थन के अवयव स्वल्प रज्जुदेश मैं संभवे नहीं? मूर्तद्रव्य स्थान का निरोध करैं हैं; यातैं स्वल्प देश मैं इतने पदार्थन के अवयव संभवै नहीं।"

समीक्षा—निश्चलदास जी का यह कथन भी भ्रम के वास्तविक कारण को न समझने के कारण है। कौन कहता है कि रस्सी में दण्ड, माला, साँप और जलधारा सभी विद्यमान हैं? हम ऊपर दिखा चुके हैं कि रस्सी में तो केवल रस्सी के ही अनेक धर्म हैं अन्य किसी के नहीं।

दृष्टान्त देकर हमारी कठिनाई को सुगम कर दिया है। पाठकगण इस दृष्टान्त पर पूर्ण रीति से विचार करें। शंकर स्वामी का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चांद एक है परन्तु कभी कभी अविद्या के कारण दो चाँद मालूम होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म एक है परन्तु अविद्या के कारण नाम रूप का भेद करके संसार में अनेक वस्तुयें प्रतीत होती हैं।

परन्तु उन्हीं अनेक धर्मों में से कुछ की समानता तो दण्ड के कुछ धर्मों से है, कुछ की माला के धर्मों से, कुछ की सांप के धर्मों से और कुछ की जलधारा के धर्मों से। इसमें कोई आपत्ति नहीं।

निश्चल दास—औ भ्रमस्थल मैं सत् पदार्थ की उत्पत्ति मानें हैं। अंगार सहित ऊसर भूमि मे जल भ्रम होवै तहां जल सैं अंगार शांत हुये चाहिये। औ तूल के उपरि धरे गुंजा पुंज मैं अग्नि भ्रम होवे तहां तूल का दाह हुआ चाहिये।

समीक्षा—निश्चलदास जी का तात्पर्य यह है कि मृग तृष्णिका के गर्म रेत में जल की उत्पत्ति होने से गर्म रेत की गर्मी शाँति होनी चाहिये और रुई के ढेर के ऊपर गुंजा रक्खे हुये कभी कभी आग के समान दीखते हैं। यदि आग की उत्पत्ति होती तो रुई जल जाती। इससे निश्चलदास ज सिद्ध करते हैं कि जो कुछ दीखता है वह असली नहीं किन्तु भ्रम मात्री है। परन्तु इस खंडन से भी निश्चलदास जी के मत का पोषण नहीं होता। गुंजों में आग के अवयव होना और बात है और गुंजों की ललामी का आग की लालामी के समान होना और बात। इसी प्रकार रेत में जल के अवयव होना और बात है और रेत के रूप तथा जल के रूप में कुछ सादृश्य होना और बात। इन दोनों को गड़बड़ करने से कोई लाभ नहीं। खेद है कि भ्रमवाद के पोषक इस प्रकार "कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा' मिला देते हैं। और वास्तविक घटनाओं के विश्लेषण का यत्न नहीं करते।

अब एक बार समास रूप से शंकरस्वामी के सिद्धान्त का वर्णन कर दें :—

(१) जगत् का कारण ब्रह्म है (**देखो जन्माद्यस्य यतः** २ । १ । २)

(२) जगत् का अर्थ है नाम रूप युक्त प्रपंच।

(३) यह नामरूप भेद वास्तविक नहीं किन्तु अविद्या कल्पित है।

इसमें उदाहरण दिया है चाँद का। चाँद एक है, परन्तु कभी कभी भ्रम होने से मुझे कई चांद प्रतीत होते हैं। चाँद का अनेकत्व जगत् के नामरूप भेद के समान मिथ्या है। अब प्रश्न यह है कि चांद के अनेकत्व का कारण क्या है ? चांद या मैं ? यदि किसी को ठूंठ का मनुष्य प्रतीत होने लगे तो मनुष्य-प्रतीति का कारण ठूंठ होगा या वह पुरुष जिसे भ्रम हुआ है ? कौन ऐसा होगा जो ठूंठ को मनुष्य-प्रतीति का कारण समझे ? और कौन ऐसा है जो इस प्रकार भ्रमपूर्वक प्रतीति को उत्पत्ति नाम से पुकारे ?

जन्माद्यस्य यतः । (१ । १ । २)

सूत्र में ब्रह्म को जगत् के जन्म, स्थिति तथा प्रलय का कारण बताया है। यदि जगत् उसी प्रकार भ्रम है जैसे एक चाँद के अनेक चांद दीखें तो चांद के अनेक होने की प्रतीति का आरम्भ जन्म समझिये और इस प्रतीति का लगातार जारी रहना स्थिति और प्रतीति का न रहना प्रलय हुआ। यह तीनों काम चांद की अपेक्षा से नहीं किन्तु उस पुरुष की अपेक्षा से हैं जो भ्रम के कारण ऐसा समझता है। इसलिये यदि इसी उपमा पर विचार किया जाय तो जन्म, स्थिति, और प्रलय तीनों का कारण वह जीव होंगे जिनको भ्रम हुआ है। ब्रह्म की

इसमें कोई अपेक्षा नहीं। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म के अजर, अमर, अमृत, प्राण, आदि जितने गुण बताये गये हैं उन सब पर पानी फिर जायगा क्योंकि यदि भ्रम के कारण चांद किसी को अनेक, किसी को पीला, किसी को काला और किसी को लाल दीखने लगे तो यह चाँद के गुण कदापि न होंगे। यदि व्यास मुनि भी शंकर स्वामी की भांति जगत् को अविद्या-कल्पित मानते तो वह कभी ब्रह्म को आरम्भ में ही जगत् के जन्म, स्थिति तथा प्रलय का कारण न कहते। और

शास्त्रयोनित्वात्। १। १। ३

सूत्र में ब्रह्म को शास्त्र की योनि अर्थात् कारण न बताते। क्योंकि यदि जगत् भ्रम या अविद्या-कल्पित है तो शास्त्र इस भ्रम का ही तो विवरण मात्र है। ऐसे शास्त्र की योनि होने से ब्रह्म का क्या गौरव बढ़ेगा? इससे तो ब्रह्म को शास्त्र की योनि न बताया जाता तो ही अच्छा था। वेद में लिखा है।

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।

अर्थात् धाता या ब्रह्म ने सूर्य्य और चन्द्र को पहले के समान ही बनाया। अब यदि सूर्य्य चन्द्र आदि संसार के प्रपंच उसी प्रकार भ्रम हैं जैसे एक चांद के कई चांद दीखें तो इस मंत्र का क्या अर्थ होगा? यही न कि जैसे पहले ब्रह्म ने स्वयं अपने को भ्रम के कारण सूर्य्य और चन्द्र समझ लिया उसी प्रकार अब भी समझने लगा। जैसे मैं कहूँ कि पहले भी मैंने भूल से एक चांद के कई समझे और आज भी मैंने वही ग़लती फिर की। इसी प्रकार पहले भी ब्रह्म ने सूर्य्य चन्द्र आदि की अविद्या के कारण कल्पना की और इस समय भी उससे फिर वही भूल हो गई।

इतना ही नहीं। यदि कहो कि जन्म, स्थिति और प्रलय वाले

सूत्र में ब्रह्म को उपादान माना है। यदि चाँद न होता तो एक चांद के कई चाँद कोई न समझता। इसी प्रकार ब्रह्म यदि न होता तो इस ब्रह्म को कौन नामरूपात्मक सृष्टि समझता तो यह भी आवश्यक नहीं है। भ्रम के लिये भ्रम का आधार अवश्य हो ऐसा नियम नहीं है। कभी कभी शून्य को भी लोग कुछ समझ बैठते हैं। जिस प्रकार रेत को जल, सीप को चाँदी, रस्सी को साँप और एक चाँद को अनेक चाँद समझा जाता है उसी प्रकार बहुधा भ्रम के कारण लोग शून्य- अन्धकार में भ्रम के कारण भूत आदि की प्रतीत करके डर जाते हैं। इसकी पुष्टि में हम शङ्कर स्वामी के ही वचनों को उद्धृत करते हैं। वह लिखते हैं:—

अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्य-ध्यास्यन्ति।

(शारीरिक भाष्य सूत्र १। १। १)

अर्थात् अप्रत्यक्ष आकाश को मूर्ख लोग मलीन आदि समझ बैठते हैं। यद्यपि इस उदाहरण में उन्होंने शब्द-छल से काम लिया है और यदि वे जाने ऐसा किया है तो बड़ी भारी भूल की है क्योंकि "आकाश" शब्द के दो अर्थ हैं। एक वह जो पाँच तत्वों में से एक है और सर्व व्यापक है दूसरा वह जो नीला नीला चमकता है। जिस आकाश को लोग नीला नीला समझते हैं वह वही आकाश नहीं है जो सर्वव्यापक तत्त्व और जो सर्वव्यापक तत्त्व है उसे कोई नीला नीला नहीं समझता। तथापि उनके इस उदाहरण से हमारी इस बात की अवश्य पुष्टि होती है कि जिस प्रकार कोई रङ्ग न होने पर भी लोग नीला रंग समझ लेते हैं उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि भ्रम का आधार अवश्य हो। यदि ऐसा है तो ब्रह्म को

ऐसे जगत् का उपादान मानने की क्या आवश्यकता जो केवल अविद्या-कल्पित है ? जगत् का अविद्या-कल्पित बता कर शंकर स्वामी ने ब्रह्म को गौरवान्वित पद से नीचे गिरा दिया, और वेदों के सहस्रों मंत्रों को अर्थशून्य कर दिया। वेद में एक मन्त्र है:—

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

विष्णु के कर्मों को देखो जिससे व्रत ग्रहण किये जाते हैं। अब यदि जगत् अविद्या-कल्पित है तो विष्णु के क्या कर्म होंगे। यही न कि इसने भूल से किसी को कुछ समझ लिया। और इससे क्या व्रत ग्रहण किये जा सकते हैं ? यही न कि हम भी उसके समान किसी को कुछ समझ लें ? क्या यह तत्त्वज्ञान का उपदेश है ? यदि शंकर स्वामी का सिद्धान्त ठीक होता तो वेदों में ऐसे मन्त्र होने चाहियें थे कि देखो कभी ब्रह्म की सी भूल मत करना। जैसे ब्रह्म ने अविद्या वश संसार को नामरूप आदि भेदों वाला समझ लिया और सूर्य्य चांद आदि की कल्पना कर ली ऐसा तुम कदापि न करो।।

अब आइये श्री निश्चलदास जो तथा विद्यारण्य स्वामी की उपमाओं की भी परीक्षा करें। हम ऊपर कह चुके हैं कि यदि मैं एक चाँद के अनेक चाँद देखूँ तो भी मेरी भूल है। और यदि अपने को वह समझूं जो मैं नहीं हूँ तो भी मेरी भूल है। इसी भूल को चाहे भ्रम कहिये चाहे अविद्या। शङ्कर स्वामी ने इसको **अविद्या** कहा है। और कहीं कहीं इसी का नाम **'माया'** बताया है। निश्चलदास जी ने भी आरम्भ में अविद्या, अज्ञान तथा माया का पर्य्याय लिखा है। यह और बात है कि शक्ति, तथा प्रकृति को भी अज्ञान का पर्य्याय बता दिया। परन्तु निश्चलदास जी ने एक बात विचित्र कह डाली। वह कि "आवरण विशेष

शक्तिवाला **अनादि भावरूप** अज्ञान पदार्थ है।" अर्थात् केवल ज्ञान के अभाव का नाम या विपरीति ज्ञान का नाम अज्ञान नहीं है। किन्तु 'अज्ञान' कोई पदार्थ है जिसमें 'आवरण' अर्थात् ढक लेने की या 'विक्षेप' अर्थात् हिलाने की शक्ति हो। इसका उदाहरण देते हुये कहा है "कि शशशृंग" के समान अभाव का नाम अज्ञान नहीं है किन्तु "प्रकाश विरोधी अंधकारकूं भावरूपता प्रतिपादन करके ज्ञान विरोधी अज्ञान कूं भावरूपता ही प्रतिपादन करी है"। परन्तु निश्चलदास जी का यह उदाहरण सर्वथा अशुद्ध है। अंधकार और प्रकाश दोनों एक दूसरे के भावरूप शत्रु नहीं हैं। परन्तु अंधकार कभी भावरूप नहीं हो सकया। दीपक के आने पर अन्धकार किसी दूसरी जगह नहीं चला जाता, किन्तु अधकार नाम ही प्रकाश के अभाव का था। इसलिये जब प्रकाश आ गया तो अंधकार न रहा। जैसे धन के आने पर निर्धनता चली जाती है। निर्धनता के चले जाने से यह तात्पर्य नहीं कि निर्धनता भी कोई वस्तु है जो धन के दर्शन से भयभीत होकर किसी दूसरे स्थान को भाग जाती हो। इसी प्रकार यदि जिस कमरे में मै लिख रहा हूँ उसमें से प्रकाश हटा दिया जाय तो क्या अन्धकार किसी अन्य स्थान से यहां आ जायगा ? कदापि नहीं ! शायद निश्चलदास जी यह समझते हैं कि अन्धकार द्वार पर खड़ा देखता रहता है कि ज्यों ही प्रकाश जाय मैं घुस आऊं। शंकर स्वामी ने भी शारीरिक भाष्य के आरम्भ में प्रकाश और अन्धकार को एक दूसरे का विरोधी बता कर कुछ ऐसा ही माना है। परन्तु वहां यह स्पष्ट नहीं है। जब अन्धकार भावरूप पदार्थ नहीं तो अज्ञान को भी भावरूप बताना उचित नहीं हैं। अज्ञान कोई परदा नहीं है जो ज्ञान को ढक लेता हो। हां कभी कभी परदा भी अज्ञान अर्थात् ज्ञानभाव का कारण हो सकता है। परन्तु इससे क्या ? परदा

और चीज़ है और ज्ञान का न होना और चीज़। यदि मैंने एक चाँद के दो या तीन चांद देखे तो इसका यह अर्थ नहीं कि दो चांद की प्रतीति ने एक चांद की प्रतीति को ढक लिया। इसलिये अज्ञान या अविद्या (जिसको मायावादी माया भी कहते हैं) केवल ज्ञान के अभाव का नाम हैं।

निश्चलदास का यह भी कहना है कि अविद्या खरगोश के सींग के समान असत नहीं है। और ब्रह्म के समान सत् नहीं है। इसलिये न सत् और असत् होने से अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय वह वस्तु है जिसका निर्वचन न हो सका। किसी वस्तु की केवल सत्तामात्र बता देना निर्वचन नहीं है। यदि कहा जाय कि "कुर्सी क्या है ?" और उत्तर मिले कि "कुर्सी है" तो यह कुर्सी का निर्वचन नहीं हुआ। इसी प्रकार यदि पूछा जाय कि "ब्रह्म क्या है" ? और उसका उत्तर दिया जाय कि ब्रह्म है" तो ब्रह्म का निर्वचन नहीं हुआ। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से शंकर स्वामी या निश्चलदास जी आदि के मत में ब्रह्म के विषय में 'सत्ता' से अधिक बात नहीं कही जा सकती। और जो कुछ गुण इतस्ततः ब्रह्म के बताये भी गये वह व्यावहारिक और इसलिये अविद्या कल्पित हैं। इसलिये ब्रह्म भी अनिर्वचनीय ही ठहरता है। इस प्रकार जैसे ब्रह्म अनिर्वचनीय उसी प्रकार माया भी अनिर्वचनीय। माया और ब्रह्म में भेद ही क्या रहा ? यदि कहो कि ब्रह्म तो सत है" परन्तु 'माया सत् नहीं' तो इसका केवल इतना ही तो अर्थ हो सकेगा कि "ब्रह्म है"। और "माया नहीं है।" "ब्रह्म सत् है" इसका इतना ही तो अर्थ है कि ब्रह्म है।" और 'माया सत नहीं' इसका यही अर्थ होगा कि "माया नहीं है।" यदि 'माया नहीं' तो मायावाद कैसा ? और माया द्वारा कल्पित सृष्टि कैसी ?

परन्तु मायावादी कहता है कि "यदि ब्रह्म के समान माया

सत् नहीं खरगोश के सींग के समान असत् भी नहीं। इस लिये यह कहना कि माया है नहीं, ठीक नहीं।" परन्तु यदि विचार किया जाय तो यह सब पहेली बूझने के समान है। या तो कोई वस्तु होगी या न होगी। यह कैसे हो सकता है कि हो भी और हो भी न ? जब तुम कहते हो कि 'माया न सत् है और न असत् है तो इसका यही अर्थ है कि "माया है भी नहीं और नहीं भी नहीं"। इसको अनर्गल आलाप तो कहा जा सकता है परन्तु इससे अधिक नहीं। खेद और दुर्भाग्य का स्थान है कि शङ्कर स्वामी जैसा धुरन्धर विद्वान् जिस नियम को दूसरों के सिद्धान्त के खण्डन करने में लगता है उसी नियम को अपने सिद्धान्त पर लागू नहीं करता। अपनी 'माया' को तो सत् और असत् दोनों से विलक्षण बताया परन्तु जब

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ २ । २ । ३३ ।

सूत्र का भाष्य करते हुये जैनियों के मत का खण्डन किया तो लिखना पड़ा कि

न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्ध धर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत् ।

अर्थात् एक ही वस्तु में सत् और असत् दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते जैसे ठण्डक और गर्मी।

शायद आप कहें कि "शङ्कर स्वामी ने परस्पर विरुद्ध धर्मों के एक साथ समावेश होने का निषेध किया है। परन्तु यह नहीं कहा कि परस्पर विरुद्ध धर्म किसी वस्तु से एक ही साथ पृथक नहीं हो सकते। शङ्कर स्वामी यह नहीं कहते कि 'माया सत् और असत् दोनों हैं"। वह तो यह कहते हैं कि माया सत और असत् दोनों नहीं"। परन्तु याद रहे कि परस्पर विरुद्ध धर्म कहते ही

उनको हैं जो दोनों न तो एक ही समय में एक वस्तु में रहें और न एक साथ ही उससे पृथक् भी रहें। यदि कोई वस्तु एक ही समय में उष्ण है तो अनुष्ण नहीं और अनुष्ण है तो उष्ण नहीं। इसी प्रकार यदि उष्ण नहीं है तो अनुष्ण होगी और अनुष्ण नहीं है तो उष्ण होगी। यह कैसे हो सकता है कि न उष्ण हो और न अनुष्ण ? इसी प्रकार यह कैसे हो सकता है कि माया न सत् हो और न असत् ? यदि कहो कि यही तो माया की अनिर्वचनीयता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इसी सूत्र के भाष्य में जैनियों के स्याद्वाद की हंसी उड़ाते हुये वह लिखते हैं :—

अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्।

कि यदि कोई पदार्थ अवक्तव्य (न कहे जाने के योग्य) है तो कहा कैसे जाता है ? कहा भी जाय और अवक्तव्य भी हो यह परस्पर विरुद्ध बातें कैसे हो सकती हैं ?

हम भी श्री स्वामी शंकराचार्य्य जी के ही इस वचन को माया पर घटा सकते हैं। क्योंकि यदि माया अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है तो इतने मायावादी इसका वर्णन ही क्यों करते हैं? यदि वर्णन करते हैं तो यह अनिर्वचनीय कैसे रही ? यदि कहो कि 'अनिर्वचनीय' शब्द का केवल इतना अर्थ है कि हम उसका पूरा पूरा निर्वचन नहीं सकते तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य का ज्ञान इतना अल्प है कि वह ब्रह्म और माया तो क्या संसार की छोटी से छोटी चीज अर्थात् चीटीं को भी पूरा निर्वचन नहीं कर सकता। इसलिये संसार के सभी पदार्थ अनिर्वचनीय सिद्ध होंगे।

श्री निश्चलदास जी आदि का कहना है कि माया शशशृङ्ग

(ख़रगोश के सींगों के समान) असत् नहीं है। मैं पूछता हूँ कि यदि यह ख़रगोश के सींगों के समान असत् नहीं तो क्या बैल के सींगों के समान सत् है ? अथवा कोई ऐसा भी पदार्थ है जो ख़रगोश के सींगों के समान असत् भी न हो और बैल के सींगों के समान सत् भी न हो। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि मायावादी माया को 'अविद्या' अर्थ में लेते हैं जैसे एक चांद के दो चांद दीखना, या रस्सी का साँप प्रतीत होना इत्यादि। फिर न जाने ये क्यों कहते हैं कि यह ख़रगोश के सींगों के समान असत् नहीं। क्योंकि ख़रगोश के सींग और रस्सी के सांप में कोई भेद नहीं। जिस प्रकार ख़रगोश के सींग नहीं होते और कल्पना करने वाला उनकी कल्पना कर लेता है उसी प्रकार रस्सी में सांप तो नहीं परन्तु भ्रम के कारण कल्पना करने वाले ने उसकी कल्पना कर ली। ख़रगोश भी एक पदार्थ है और सींग भी एक पदार्थ। केवल भेद यही है कि सींग ख़रगोश के सिर पर नहीं होते। इसी प्रकार रस्सी भी पदार्थ है और साँप भी। जिस कार शृङ्गत्व और शश (ख़रगोश) का सम्बन्ध कल्पित है वास्तविक नहीं। उसी प्रकार रज्जु और सर्पत्व का सम्बन्ध भी कल्पित है वास्तविक नहीं। जिस प्रकार शशशृङ्ग कोई पदार्थ नहीं किन्तु कल्पना करने वाले के मस्तिष्क की उपज है इसी प्रकार जिस पदार्थ को रस्सी कहते हैं उसमें सर्प का धर्म नहीं किन्तु यह देखने वाले के मस्तिष्क की उपज है। भेद केवल इतना है कि पहली कल्पना में कल्पना होने का ज्ञान है दूसरी में नहीं। परन्तु इस भेद से सत्त्व या असत्त्व में कुछ भेद नहीं आता।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होता है कि ख़रगोश के सींग की प्रतीति और रस्सी में साँप की प्रतीति दोनों एक प्रकार से होती है। सींग बैल और भैंसे के सिर पर तो देखे जाते हैं परन्तु मनुष्य या ख़रगोश के सिर पर नहीं। कल्पना करने

वाला मनुष्य और ख़रगोश दोनों के सिर पर सींगों की कल्पना कर बैठता है, इसी प्रकार रस्सी में साँप का कोई धर्म नहीं, न तो यह काट सकती है न इसमें विष ही है। परन्तु मनुष्य कल्पना कर बैठता है कि इसमें सांप के धर्म हैं अर्थात् यह सांप है। इस प्रकार

अतस्मिंस्तद् बुद्धिः।

अर्थात् अन्य में अन्य की भावना दोनों दशाओं में एक सी है। इसलिये यह कहना कि रस्सी में सांप की प्रतीत तो माया या अविद्या है परन्तु ख़रगोश में सींगों की प्रतीति ऐसी नहीं है बड़ी भारी भूल है।

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिये, वह बड़ी भारी बात है और उसके ऊपर ही मायावाद का आश्रय है। रस्सी में सांप की प्रतीति अविद्या है या अविद्या जन्य है। अर्थात् रस्सी में सांप की प्रतीति का कारण अविद्या है या रस्सी में सांप की प्रतीति को ही अविद्या कहते हैं? प्रश्न को अधिक स्पष्ट तथा सुगम बनाने के लिये यों कहा जा सकता है कि क्या 'अविद्या' और 'रस्सी में साँप की प्रतीति' में कारण और कार्य्य का सम्बन्ध है अथवा रस्सी में साँप की प्रतीत ही अविद्या का एक रूप है? यदि अविद्या को इस प्रतीति का कारण माना जाय तो अवश्य अविद्या एक पदार्थ है जो उसी प्रकार ऐसी प्रतीतियाँ उत्पन्न किया करती है जैसे मकड़ी जाला। परन्तु यह बात सर्वथा मिथ्या है। अविद्या कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञाता को यथार्थ ज्ञान का न होना ही अविद्या कहलाती है। इसलिये माया या अविद्या को ही समस्त प्रपंच का कारण बताने का यह अर्थ है कि ज्ञाता को यथार्थ ज्ञान के अभाव की दशा में अयथार्थ प्रतीति होना ही अविद्या है। अब प्रश्न यह है कि यह ज्ञाता कौन है? अब मैंने

रस्सी का साँप समझा तो साँप न था। मुझ में ज्ञान का अभाव था। अतः मुझे अन्यथा प्रतीति होने लगी। यदि मुझे ज्ञान होता तो मैं सांप का कभी ध्यान न करता। इसी प्रकार यदि अद्वैतवाद में केवल एक ब्रह्म ही सत्य है तो ब्रह्म ही को यह प्रतीति हुई होगी। और इसलिये ब्रह्म में ज्ञान का अभाव ठहरेगा। जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने की दशा में मुझे अध्यास या अन्यथा-प्रतीति नहीं हो सकती थी उसी प्रकार ब्रह्म में भी यथार्थ ज्ञान के अभाव की दशा में ही अन्यथा-प्रतीति होनी चाहिये। यदि ऐसा है तो ब्रह्म के शुद्ध सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप आदि लक्षण भी न हो सकेंगे। किन्तु उसे अज्ञानी, भ्रमी, अविद्वान् आदि ही कहना पड़ेगा। फिर शंकर स्वामी की वह श्रुतियाँ कहां जायंगी जहाँ ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा है और वह

शास्त्रयोनित्वात् (वे० १। १। ३)

या

ज्योतिर्दर्शनात् वे० (१। ३। ४०)

आदि सूत्रों का क्या अर्थ करेंगे ? जो सत्ता

आत्मा अपहतपाप्मा (छा० ८। ७। १)

या

परमज्योतिः (छा० ८। १२। ३)

या

स उत्तमः पुरुषः (छा० ८। १२। ३)

नामों से पुकारी गई है उसको अन्यथा-प्रतीति कैसे होगी ? और जिसको अन्यथा-प्रतीति होती है वह किस प्रकार ज्ञानी कहलायेगी ?

यदि ब्रह्म ज्ञानी है तो उसे अन्यथा प्रतीति न होगी और

इसलिये प्रपंच अर्थात् संसार की उत्पत्ति कैसी और ब्रह्म से

जन्माद्यस्य यतः (वे० १ । १ । २)

सूत्र में कहे हुये संसार की उत्पत्ति, स्थित और प्रलय कैसी ? और यदि ब्रह्म अज्ञानी है अर्थात् यदि उसको ऐसी भ्रान्तियाँ हुआ करतीं हैं जैसी कभी कभी हम लोगों को हो जाया करती हैं तो आगे भी कौन सी ऐसी बात है जिससे आशा की जाय कि यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाय और मोक्ष हो जाय ?

बड़ी विचित्र बात है कि अद्वैतवादी मायावादियों ने माया या अविद्या को अनादि माना है। अर्थात् इसका कभी आदि है ही नहीं❀। अब थोड़ा सा अविद्या के अनादित्व पर भी विचार कीजिये। इसका क्या अर्थ है ? यदि मुझे एक चांद के दो दीख पड़ें तो कहेंगे कि मुझ में अविद्या है अर्थात् मैं अज्ञानी हूँ। यदि मेरा यह अज्ञान अनादि हो तो इसका यह अर्थ होगा कि मुझे आज से पूर्व कभी ज्ञान हुआ ही नहीं, सदा भ्रान्ति ही भ्रान्ति रही। इसी प्रकार जब कहा कि "अविद्या अनादि है" तो इससे सीधा तात्पर्य यही निकला कि ब्रह्म अनादि से ही अज्ञानी और भ्रान्ति युक्त रहा।

परन्तु मायावादी का कथन है कि ब्रह्म तो शुद्ध और ज्ञानी है। परन्तु यह अज्ञान या भ्रान्ति माया या अविद्या के कारण हो जाती है। इसी लिये हम लोग मानते हैं कि संसार के प्रपंच का कारण माया है। इसके उत्तर में हमारा कहना यह है कि इस भ्रान्ति का नाम ही अज्ञान, अविद्या या माया है। निश्चलदास जी भी कहते हैं कि "अज्ञान" "अविद्या" और "माया" "एक

❀ देखो यह श्लोक,

जीवेशौ च विशुद्धाचिद् विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।
अविद्या तच्चितेर्योगः षडस्माकमनादयः॥

ही पदार्थ के" नाम हैं (वृत्तिप्रभाकर) माया या अविद्या 'भ्रान्ति' या 'अज्ञान' से अलग कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये अविद्या के अनादि होने का यही अर्थ है कि ब्रह्म अनादि काल से अज्ञानी है। इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता और यदि यह अर्थ लेते हो तो तुम ब्रह्म को सर्वथा दूषित कर देते हो जो श्रुतियों से विरुद्ध बात है। निश्चलदास जी ने लिखा है कि अविद्या को "प्रपंच का उपादान होने तै प्रकृति कहैं हैं" (वृत्ति प्रभाकर) परन्तु उनका यह कथन असार है क्योंकि यदि "अतस्मिँस्तद्बुद्धि' अर्थात अन्य में अन्य की प्रतीति का नाम ही अज्ञान या अविद्या है तो यही प्रपंच है। प्रपंच का उपादान नहीं। मिट्टी घड़े का उपादान है परंतु मिट्टी घड़ा नहीं। ज्वर ही रोग है। ज्वर रोग का उपादान नहीं। इसी प्रकार अविद्या स्वयं ही प्रपंच है न कि प्रपंच का कारण।

परन्तु इन लोगों का कथन है कि ब्रह्म तो शुद्ध है परन्तु उपाधि से उसमें दोष प्रतीत होता है जैसे आकाश एक है परन्तु घड़े और मकान की उपाधि के कारण ही घटाकाश और मठाकाश रूपी भेद हो जाते हैं।

आइये इस उपाधिवाद की भी मीमाँसा करें। "घटावच्छिन्न आकाश कूं **घटाकाश** कहैं हैं, निरवच्छिन्न आकाश कूं **महाकाश** कहैं हैं। घट जल मैं आकाश के प्रतिबिम्ब कूं **जलाकाश** कहैं हैं, मेघ मैं जल के सूक्ष्म कण हैं तिन मैं आकाश में प्रतिबिम्ब कूं **मेघाकाश** कहैं हैं" (वृत्त प्रभाकर पृ० ३४८)। घटाकाश में घट उपाधि है। महाकाश में कोई उपाधि नहीं। जलाकाश और मेघाकाश जल में आकाश के प्रतिबिम्ब के कारण हैं।

यहाँ देखना यह है कि यदि घड़े की सत्ता न हो तो आकाश

को घटाकाश बनाने के लिये किस चीज़ की उपाधि हो ? घड़ा सत् है या असत् ? वस्तुतः यदि घड़ा न होता तो घटाकाश भी न होता । जिस प्रकार अकेला आकाश उपाधि का कारण नहीं हो सकता और घटाकाश अद्वैत नहीं किन्तु द्वैत सिद्ध करता है उसी प्रकार यदि यह सच है कि "स्थूल सूक्ष्म शरीर के अधिष्टान चेतन कूं कूटस्थ कहैं हैं" तो इससे चेतन के अतिरिक्त शरीर की भी तो सिद्धि होती है । यदि चेतन मात्र एक अद्वितीय सत्ता है और इससे इतर शरीर आदि कुछ नहीं तो चेतन को शरीर का अधिष्ठान कैसे कह सकेंगे और "कूटस्थ" कैसे बन सकेगा ?

"घटजल में आकाश के प्रतिबिम्ब कूं जलाकाश कहैं हैं ।" यहां जलाकाश को घटाकाश के समान सर्वत्र व्यापक आकाश का अंश मान कर निश्चलदास जी तथा अन्य मायावादियों ने बड़ी भारी भूल की है । वस्तुतः आकाश शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, एक पांच तत्त्वों में से एक तत्त्व जिसे आकाश कहते हैं और जिसको ब्रह्म से उपमा दी जाती है (आकाशवत् व्यापकत्त्वात् खम्) और दूसरे नीला नीला जो ऊपर चमकता है उसको भी आकाश कहते हैं । यह दोनों पदार्थ एक नहीं हैं किन्तु अलग अलग हैं । जो व्यापक आकाश है उसका कोई रंग नहीं है । और जिसका नीला रंग है उसका भी नाम तो अवश्य आकाश ही है परन्तु उसकी पांच तत्त्वों में गणना नहीं है । इसलिये घड़े के पानी में जिस आकाश का प्रतिबिम्ब या अक्स पड़ता है वह वही आकाश नहीं है जिसको घड़े की उपाधि के कारण घटाकाश कहा है । यही हाल मेघाकाश का है। इसलिये यह दोनों दृष्टांत जो अद्वैतवादियों की परिक्रिया के फलस्वरूप समझे जाते हैं सर्वथा विषम है । दूसरी बात यह है कि प्रतिबिम्ब की

घटना ही अद्वैत का खण्डन करती है। प्रतिबिंब कब पड़ता है? प्रतिबिंब के लिये तीन चीजें चाहियें। एक वह पदार्थ जिसका प्रतिबिंब पड़े, दूसरा वह जिस पर प्रतिबिंब पड़े और तीसरा प्रकाश। यदि इन तीनों में से एक का भी अभाव है तो प्रतिबिंब पड़ ही नहीं सकता। जो नीला नीला आकाश दिखाई देता है इसका जल पर तो प्रतिबिंब पड़ता है परन्तु मिट्टी पर नहीं। गँदले जल पर भी प्रतिबिंब नहीं पड़ता। अंधेरी रात्रि के समय आकाश का प्रतिबिंब स्वच्छ जल पर भी नहीं पड़ता, क्योंकि प्रकाश का अभाव है। अतः सिद्ध है कि समस्त प्रतिबिंबों का मूलाधार अद्वैतवाद नहीं किन्तु बहुत्ववाद है। जलाकाश के लिये इतनी चीजें चाहियें। पहले घड़ा, फिर उसमें जल और फिर उस जल में आकाश का प्रतिबिंब। यदि घड़ा, जल, आकाश तथा आप्रकाश यह चार पदार्थ अलग न हों तो जलाकाश होगा ही नहीं। मेघाकाश के लिये भी यही कहा जा सकता है। अब देखिये। "शरीररूप घट मे बुद्धि स्वरूप जल मैं जो चेतन का प्रतिबिंब ताकूं जीव कहैं हैं।" इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि शरीर कोई अलग पदार्थ है जिसमें बुद्धि एक दूसरा पदार्थ उसी प्रकार विद्यमान है जैसे घड़े में जल, और उस बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिंब पड़ता है वही जीव है। यदि अकेला चेतन ब्रह्म ही एक मात्र सत् है तो शरीर क्या वस्तु है? वह सत् है या असत्? बैल के सींगों के समान है यह खरगोश के सींगों के समान? यदि माया भ्रम या अज्ञान का नाम है तो यह अज्ञान ब्रह्म को ही हो सकेगा और इसके द्वारा वह शरीर तो नहीं बना सकता? जब शरीर ही नहीं तो उसमें प्रतिबिंब कैसा और फिर जीव कैसा?

जो आक्षेप "जीव" के विषय में हैं वही ज्यों के त्यों ईश्वर से विषय में भी हैं। क्योंकि आपके कथन के अनुसार

"मायारूप अंधकारस्थ जो जल कण समान बुद्धि वासना तिन में प्रतिबिंब कूँ ईश्वर कहैं हैं"। यह क्या बात हुई ? शरीरस्थ बुद्धि में चेतन के प्रतिबिंब को जीव कहा और बुद्धि वासना में चेतन के प्रतिबिंब को ईश्वर। दोनों दशाओं में प्रतिबिंब तो चेतन का ही हुआ और जिस पदार्थ पर प्रतिबिंब पड़ा वह भी एक ही अर्थात् बुद्धि! फिर भेद क्यों ? केवल इतना भेद है कि जीव की दशा में बुद्धि **"शरीरस्थ"** है और ईश्वर की दशा में "मायारूप अन्धकारस्थ"। परन्तु यह तो कहीं बताया ही नहीं गया कि "मायारूप अन्धकार" बुद्धि का अधिकरण कैसे हो सकता है ? पहली दशा में बुद्धि का अधिकरण शरीर को मानने से क्या मतलब ? और मायारूप अंधकार को बुद्धि का अधिकरण मानने से क्या प्रयोजन ? केवल शब्द समूहों से तो काम नहीं चलता। कुछ आशय भी तो होना चाहिये। बुद्धि क्या पदार्थ है जो कभी शरीर में रहती है और कभी माया रूप अन्धकार में ? और इस बुद्धि पर चेतन का प्रतिबिंब कैसे पड़ता है ? फिर इस कथन का क्या अर्थ है कि "माया में प्रतिबिंब ईश्वर है और अविद्या में प्रतिबिंब जीव है"। यदि यह सब एक ही माया है तो कभी ईश्वर, कभी जीव, कभी अविद्या और कभी माया कहने की क्या आवश्यकता ?

फिर एक बात और विचारणीय है। सूर्य्य आदि भौतिक पदार्थों का तो जल आदि भौतिक पदार्थों पर प्रतिबिंब पड़ना समझ में आ सकता है क्योंकि सूर्य्य एक ऐसा पदार्थ है जिसमें से प्रकाश की किरणें निकल कर जल तक जातीं हैं और वह फिर जल के निज धर्म के कारण वहाँ से लौटकर चलती हैं तो हमारी आँखों को सूर्य्य का प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। यह प्रतिबिंब असत् नहीं किन्तु उसी प्रकार सत् है जैसे जल।

परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि चेतन अभौतिक वस्तु का प्रतिबिंब किस प्रकार पड़ेगा ?

यहां पर शायद यह कहा जाय कि वस्तुतः प्रतिबिंब नहीं पड़ता किन्तु प्रतीत सा होता है और इस प्रतीति का कारण अविद्या है। क्योंकि शङ्कराचार्य्य जी ने भी तो लिखा है कि—

"अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तल मलिनता-द्यध्यस्यन्ति।"

अर्थात् निराकार आकाश में मूर्ख लोग तलकी मलिनता आदि मान बैठते हैं। इसी प्रकार सम्भव है कि चेतन का वास्तविक प्रतिबिम्ब तो न हो परन्तु मूर्खता या अविद्या के कारण मान लिया गया हो। परन्तु फिर भी आक्षेपों से मुक्ति नहीं होती। क्योंकि यह तो सम्भव है कि मूर्ख लोग किसी बात को कुछ मान लें। परन्तु यदि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही ब्रह्म हो। इसके अतिरिक्त कुछ हो भी नहो तो मूर्खता भी कौन करेगा और उस मूर्खता के कारण किसको अन्यथा प्रतीति होगी ?

श्री रामानुजाचार्य्यजी ने अपने श्री भाष्य में मायावाद पर यह आक्षेप किये हैं:—

(१) आश्रयानुपपत्ति दोषः—

साहि किमाश्रित्य भ्रम जनयतीति वक्तव्यम्। न तावज्जीवमाश्रित्य अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य। तस्य स्वयं प्रकाश ज्ञानरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्।

अर्थात् अविद्या किसके आश्रय रह कर भ्रम को उत्पन्न करती है ? जीव तो इसका आश्रय हो ही नहीं सकता क्योंकि जीवभाव भी अविद्या द्वारा ही कल्पित होता है। यदि अविद्या

न हो तो जीव ही कैसे हो ? ब्रह्म के आश्रय से भी नहीं क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशवान् और ज्ञान स्वरूप है। ऐसी सत्ता अविद्या को कैसे आश्रय दे सकती है ? अन्धकार दीपक के आश्रय तो रह ही नहीं सकता। इसलिये मायावाद में सब से बड़ा यह दोष है जिसको आश्रयानुपपत्ति दोष कहते हैं।

इस दोष के निवारण करने के लिये कई प्रयत्न किये गये हैं। प्रो० प्रभुदत्त शास्त्री अपने मायावाद (Doctrine of Maya) में लिखते हैं:—

This objection rests upon a two-fold misinterpretation. In the first place, Ramanuja starts with the idea that Maya (or Avidya) is something *real*, and consequently demands a seat for this "illusion" or "ignorance." *Avidya* is decidedly not a reality: it is only the negation of Vidya or the obscuration of it. As the fire is latent in the wood, so is our godly nature, our spiritual principle, hidden by the Upadhis.

अर्थात् यह आक्षेप ही भूलों के कारण हुआ है। प्रथम तो रामानुज ने यह समझ लिया कि माया या अविद्या कोई सत् पदार्थ है जिसके लिये वह आश्रय ढूंढते हैं। अविद्या कोई सत् पदार्थ नहीं है विद्या का अभाव या आवरण ही अविद्या है। जिस प्रकार लकड़ी में आग छिपी रहती है। उसी प्रकार हमारी ब्राह्मी सत्ता या चेतनता उपाधियों में छिपी हुई है।"

यह है प्रभुदत्त जी का यह उत्तर। परन्तु क्या यह उत्तर है ? जिस भूल को वह रामानुजाचार्य्य के सिर मँढ़ते हैं उसके वह स्वयं दोषी हैं। यदि विद्या के अभाव का नाम अविद्या है तो

वह विद्या को कैसे ढक सकती है ? लकड़ी में आग छिपी रहती है क्योंकि लकड़ी एक सत् पदार्थ है। यदि लकड़ी की सत्ता न होती तो आग उसमें कैसे गुप्त हो सकती ? क्या शून्य से भी आग छिपाई जा सकती है ? यदि हमारी ब्राह्मी सत्ता को उपाधियां छिपा सकती हैं तो वह उपाधियां अवश्य कोई पदार्थ होंगी। जिस प्रकार ज्ञान के आश्रय के लिये ज्ञान-युक्त सत्ता चाहिये उसी प्रकार भ्रम के लिये भी तो कोई आश्रय अवश्य चाहिये। ज्ञान का आश्रय ज्ञानवाली सत्ता है और अज्ञान का आश्रय आज्ञानी सत्ता। यह तो हो नहीं सकता कि भ्रम का कोई आश्रय न हो। यदि प्रभुदत्त जी मायावाद के दृष्टान्तों पर ही विचार करते तो उनको रामानुज पर यह आक्षेप करने का साहस न होता। यदि रस्सी को रस्सी समझने के ज्ञान के लिये एक ज्ञान वाली सत्ता की ज़रूरत है तो रस्सी को साँप समझने के लिये भी इस भ्रम या अज्ञान को आश्रय देने वाली कोई सत्ता चाहिये। यह कैसे हो सकता है कि रस्सी को रस्सी समझने वाला तो एक पुरुष हो और रस्सी को साँप समझने वाला कोई नहीं ? यदि कोई नहीं तो रस्सी में साँप की भ्रान्ति कैसी ? यदि भ्रान्ति है तो भ्रान्ति वाला भी अवश्य चाहिये। प्रभुदत्त जी आगे लिखते हैं:—

In the second place, Ramanuja makes an unwarranted differentiation between Brahman and the individual soul. In stating the position of the Advaitin he has no right to colour it with his own conceptions. We, after Shankara, do not admit such a difference between the two. Brahman becomes the individual soul only by Upadhis, *i. e.*, self-imposed limitations of *manas*,

the senses, subtle body, karma etc These *Uhadhis* may figuratively be spoken of as limiting the Atman and resolving it into the two aspects of the Highest Atman (Brahman) and the individual Atman. If, therefore, we are pressed by Ramanuja to state the *residence* of Avidya, we may meet him by saying that it must if at all concieved as such, reside in the Upadhis the mind (manas), the senses, etc. As a matter of fact, this demand of Ramanuja seems to be unjustifiable and inadmissible.

"दूसरी भूल यह है कि रामानुज ने ब्रह्म और जीव में व्यर्थ ही भेद मान रक्खा है। अद्वैतवादियों के सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्तों के रंग में रंगने का उनको कोई अधिकार नहीं। हम शंकर का अनुसरण करते हुये ब्रह्म और जीव में भेद नहीं मानते। ब्रह्म उपाधियों के कारण ही जीव हो जाता है। यह उपाधियाँ, मन, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, सूक्ष्म शरीर, कर्म आदि स्वयं-आरोपित हैं। उपचार से कहा जाता है कि यह उपाधियां आत्मा को दो रूपों में विभक्त कर देती हैं अर्थात् ब्रह्म और जीव में। इसलिये यदि रामानुज अविद्या का आश्रय पूछते हैं तो हम कहेंगे कि यदि इसका कोई आश्रय हो सकता है तो यह मन और इन्द्रियों की उपाधियाँ हैं। वस्तुतः रामानुज का यह प्रश्न अयुक्त और अग्राह्य है।"

यहाँ फिर प्रभुदत्त जी ने एक युक्तिसंगत आक्षेप को शाब्दिक भूल भुलइयों द्वारा उड़ाने का यत्न किया है। आप ब्रह्म जीव में भेद मानें या न मानें इससे क्या ? ब्रह्म और जीव में किसी दशा में भेद तो सभी वेदान्ती मानते हैं। नहीं तो क्यों कहा

जाता है कि अविद्या-युक्त ब्रह्म ही जीव है ? यदि तुम कहते हो कि अविद्या का आश्रय मन, इन्द्रिय आदि उपाधियाँ हैं तो हम पूछते हैं कि यह मन, इन्द्रिय आदि उपाधियां क्या वस्तु हैं ? ब्रह्म तो हैं नहीं ? न ब्रह्म के समान सत् हैं फिर क्या यह उपाधियाँ भी माया हैं ? यदि ऐसा है तो अविद्या ही हुई। यह अच्छा उत्तर है। रामानुज का आक्षेप ठीक है और मायावादियों के पास इसका उत्तर नहीं।

(२) तिरोधानानुपपत्तिः—**किं चाविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मातिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एवोक्तः स्यात्। प्रकाश, तिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्ति प्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपग मेन प्रकाश तिरोधानं प्रकाश नाश एव।**

अर्थात् अविद्या प्रकाश स्वरूप ब्रह्म का तिरोधान (छिपाना) नहीं कर सकती। तिरोधान के दो अर्थ होते हैं अर्थात् या तो प्रकाश की उत्पत्ति को बन्द कर दिया जाय या जो प्रकाश है उसका नाश कर दिया जाय। प्रकाश का उत्पादन तो अद्वैतवादी मानते नहीं अतः यही परिणाम निकलता है कि प्रकाश तिरोधान का अर्थ है प्रकाश का नाश। प्रकाश के नाश का अर्थ है ब्रह्म की सत्ता का नाश क्योंकि प्रकाश ही ब्रह्म है।

इस आक्षेप के विषय में प्रभुदत्त जी शास्त्री लिखते हैं:—

This objection is based upon Ramanuja's losing hold of the real position of the upholders of Maya. Our ignorance is merely *negative.* It has no positive existence to be able to conceal

anything else in the strict sense. Brahman is ever the same in its splendour and luminosity, but *ue fail to see it* only through our own *Avidya* which can therefore in no way be said to be able to conceal Brahman in the sense of destroying its luminosity.

कि "रामानुज ने यह आक्षेप मायावादियों के सिद्धान्त को न समझने के कारण किया है। हमारी अविद्या तो निषेधात्मक है। इसकी कोई सत्ता नहीं। इसलिये यह किसी को छिपा भी नहीं सकती। ब्रह्म तो सदा प्रकाश स्वरूप ही रहता है। परन्तु **हम अपनी अविद्या के कारण** इसको देख नहीं सकते। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि माया ब्रह्म के प्रकाश का नाश कर देती है।"

न जाने प्रभुदत्त जी ने "हम" शब्द किसके लिये प्रयुक्त किया है। यदि जीव ब्रह्म में भेद नहीं तो 'हम' और 'ब्रह्म' में भी भेद नहीं फिर यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि ब्रह्म की ज्योति तो चमकती है परन्तु हम उसे अविद्या वश नहीं देख सकते। एक चमकने वाला और दूसरा वह जो इस चमक को न देख सके। यह दो सत्तायें मानते हुये भी अद्वैतवादी! कैसी विचित्र बात है? यदि कहो कि "हम" भी ब्रह्म हैं। यह हमपन उपाधि के कारण है तो हमारे पूर्व कथित कई आक्षेप ज्यों के त्यों रहते हैं।

(३) **स्वरूपानुपपत्ति :** अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है कि

अपि च निर्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिः स्वाश्रयदोषवशादनन्ताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवति।

ज्ञान स्वयं प्रकाशवान् है यह निर्विषय है अर्थात् इसके लिये ज्ञेय पदार्थ कोई नहीं और निराश्रय है अर्थात् यह किसी अन्य पदार्थ अर्थात् ज्ञाता के आश्रित नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह लोग ब्रह्म को ज्ञानमात्र मानते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं करते। उनका कथन है कि यही ज्ञान अपने ही आश्रित दोष के कारण ऐसा अनुभव कर लेता है कि अनन्त ज्ञाता हैं और अनन्त ज्ञेय हैं। यह अनेकों ज्ञाताओं और अनेकों ज्ञेय पदार्थों का अनुभव उस दोष के कारण है। इसी दोष का नाम माया या अविद्या है। वस्तुतः न तो कोई "जानने वाला" है और "न जानने योग्य पदार्थ" है। केवल ज्ञान ही ज्ञान है। परन्तु इस ज्ञान के साथ साथ उसी के आश्रित "दोष" भी है। यही दोष यह भावना उत्पन्न कर देता है कि ज्ञाता और है, ज्ञान और, ज्ञेय और।

इस पर रामानुजाचार्य प्रश्न करते हैं :—

किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थभूत उतापरमार्थभूत इति विवेचननीयम्।

यह बताओ कि यह स्वाश्रय दोष जिसको तुम अविद्या या माया कहते हो सत् है या असत्।

न तावत् परमार्थः। अनभ्युपगमात्।

सत् तो कह नहीं सकते क्योंकि तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त नहीं है। यदि यह सत् हो जाय तो ब्रह्म और माया दो सत् पदार्थ ठहरेंगे और अद्वैतवाद द्वैतवाद हो जायगा।

नाप्यपरमार्थः। तथाहि सति दृष्टृत्वेन वा दृश्यत्वेन वा दृशित्वेन वाभ्युपगमनीयः।

असत् भी नहीं है। क्योंकि यदि असत् मानें तो तीन रूपों में मान सकेंगे, जानने वाले अर्थात् ज्ञाता के रूप में ज्ञेय, अर्थात् जानने योग्य पदार्थ के रूप में, या स्वयं ज्ञान के रूप में। तीसरा कोई रूप तो हो ही नहीं सकता।

न तावत् दृशिः—स्वयं ज्ञान रूप में तो मान ही नहीं सकते क्यों ?

दृशिस्वरूपभेदानभ्युपगमात्। भ्रमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षाद् दृशेर्माध्यमिकपक्ष प्रसंगेनापारमार्थ्यानाभ्युपगमाच्च।

इसलिये कि तुम अद्वैतवादी लोग ज्ञान के स्वरूपों में तो भेद मानते ही नहीं। अर्थात् तुम यह नहीं मानते कि ज्ञान कई प्रकार का होता है। जब ज्ञान का स्वरूप एक सा ही ठहरा और ज्ञान असत् पदार्थ ठहरा तो तुम माध्यमिक बौद्धों के समान शून्यवादी हो जाओगे। क्यों कि यदि यह दोष रूपी ज्ञान असत् है तो जिस ज्ञान के आश्रित तुम इस दोष को मानते हो वह ज्ञान भी असत् होगा। फिर तुम्हारे मत में कोई सत् पदार्थ नहीं रहेगा।

द्रष्टृदृश्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूल दोषान्तरापेक्षयानवस्था स्यात्।

यदि ज्ञाता, ज्ञेय और इनमें छिपा हुआ ज्ञान यह तीनों असत् माने जायँ तो जिस प्रकार इन असत् पदार्थों की व्याख्या करने के लिये अविद्या रूपी असत् पदार्थ मानने की आवश्यकता पड़ी उसी प्रकार अविद्या रूपी असत् पदार्थ के मानने के लिये एक और असत् पदार्थ की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा :—

परमार्थसत्यनुभूतिरेव ब्रह्मस्वरूपा दोष इति चेत्।

अगर कहो कि सत ज्ञान जो ब्रह्मस्वरूप है इसी को दोष या अविद्या कहते हैं।

ब्रह्मैव चेद् दोषः प्रपञ्चदर्शनस्यैव तन्मूलं स्यात्। किं प्रपञ्चतुल्याविद्यान्तरकल्पनेन ॥

तो यह ब्रह्म ही प्रपंच का मूल होगा। फिर ब्रह्म से अलग अविद्या को संसार का कारण मानने की क्या आवश्यकता ?

ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्ष श्चषस्यात्।

जब ब्रह्म में दोष हुआ तो ब्रह्म के नित्य होने से यह दोष भी नित्य होगा। फिर मोक्ष न हो सकेगी।

प्रभुदत्त जी ने इस आक्षेप को यों निवारण करने का यत्न किया है :—

Certainly we do not admit the reality of Maya but at the same time we do not hold that it is unreal from the empirical standpoint as well. Empirically it is *sat* (existing), the world *is*, but it is Maya.

हम माया को सत नहीं मानते। परन्तु व्यावहारिक दशा में असत भी नहीं मानते। व्यावहारिक दशा में यह सत है। संसार है परन्तु माया है।

पारमार्थिक और व्यावहारिक दो शब्दों की भूल भुलइयों द्वारा आक्षेप की निवृत्ति हो नहीं सकती। मान लिया कि संसार

व्यावहारिक दशा में सत् है। परन्तु जब हम मीमाँसा करते हैं तब तो तत्त्व को ही खोजना पड़ेगा। यदि तुम कहते हो कि संसार माया है और माया वस्तुतः सत् नहीं है तो इसका यही अर्थ हो सकेगा कि संसार वस्तुतः सत् नहीं है। सत् प्रतीत मात्र होता है। यदि संसार या तुम्हारी माया सत् नहीं है तो रामानुजाचार्य्य या किसी विपक्षी को पूरा अधिकार है कि इसके स्वरूप के विषय में तुम से प्रश्न करे। तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं कि

The question as to what is the cause of Maya is, in the Sense in which it is asked, an illegitimate one. Causality is the general law in the world (Maya), but it has no warrant to transcend itself and ask, "what is the cause Maya ?" The category only applies within the phenomenal world. and at once breaks down when stretched out of it. Everything wihin Maya has a cause but Maya has no cause.

"माया का कारण पूछना अनुचित है। कारण कार्य्य सम्बन्ध का नियम संसार अर्थात् माया का है परन्तु यह इससे आगे नहीं बढ़ सकता। यह नहीं पूछ सकते कि माया का क्या कारण है ? कारण का प्रश्न प्रपंच के भीतर ही भीतर हो सकता है। इससे बाहर नहीं। माया के भीतर भीतर जो कुछ है उस सब का कारण है परन्तु माया का कोई कारण नहीं"।

प्रश्न को अनुचित बता देना सुगम है। परन्तु इस सुगम रीति से आक्षेप दूर नहीं हो सकता। यह तो तुम मानते हो कि कारण कार्य्य का प्रश्न माया के भीतर.भीतर का है बाहर का नहीं। आक्षेप करने वाले को पूरा अधिकार है कि वह तुम

स पूछे कि जो प्रश्न माया के भीतर भीतर का है वह माया के विषय में भी क्यों लागू नहीं हो सकता। यह कोई स्वयं-सिद्ध या सर्व-तन्त्र सिद्धान्त तो हो ही नहीं सकता। जब हम तुम्हारे मायावाद को हो नहीं मानते तो जिन कारणों से तुम ने 'माया' का पक्ष लिया है उसकी मीमाँसा भी आवश्यक है। यदि तुम माया के स्वरूप बताने में असमर्थ हो तो तुम को मायावाद के मानने के लिये भी असमर्थ होना चाहिये। यदि संसार का कारण तुम आश्रित दोष अर्थात् माया को मानते हो तो यह भी बताना ही पड़ेगा कि ज्ञान के आश्रित माया कैसे हो गई और यह माया क्या पदार्थ है।

डाक्टर पाल ड्यूसन (Dr. Paul Deusson) की सफ़ाई पर भी विचार कीजिये :—

"But now from where comes the *avidya,* this primeval cause of ignorance, sin, and misery. Here all philosophers in India and Greece and everywhere have been defective until Kant came to show us that the whole question is inadmissible. You ask for the cause of *Avidya* but she has no cause, for causality goes only so far as this world of the samsara goes, connecting each link of it with another, but never beyond samsara, and its fundamental characteristic the Avidya. In enquiring after a cause of *Avidya* with Maya, Samsara and Upadhis, you abuse, as Kant may teach us, your innate mental organ of causality to penetrate into a region for

which it is not made and where it is no more available. The fact is, that we are here in ignorancc, sin and misery and that we know the way out of them, but the question of a cause for them is senseless." (Aspects of the Vedanta P. 128)

"अब प्रश्न यह है कि अज्ञान, पाप, तथा दुःख की आदि मूल अविद्या कहां से आई ? इस विषय में भारतवर्ष और यूनान तथा अन्य सभी देशों के दार्शिनिकों के उत्तर दोष युक्त हैं। जब तक कि काएट ने यह न प्रकट कर दिया कि यह प्रश्न ही असंगत है। तुम अविद्या का कारण पूछते हो परन्तु उसका कोई कारण नहीं क्योंकि कारण और कार्य का सम्बन्ध संसार तक ही है जिसमें एक कड़ी दूसरी कड़ी से मिलानी पड़ती है। परन्तु संसार से बाहर या संसार की मौलिक विशेषता अर्थात अविद्या से उसका सम्बन्ध नहीं। जब तुम माया-युक्त अविद्या या संसार और उपाधियों का कारण पूछते हो तो कांट के कथनानुसार तुम अपनी "कारण अनुभव करने वाली" इन्द्रिय का दुष्प्रयोग करते हो क्योंकि तुम उससे ऐसे क्षेत्र में काम लेना चाहते हो जिसके लिये यह नहीं बनाई गई और जहां इसका बस नहीं। बात यह है कि हम यहां अज्ञान, पाप और दुख में हैं और इनसे निकलने का मार्ग जानते हैं। परन्तु उसके लिये कारण का प्रश्न असङ्गत है।"

कांट के जिस उत्तर के ड्यूसन को सन्तोष हो गया उससे हमको तो कुछ भी सन्तोष नहीं होता। ड्यूसन इतना तो मानते हैं कि इस प्रश्न का यथोचित उत्तर भारतीय या यूनानी किसी फ़िलासफर ने नहीं दिया। परन्तु ड्यूसन के ही स्वदेश भाई, जर्मन देश के प्रसिद्ध दार्शनिक काएट का उत्तर उनको

पसन्द आया। हमको आश्चर्य है कि प्रश्न की असङ्गतता कैसे सिद्ध होती है। हम काण्ट के इस सिद्धान्त को तो मानते हैं कि मौलिक वस्तुओं में कारण का प्रश्न नहीं उठता। उदाहरण के लिये जिस प्रकार हम प्रश्न करते हैं कि सूर्य्य को किस ने बनाया उसी प्रकार यह प्रश्न नहीं कर सकते कि "ईश्वर को किस ने बनाया"। क्योंकि 'सूर्य' कार्य्य है और ईश्वर कार्य्य नहीं। कपिल ने भी कहा है! कि

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।

जड़ की जड़ नहीं होती। इसलिये जड़ बिना जड़ के होती है।

परन्तु क्या अविद्या उन वस्तुओं में है जिसका मूल न हो? ड्यूसन कहते हैं कि कारण-कार्य्य का प्रश्न अविद्या के विषय में असंगत है। यदि हम मान लें कि अविद्या "अमूलं मूलम्" है, और उसमें कारण कार्य्य का प्रश्न नहीं उठता तो हमको **अविद्या नित्य माननी** पड़ेगी और नित्य होने से उसका न तो विच्छेद हो सकेगा और **न श्री शंकराचार्य्य जी के मत में मोक्ष का कोई अर्थ रहेगा।**

(४) अनिर्वचनीयत्वानुपपत्तिः—**अनिर्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम्।**

तुम माया को अनिर्वचनीय बताते हो। अनिर्वचनीय का क्या अर्थ है?

सदसद्विलक्षणत्वमिति चेत्।

अगर कहो कि जो सत् भी न हो और असत् भी न हो वह अनिर्वचनीय है तो रामानुज का यह कहना है कि

सर्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा। सदसदाका-

रायाः प्रतीतेः सदसद्विलक्षणं विषय इत्यभ्युपगम्यमाने सर्वं सर्वप्रतीते विषयः स्यादिति ।

जितना ज्ञान है वह या तो सत् का है या असत् का। यदि ऐसी चीजों का ज्ञान भी मानोगे जो न सत् हो न असत् तो ज्ञान की कोई व्यवस्था ही न रहेगी।

प्रभुदत्त जी ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया है :—

Maya, we say, is neither *sat* nor *asat*, neither an "entity" nor a "non-entity." It is not *sat*, since the Atman alone is real, and it is not *asat*, since it *appears* at least, or in other words, maintains itself as an *iva* ("as it were"). Where is the contradiction now ?

"हम कहते हैं कि माया न सत् है न असत्। यह सत् नहीं है क्योंकि आत्मा ही सत् है और यह असत् भी नहीं है क्योंकि यह केवल प्रतीति होती है अर्थात् "है" के समान है। यहाँ परस्पर विरोध कैसा ?"

रामानुज ने आक्षेप किया था कि किसी पदार्थ का न सत् होना न असत् होना परस्पर विरोध का सूचक है इसलिये निरर्थक है परन्तु प्रभुदत्त जी उसी को दुहराने का नाम ही आक्षेप निवृत्ति रखते हैं। आपने उत्तर तो नहीं दिया किन्तु अपने सिद्धान्त की पुनरुक्ति को ही उत्तर समझ लिया और अन्त में धौंस दे दी कि "परस्पर विरोध कहाँ ?" हम कहते हैं कि यदि "परस्पर विरोध" का कोई अर्थ है और यदि आपके 'सत्' और 'असत्' का भी कोई अर्थ है तो अवश्य इसमें परस्पर विरोध है। आप इसी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि

The whole rest on a misconception, *viz*, the

want of perceiving clearly what the "tertium comparationis" is in each case.

"यह आक्षेप इसलिये किया गया है कि "सत्" और "असत्" शब्द जिस अपेक्षा से प्रयुक्त हुए हैं उनको समझा नहीं गया।" और

The *tertium compartionis* is not common in both.

सत् और असत् एक ही अपेक्षा से नहीं हैं

यह है उत्तर। परन्तु प्रभुदत्त जी को यह मालूम नहीं कि यदि सत् और असत् शब्द एक ही अपेक्षा से प्रयुक्त नहीं हुये तो "माया" को न सत् और "न असत्" कहते हुये भी उसे अनिर्वचनीय नहीं कह सकते। माया अनिवर्चनीय उसी समय होती जब वह एक ही अपेक्षा से "न सत्" होती और "न असत्।"

हम इसको अधिक स्पष्ट किये देते हैं। आप कहते हैं कि माया "न सत्" है और "न असत्"। हम पूछते हैं कि "सत्" और "असत्" शब्दों में "सत्" शब्द जो आया है उनके एक ही अर्थ हैं या दो भिन्न २ ? यदि एक ही अर्थ है तो "असत्" का विरोधी होगा "सत" और "सत्" का विरोधी होगा "असत्"। इसलिये माया अनिर्वचनीय तो होगी परन्तु उसमें परस्पर विरोध अवश्य आयेगा। यदि कहो कि "सत्" में 'सत्' का कुछ और अर्थ है और "असत्" में 'सत्' का कुछ और अर्थ। तो परस्पर-विरोध का आक्षेप तो दूर हो जायगा परन्तु माया अनिर्वचनीय न रहेगी। अर्थात् आपकी पुष्टि आपके मूल सिद्धान्त का ही खंडन कर देगी। ऐसी पुष्टि किस काम की ? माया को अनिर्वचनीय उसी समय कह सकते थे जब (tertium comparationis) (अर्थों की अपेक्षा) एक ही

होती। *यदि दो शब्द भिन्न २ अर्थों को अपेक्षा से प्रयुक्त हों तो अनिर्वचनीयता कैसी? हम नीचे कुछ उदाहरण देते हैं:—

सीतल ज्ञानी नहीं है।

और

सीतल ज्ञान-शून्य नहीं है।

यह दोनों बातें एक ही पुरुष अर्थात सीतल के विषय में कही जा सकती हैं क्योंकि जब कहते हैं कि "सीतल ज्ञानी नहीं है" तो इसका अर्थ है विशेष बुद्धि या ज्ञान। और जब कहते हैंकि 'सीतल ज्ञान-शून्य नहीं है' तो यहाँ ज्ञान-शून्य का अर्थ है "जड़त्व अर्थात् चेतनता शून्य"। यहाँ (tertium comparationis) अर्थात् अर्थापेक्षा एक न होने के कारण "ज्ञानी" और "ज्ञान-शून्य" परस्पर विरुद्ध नहीं।

ईश्वर हम से दूर नहीं है।
ईश्वर हमारे निकट नहीं है

इन दोनों में परस्पर-विरोध इसलिये नहीं कि "दूर न होना देश की अपेक्षा से ठीक है और "निकट न होना अनुभूति की अपेक्षा से ठीक है। (tertium comparationis) अर्थात् अर्थापेक्षा दोनों में भिन्न २ है।

परन्तु यहां न तो सीतल को ही अनिर्वचनीय कह सकते हैं। न ईश्वर को ही।

(५) प्रमाणानुपपत्ति:—

---

*हम अध्याय ७ पृष्ठ २०८ पर दिखा चुके हैं भिन्न २ अर्थों की अपेक्षा से कारण इस जगत् को वेदों में "नासदासीन्नोसदासीत्"।

अर्थात् "न वह सत् था" "न असत् था" कहा है परन्तु उसको अनिर्वचनीय कहीं नहीं कहा।

तथा विधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेनानिर्वचनीयतैव स्यात्

अर्थात् ऐसी अनिर्वचनीय वस्तु का जो सत् न हो और असत् भी न हो कोई प्रमाण भी नहीं। न इसे प्रत्यक्ष से सिद्ध कर सकते हैं न अनुमान आदि से। इसका प्रभुदत्त जी ने एक विचित्र उत्तर दिया है:—

This objection stands self-condemned. When we do not believe in the real existence of Maya, what logic is there in requiring us to prove the existence of it.

अर्थात यह आक्षेप तो यों ही गिर जाता है। जब मह माया को सत् ही नहीं मानते तो हम प्रमाण किस बात का दें?

यहां प्रभुदत्त जी अपनी पुरानी बात (tertium comparationis) बिल्कुल भूल गये। आप तो कहते थे कि "माया सत् नहीं" में 'सत्' का और अर्थ है और "माया असत् नहीं" में 'सत्' का और अर्थ। अब जब आप कहते हैं कि जिस पदार्थ को हम सत् ही नहीं मानते उसको प्रमाणों से कैसे सिद्ध करें। तो प्रतीत होता कि 'सत्' का अर्थ वही लिया है जो असत् का विरोधी है। आपने ऊपर ही कहा है कि 'माया' प्रतीत तो होती है। परन्तु है नहीं क्या इन दोनों बातों के लिये आप से प्रमाण नहीं माँगा जा सकता? आपको प्रत्यक्ष्यादि प्रमाणों से दोनों बातें सिद्ध करना चाहिये पहली यह कि माया प्रतीत होती है और दूसरी यह कि "वह है नहीं।" यदि आप कहें कि "मुझे रस्सी का साँप दिखाई देता है" तो जब तक मेरे पास पूरा प्रमाण इस बात का न हो कि "यह रस्सी ही है, रस्सी से भिन्न कोई पदार्थ नहीं" और इसका भी कि "आपको यह चीज

सांप मालूम होती है, अन्य नहीं ।" उस समय तक मैं आप की बात को मान नहीं सकता। परन्तु आप तो प्रमाणों से भागना चाहते हैं। यह नहीं जानते कि प्रमाण-शून्य वस्तु मानना निरर्थक है। यों तो आप मान लीजिये कि प्रत्येक चींटी के परों पर छः छः हाथी लटक रहे हैं। ऐसी आपकी धारणा है। परन्तु मुझे भी यह जानने के लिये कि वस्तुतः आपको चींटो के प्रत्येक पर पर छः छः हाथी लटकते प्रतीत हो रहे हैं कोई तो प्रमाण चाहिये।

परन्तु आप किस मज़े से कहते हैं कि

When we *know* that we are in reality no other than the absolute spirit and that the Atman is the onlt reality; and yet we *feel* that we are dif. ferent from the Absolute and that the world in which we live, move and have our being, is real, to what shall we attribute this clash between our knowledge and feelings ? Is it not a mystery ?

"जब हम जानते हैं कि हम ब्रह्म हैं। और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सता है ही नहीं और फिर भी हमको अनुभव होता है कि हम ब्रह्म के भिन्न हैं और संसार सत्य है तो फिर **हमारे ज्ञान और अनुभव में भेद क्यों पड़ता** है? क्या इसमें कुछ रहस्य नहीं है?"

रहस्य तो अवश्य है। यदि रहस्य न होता तो आप यह क्यों कहते कि "हम जानते हैं कि हम ब्रह्म है।" मैं पूछता हूँ कि ज्ञान ही आप को कैसे हुआ? केवल शङ्कराचार्य आदि की पुस्तकें पढ़ लेने से? या यह ज्ञान स्वाभाविक है? स्वाभाविक होता तो मुझे भी होता। क्योंकि मुझे इससे अधिक अनुचित बात ही प्रतीत नहीं होती कि मैं अपने को ब्रह्म समझने

लगूं। फिर आप प्रश्न के उत्तर में प्रति-प्रश्न करते हैं कि "ज्ञान" और "अनुभव" में यह भेद क्यों पड़ता है? हम तो सीधा सा यही उत्तर देंगे कि आप का अनुभव ठीक है। आप न कभी ब्रह्म थे न हो सकेंगे, न व्यावहारिक दशा में और न पारमार्थिक में। रहा ज्ञान सो अद्वैतवादियों की पुस्तकें पढ़ कर आप को भ्रम हुआ है। भेद अवश्य है और सच्चा भेद है। यह भेद उसी समय मिटैगा जब आप का ज्ञान भी अनुभव के अनुकूल होगा। जो आप का अनुभव है वही समस्त संसार का अनुभव है। यह अनुभव ज्ञान के क्यों विरुद्ध हो इसके लिये भी तो प्रमाण चाहिये। आप कहते हैं "हमको यह अनुभव अविद्यावश है?" फिर आप कहते हैं "इस अविद्या के लिये क्या प्रमाण चाहिये?" यह एक ही रही। आप किसी को यह कह दें कि "तुम मूर्ख हो" या "तुमको भ्रम हुआ है?" और जब वह पूछे "प्रमाण?" तो कह दो "क्या आवश्यकता? भ्रम तो ज्ञान के अभाव को कहते हैं। यह असत् होता है, अतः असत् के लिये किसी प्रमाण की जरूरत नहीं" रामानुजाचार्य्य ने क्या अच्छा कहा है :—

अज्ञानमिति ज्ञानाभावस्तदन्यस्तद्विरोधि वा।
त्रयाणामपि तत्स्वरूप ज्ञानापेक्षावश्याश्रयणीया॥

"अज्ञान का अर्थ है (१) ज्ञान का न होना या (२) यथार्थ ज्ञान से भिन्न ज्ञान होना या (३) उससे विरुद्ध ज्ञान होना। इन दोनों में स्वरूप ज्ञान की अपेक्षा का आश्रय अवश्य है।"

यद्यपि तमः स्वरूपप्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते तथापि प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेण प्रतिपत्तौ प्रकाश प्रतिपत्त्यपेक्षास्त्येव।

"यद्यपि अन्धकार के ज्ञान के लिये प्रकाश के ज्ञान की अपेक्षा नहीं चाहिये तथापि जब अन्धकार को प्रकाश का विरोधी मानते हैं तो उस अन्धकार के ज्ञान केलिये भी प्रकाश के ज्ञान की अपेक्षा अवश्य चाहिये"।

नित्य मुक्त स्वप्रकाश चैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति। स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्वस्वरूपमज्ञानमन्नुभवतीति चेत्। किमिदं तिरोहितस्वस्वरूपत्वम्। अप्रकाशित स्वरूपत्वमिति चेत्। स्वानुभवस्वरूपस्य कथमप्रकाशितस्वरूपत्वम्।

"नित्य मुक्त प्रकाशस्वरूप चेतन ब्रह्म को अज्ञान का अनुभव होना संभव ही नहीं है। क्योंकि कि उसको अपने स्वरूप का अनुभव है। यदि कहो कि अज्ञानवश यह स्वरूपानुभव छिप जाता है यह भी ठीठ नहीं क्योंकि स्वरूपानुभव के छिप जाने से तुम क्या अर्थ लेते हो? अपने स्वरूप का प्रकाशित न होना? परन्तु जब स्वरूप का अनुभव है तो वह अवश्य प्रकाशित भी है"।

रामानुजाचार्य्य का आशय यह है कि मायावादी यह मानते हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ परन्तु अविद्यावश अपने को जीव समझता हूँ"। अच्छा! जब तुम ब्रह्म हो तो नित्य मुक्त और प्रकाशस्वरूप भी अवश्य हो क्योंकि ब्रह्म नित्य, मुक्त और प्रकाशस्वरूप है। जब तुम प्रकाशस्वरूप हो तो तुमको अपने स्वरूप का भी अनुभव अवश्य होना चाहिये। जब तुमको अपने स्वरूप का अनुभव है तो फिर इससे विपरीत अनुभव कैसे हुआ? यदि कहो कि स्वरूप का अनुभव तो है परन्तु अविद्या रूपी आवरण में छिप

गया है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वरूप के ज्ञान का छिप जाना कुछ अर्थ नहीं रखता। इसलिये यदि तुम ब्रह्म होते तो तुम्हारा स्वरूप का ज्ञान कभी न छिप सकता और तुम कभी यह न अनुभव करते कि "मैं जीव हूँ"। इससे सिद्ध होता है कि तुम्हारा जीव होने का अनुभव इसीलिये है कि तुम वस्तुतः जीव हो ब्रह्म नहीं। जिस मनुष्य को रस्सी के रस्सीपन का अनुभव है उसका यह ज्ञान सांपपन के भ्रम से छिप कैसे सकता है? यह तो सम्भव है कि मैं ज्ञानी होऊं और अन्य लोग मुझे अज्ञानी समझें। परन्तु यह कैसे हो सकता है कि मैं ज्ञानी होऊं परन्तु अपने को अज्ञानी समझूं। यदि ज्ञानी हूँ तो जैसा हूँ वैसा ही समझूंगा। यदि जैसा हूँ उससे विपरीत समझता हूँ तो ज्ञानी कैसा?

किं च ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं स्वतोऽन्यतो वा। स्वतश्चेदज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्मोक्षः स्यात्।...अन्यतश्चेत् किं च तदन्यत्।

दूसरा प्रश्न यह है कि "ब्रह्म को यह अज्ञान का अनुभव स्वयं है या किसी अन्य के कारण? यदि कहो कि स्वयं है तो यह अनुभव सदा रहेगा। फिर मोक्ष कैसे होगी? यदि कहो कि अन्य के कारण है तो वह अन्य क्या है? क्योंकि ब्रह्म और अविद्या के अतिरिक्त और कोई तीसरी चीज तो है ही नहीं।"

(६) निवर्त्तकानुपपत्तिः—यदुक्तं निर्विशेष ब्रह्मज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तिं वदन्ति श्रुतय इति। तदसत्। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (श्वे० ३।८)। तमेवं विद्वानमृत इह

भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (तै० अ० ३।१३।१) **...इत्याद्यनेकवाक्यविरोधात् ।**

यह जो कहा जाता है कि निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होगी यह भी ठीक नहीं। क्योंकि "वेदाहमेतं" आदि श्रुतियों में ब्रह्म के विशेषण दिये हैं"।

(७) निवृत्त्यनुपपत्तिः—यत् पुनरिदमुक्तं ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानेनैवा विद्यानिवृत्तिर्युक्तेति। तदयुक्तम्। बन्धस्यपारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्। पुण्यापुण्यरूपकर्म निमित्त देवादिशरीर प्रवेश तत् प्रयुक्तसुख दुखानुभवरूपस्य बन्धस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम्।

"यह जो कहा कि ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होगी यह भी ठीक नहीं। क्योंकि बन्ध वास्तविक है। केवल ज्ञान मात्र से मिट नहीं सकती। पुण्य पाप रूप कर्मों के निमित्त से ही तो देव आदि का शरीर मिलता है। फिर इस बन्ध को मिथ्या ही कैसे बता सकते हैं"?

इन सब से यहां नतीजा निकलता है कि मायावाद एक विचित्र वाद है जिसका सिर पैर कुछ नहीं। यह न वेदों का सिद्धान्त है न युक्तियों से ही इसकी सिद्धि होती है। श्रुति, अनुभूति तथा युक्ति तीनों से इसका खंडन होता है। हां जो लोग युक्ति-विरोध पर लट्टू हैं उनकी यदि इससे सन्तुष्टि हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

—:०:—

वेदादि शास्त्रों की सम्मति



दों के 'अन्त' 'उद्देश्य' या सारांश का नाम वेदान्त है और कुछ दिनों से वेदान्त तथा अद्वैतवाद समानार्थक शब्द हो गये हैं। प्रायः लोगों का ऐसा विचार है कि वेदान्त का मुख्य मूल सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म के सिवाय और कोई तत्व है ही नहीं। लौकिक परिभाषा में उसी पुरुष को वेदान्ती कहते हैं जो शुद्ध अद्वैतवादी हो। शङ्कर और उनके अनुयायियों का विचार है कि वेदों में उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसको गौड़पादाचार्य्य ने अपनी कारिकाओं तथा शङ्कर स्वामी ने अपने वेदान्त भाष्य तथा गीता और उपनिषदों के भाष्य में दिया है

परन्तु जो लोग शङ्कर स्वामी के विरुद्ध हैं वह सब ही वेद के विरोधी नहीं हैं। विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक रामानुज स्वामी तथा द्वैत के संस्थापक माधवाचार्य्य भी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। प्रस्थानत्रय अर्थात् उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त दर्शन तो द्वैत, अद्वैत, तथा विशिष्टाद्वैत सभी को मान्य हैं। यही

नहीं। सांख्यकार कपिल और वैशेषिककार कणाद भी वेदों को प्रामाण्य मानते हैं।

जिस प्रकार शङ्करस्वामी लिखते हैं कि

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविधास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिःकारणं ब्रह्म शारीरिक भाष्य १। १। ३)

अर्थात् जैसे दीपक के प्रकाश में वस्तुओं का ज्ञान होता है इसी प्रकार ऋग्वेदादि से सब अर्थों का ज्ञान होता है। उसी प्रकार सांख्यकार भी कहते हैं कि

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्

(सांख्य० ५। ५१)

अर्थात् वेद अपनी ही शक्ति से प्रकाशित होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं।

तथा वैशेषिककार कणाद जी कहते हैं कि

तद् वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वै० १। १। ३)

अर्थात् ईश्वर वचन होने से वेदों का प्रामाण्य है।

इन सब प्रमाणों से एक बात सिद्ध हो जाती है वह यह कि 'वेदान्त' कहने से केवल अद्वैतवाद का ही क्यों अर्थ लिया जाय ?

हम 'माया' की मीमाँसा करते हुये दिखा चुके हैं कि वेदों में उस माया का नाम तक नहीं है जिसका प्रतिपादन गौड़पाद तथा शङ्कर के ग्रन्थों में मिलता है। इसी प्रकार उस अद्वैतवाद की भी वेदों से सिद्धि नहीं होती।

हम सब से पहले 'नासत्' सूक्त को लेते हैं जिसको प्रायः

सभी अद्वैतवादियों ने अपनी पुष्टि में प्रस्तुत किया है। सूक्त यह है:—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परोयत्।

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ २ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥ २ ॥

तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥ ३ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।

सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

तिरश्चीनो विततोरश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।

रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

(ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १२६)

मीमांसा करने से पूर्व हम साधारण शब्दार्थ देते हैं :—

(१) (न असत् आसीत्) असत् नहीं था । (नोसत् आसीत्) और न सत् था (तदानीं) उस समय (न आसीत् रजः) रज नहीं था (नो व्योम परोयत्) जो ऊपर व्योम है वह न था । (कुह शर्मन्कस्य किम् आवरीवः) कहां किससे ढका हुआ था । (गहनं गभीरं अम्भः किम् आसीत) गाढ़ा और गहरा जल क्या था ?

(२) (तर्हि) तब (न मृत्युः आसीत) मृत्यु न था। (अमृतम् न) और न अमृत था। (न राज्या अह्नः प्रकेतः आसीत्) रात और दिन का अलग चिह्न न था। (तत् एकं स्वधया अवातं आनीत्) वह एक स्वधा के साथ वायु के विना श्वास लेता था । (ह तस्मात् परः अन्यत् किंचन न आस) निश्चय कर के उससे परे और कुछ न था।

(३) (अग्रे) पहले (तमसा गूढ़म् तम आसीत्) अंधेरे से ढका हुआ अंधेरा था (सर्वम् इदम् अप्रकेतं सलिलम् आ)

यह सब चिह्न रहित सलिल* था (यत तुच्छयेन आभु † अपिहितं आसीत्) जो तुच्छ अर्थात् छोटे से कुल ढका हुआ था (तत् एकम् तपसः महिना अजायत) वह एक तप की महिमा से उत्पन्न हुआ।

(४) (यद् रेतः‡ प्रथमं आसीत्) जो रेत आरम्भ में था (तद् अग्रे मनसः अधि कामः समवर्त्तत) वह पहले मन से ऊपर कामरूप से विद्यमान था। (असति सतो बन्धुम्) असत् में सत् के बन्धु को (कवयो मनीषा हृदि निरविन्दन्) विचार शील ऋषियों ने हृदय में प्राप्त किया।

(५) (तिरश्चीनो रश्मिः विततः) टेढ़ी किरण फैली। (एषाम् अधः स्वित आसीत उपरि स्वित् आसीत) इनके नीचे क्या था? ऊपर क्या था? (रेतोधाः आसन्) रेत को धारण करने वाले थे (महिमानः आसन्) बड़े बड़े थे (अवस्तात् स्वधा) नीचे स्वधा थी (परस्तात् प्रयतिः) और आगे प्रयति थी।

(६) (को अद्धा वेद) कौन जानता है? (क इह प्रवोचत्) कौन यहाँ कहता है? (कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः) यह सृष्टि कहां से आई? (अस्य विसर्जनेन अर्वाग् देवाः) इसके

---

* सलिलं सलगतौ औणादिकः इलच् इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्न आः आसीत्—सायण

† आसमन्ताद् भवतीत्याभु—सायण,

‡ तादृशं रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथममतीतेकल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म यत्—सायण

जगतो बन्धु बन्धक हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राग्यनुष्ठितं कर्मसमूहं—सायण।

रेतोधाः रेतसोबीजभूतस्य कर्मणोविधातारः कर्त्तारः भोक्तारश्च जीवा आसन्—सायण।

फैलने से पीछे देव अर्थात् इन्द्रियाँ हुईं। (को वेद यत् आबभूव) कौन जानता है जिससे यह सृष्टि हुई।

(७) (इयं विसृष्टिः यतः आबभूव) यह सृष्टि जहां से हुई (यदि वा दधे यदि वा न) उसको उसने धारण किया या न किया (यः अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्) जो बड़े आकाश में उसका अध्यक्ष (सः अङ्ग) वही है (वेद यदि वा न वेद) वही जानता है या नहीं जानता है।

इन मंत्रों में सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व क्या था और क्या न था इसका वर्णन है। निम्न वस्तुओं का न होना बताया गया है:—

(१) सत् (२) असत् (३) रजः (४) व्योम (५) मृत्यु (६) अमृत (७) रात दिन या रात और दिन की पहचान करने वाला चिह्न।

अब देखिये। था क्या?—

(१) अवातम् एकम् अर्थात् प्राण रहित एक सत्ता। (२) स्वधया अर्थात् स्वधा के साथ। (३) तम। (४) प्रकेत या चिह्न रहित सलिल। (५) तुच्छ से ढका हुआ आभु। (६) काम। (७) रेत। (८) रेतोधाः। (९) महिमानः। (१०) प्रयतिः (स्वधा का वर्णन पहले आ चुका)।

सब से पहली बात यह कही गई है कि 'नासदासीत्' अर्थात् 'असत्' नहीं था। अर्थात् शून्य मात्र से सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। आजकल बहुत से लोग संसार को परिवर्त्तन-शील देखकर यह परिणाम निकालते हैं कि जिस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्त्तनशील होने के कारण अनित्य है उसी प्रकार इसका मूल उपादान कारण भी अनित्य ही होगा अतः अन्ततोगत्वा शून्य से संसार की उत्पत्ति हुई होगी। वेद मंत्र इस का खण्डन करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी भाव को इन शब्दों में प्रकाशित किया गया है :—

तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्विती-यम् । तस्मादसतः सज्जायेतेति कुतस्तु खलु सोम्यैवᳫं स्यादिति हो वाच । कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम् । (छान्दोग्य प्रपाठक २, खण्ड २, मंत्र १, २)

"कुछ लोग कहते हैं कि पहले शून्य ही था । शून्य के अति-रिक्त कुछ न था । इसलिये शून्य से सत उत्पन्न हुआ । परन्तु हे सोम ! ऐसा कैसे हो सकता है ? शून्य से सब कैसे उत्पन्न हो सकता है । इसलिये हे सोम्य ! पहले एक अद्वितीय सत् ही था ।"

इसी भाव को गीता में कहा है कि

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

अर्थात् न शून्य से कुछ उत्पन्न होता है और न किसी चीज़ से शून्य उत्पन्न होता है ।

दूसरी बात यह कही गई है कि 'नोसदासीत्' अर्थात् 'सत्' भी न था । यहाँ 'सत्' का अर्थ है व्यक्त संसार यद्यपि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व कुछ था अवश्य परन्तु जो कुछ था वह अव्यक्त था । इन्द्रियों से जानने योग्य अथवा अनुभव के योग्य न था और अनुभव का सम्भव भी कैसे होता ? क्योंकि आगे के मंत्र में कहा गया है :—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ॥

अर्थात् इन्द्रियां सृष्टि उत्पत्ति के पीछे हुईं इसलिये कौन जान सके कि किससे सृष्टि हुई । जब कोई जान नहीं सकता तो वह जो कुछ था उसका नाम 'असत्' अर्थात् अव्यक्त हुआ । इसलिये सत् अर्थात् व्यक्त पदार्थ न था इसीलिये जहां मन्त्र आया है ।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।

(ऋग्वेद मन्त्र १०. सू० ७२ मन्त्र २)

अर्थात् इन्द्रियों के पहले युग में असत् से सत् हुआ। इन्द्रियों के बनने से पूर्व जो कुछ अव्यक्त था इन्द्रियों के बनते ही व्यक्त हो गया। यहां 'सत्' का निषेध करने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि के पूर्व कोई अनादि पदार्थ ही न था। क्योंकि ब्रह्म को सत् तो अद्वैतवादी भी मानते हैं उसका निषेध कैसे हो सकता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि

नैवेह किंचनाग्र आसीत् (१।२।१)

अर्थात् पहले कुछ भी नहीं था। 'कुछ भी नहीं' से शून्य का तात्पर्य नहीं है क्योंकि उपनिषत्कार शून्य से सृष्टि नहीं मानते। 'कुछ नहीं था' से तात्पर्य दृश्य जगत् से है।

* रज और व्योम भी न थे। रज अर्थ है पृथ्वी आदि लोकों का और व्योम आकाश मंडल का। अर्थात् वह ब्रह्मांड जिसमें लोक लोकान्तर हैं। न थे यह स्पष्ट ही है।

न मृत्यु थी और न अमृत अर्थात् जीवन। जीवन और मृत्यु दोनों संसार के ही भाग हैं। जीवन न हो तो मृत्यु नहीं और मृत्यु न हो तो जीवन नहीं। अतः दोनों का निषेध है। रात-दिन सूर्य्य और पृथ्वी के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। 'प्रकाश' रात और दिन के मध्य को चिह्न अर्थात् प्रकेत है। अतः जब तक ब्रह्मांड न बने दिन रात कैसे बन सकते हैं?

यहां एक बात पर विचार करना चाहिये। पहले मन्त्र में दो प्रश्न किये गये हैं। (१) किसको कब कौन ढक रहा था? (२)

---

* अनेन चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डरूपेण निषिद्धं भवति—सायण।

गहन और गम्भीर अम्भ क्या था ? तीसरे मन्त्र में इन दोनों के उत्तर दिये गये हैं। पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'तम आसीत्त-मसामगूढम्' अर्थात् अंधेरे को अंधेरा ढके हुये था। अर्थात् घोर अन्धकार था। जो प्रकाश तथा प्रकाश द्वारा पहचान में आने वाली वस्तुयें हैं वह सब सृष्टि से सम्बन्ध रखती हैं सृष्टि के पूर्व यह सब नहीं थीं। प्रकाश न था। सूर्य्य, चन्द्र आदि न थे। यह सब कहां थे ? परमात्मा के गर्भ में थे। अर्थात् अव्यक्त थे व्यक्त न थे। इसी आशय को इस मन्त्र में कहा गया है :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

सदाधार पृथिवींद्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

अर्थात् सृष्टि से पहले यह पृथ्वी, यह सूर्य्य और यह लोग परमात्मा के गर्भ में थे। इसी लिये उसको हिरण्यगर्भ नाम से पुकारा गया है। "गर्भ" शब्द से 'अव्यक्त' दशा की ओर संकेत है। इसी प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि

तुच्छ्येनाभ्वपिहितम्।

'तुच्छ' कहते हैं छोटे को और आभु कहते हैं बड़े को या पोल को। अर्थात् छोटे से से छोटी वस्तु अर्थात परमाणुओं द्वारा समस्त पोल भरा हुआ था।

दूसरा प्रश्न था कि गहन और गम्भीर अम्भ क्या था ? अम्भ का अर्थ है सब में व्यापक या भरी हुई वस्तु *। प्रश्न का

---

* दुर्गाचार्य और देवराज युज्वा के निरुक्त भाष्य में 'अम्भ' शब्द पर यह टिप्पणी है :—

अम्भः। आप्ल व्याप्तौ '(स्वा० पं०)' उदके

तात्पर्य यह है कि जब कोई बनी हुई चीज़ न थी तो समस्त पोल में क्या भरा हुआ था ? इसका उत्तर यह कह दिया है कि

अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

सलिलं सलगतौ औणादिकः इलच् इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आः आसीत् । (सायण)

अर्थात् यह सब जगत् अपने कारण के साथ अविभाजित था । जैसे मिट्टी का ढेर घड़े, शकोरे आदि भिन्न २ वस्तुओं का उपादान है, परन्तु जिस समय तक वह मिट्टी का ढेर है उस समय तक घड़े आदि की पहचान नहीं हो सकती । इसी प्रकार यह एक 'अप्रकेत सलिल' अर्थात् परमाणुओं का समूह था जिसमें वस्तुओं की पहचान न थी । किसी २ मन्त्र में इसी को

'समुद्रे अर्णवः ।'

के नाम से भी पुकारा गया है ।

अब कहा है कि

आनीदवातं स्वधया तदेकम् ।

नुम्भौच (३०४, २०४) अत्रापो ह्रस्वोऽसुन्निति (३०४, २०२) च वर्त्तते ।

व्याप्नोति सर्वमम्भः । तथाचाथर्वणी श्रुतिः- 'सर्वमिदमम्भः' (अथ० ब्रा०)-इति, 'आपो वा इदं सर्वम् (अथ० सं०)—इत्यादिरनुवाकश्च । 'अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।

(ऋ० सं० ८, ७, १७, १)—इति निगमे ।

अर्थात् (तत् एकम्) वह एक ब्रह्म (अवातम्) विना प्राण वायु की सहायता के (स्वधया) स्वधा अर्थात् प्रकृति के साथ (आनीत्) था।

'स्वधा' का अर्थ प्रकृति है। इसी को 'सलिल' कहा गया है। 'स्वधा' शब्द पर निरुक्त भाषा में दुर्गाचार्य ने यह टिप्पणी दी है :—

स्वधा -स्वशब्द उपपदे 'डु धाञ् दानधारणयोः' (जु० ३०)–इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३,२,३)' स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः अयनं तस्य ताः। पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः

(मनु० अ० १ श्लो० १०)—इति

परमात्मा का अयन अर्थात् स्थान है अर्थात् प्रकृति में ईश्वर व्यापक है इसलिये प्रकृति को स्वधा कहा है। इस स्थान पर स्पष्ट है कि केवल ब्रह्म से ही सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। ब्रह्म सृष्टि का केवल निमित्त कारण है। उपादान नहीं। उपादान स्वधा या प्रधान या प्रकृति है जो ब्रह्म के साथ प्रलय अवस्था में भी थी।

चौथे मन्त्र में बताया गया है कि सृष्टि से पूर्व मन का बीज काम था। यह काम सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा थी। इसी का भाष्यरूप नीचे के उपनिषद् वाक्यों में पाया जाता है :—

(१) **तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत।** (छान्दो० ६। २। ३)

(२) **स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।**

(ऐत० १। १। १)

(३) स ईक्षां चक्रे । स प्राणमसृजत ।

(प्रश्न० ६ । ३)

इसी 'इच्छा' या 'कामना' द्वारा बुद्धिमानों ने

'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'

'असत्' अर्थात् अव्यक्त में सत्' अर्थात् 'व्यक्त' सृष्टि के सम्बन्ध को पाया। तात्पर्य यह है कि अव्यक्त से व्यक्त होने की आवश्यकता क्यों पड़ी? सत् और असत् का मेल किस स्थान पर था? बनने से पूर्व घड़ा मिट्टी में नहीं है। अर्थात् मिट्टी में घड़े का अभाव है। या यों कहना चाहिये कि मिट्टी में घड़ा अव्यक्त है। 'घड़ा' बनने और न बनने के बीच में एक अवस्था है जब घड़ा मिट्टी से बना तो नहीं है परन्तु कुम्हार के मन में अवश्य बन गया है। कुम्हार के मन में घड़े का बीज उत्पन्न हो चुका। उसने अपने मन में घड़ा बना लिया। यह मन में घड़ा बनने की अवस्था ही असत् में सत् का सम्बन्ध है। वेद का यह मंत्र सत्कार्य्यवादियों और असत् कार्य्यवादियों के व्यर्थ झमेलों को शान्त करता है। कारण में कार्य्य है भी और नहीं भी है। एक आशय से है और एक आशय से नहीं।

आगे चल कर बताया है कि प्रलय अवस्था में न केवल ब्रह्म और स्वधा अर्थात् प्रकृति ही थे किन्तु रेतोधा और महिमान भी थे।

'रेतोधा' का क्या अर्थ है? इससे ब्रह्म से तात्पर्य नहीं हैं। प्रथम तो रेतोधा बहुवचन है। दूसरे यह कि यदि सृष्टि के बीज को ब्रह्म में मना जाय तो ब्रह्म निर्विकार नहीं रहता। प्रश्न यह है कि ब्रह्म सृष्टि को क्यों बनाता है अथवा क्यों बनाने की इच्छा करता है? 'स ईक्षां चक्रे' अर्थात् उसने इच्छा की। क्यों? क्या अपने लिये? यदि अपने सिवाय और कोई चेतन

या इच्छा करने वाली वस्तु थी ही नहीं तो उसने अपने ही लिये सृष्टि बनाने की इच्छा की होगी। यदि स्वयं अपने लिये इच्छा की तो विकारी हो गया। यदि कहो कि

लोकवत्तु लीला कैवल्यम्

जैसे बच्चे खेल करते हैं ऐसे खेल किया। तो बच्चों को भी खेल की जरूरत पड़ती है। ब्रह्म बच्चों के समान खिलाड़ी नहीं है। इस सूत्र में केवल थकावट या परिश्रम का अभाव दिखाया गया है।

अच्छा तो 'रेतोधा' कौन हैं ?

सायण ने यह अर्थ किया है :—

रेतसो बीज भूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन्

यहां कर्म का नाम रेत है क्योंकि सृष्टि कर्म के ही वशीभूत है। किन्हीं जीवों के कर्म करने, किन्हीं के भोग करने और किन्हीं के कर्म करने और भोग करने दोनों के लिये सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसलिये इस कर्म अर्थात् रेत को धारण करने वालों का नाम जीव है। यह अनन्त हैं और प्रलय अवस्था में भी रहते हैं।

मेरे विचार में 'महिमान' वह मुक्त जीव हैं जिनके कर्म क्षीण हो चुके हैं और जिनके भोग के लिये सृष्टि की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं के विषय में उपनिषद् कहती है :—

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' अर्थात् नीचे स्वधा और ऊपर प्रयतिः कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रयति' अर्थात् प्रयत्न करने वाली शक्ति का उपादान कारण की अपेक्षा महत्व

दिखाया गया है। शेष मन्त्रों में प्रलय अवस्था का अज्ञात रूप दिखाया गया है। उस अवस्था का अधिक वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता और न हम उसका इस समय अनुभव ही कर सकते हैं। जिस प्रकार जागृति में सुषुप्ति का निश्चित ज्ञान नहीं होता। केवल इतना ही जानते हैं कि आनन्द से सोये। इसी प्रकार प्रलय अवस्था का पूर्ण ज्ञान हमको प्राप्त नहीं हो सकता। सातवें मन्त्र में बताया है कि इसका पूर्ण ज्ञान तो ईश्वर को ही है। अर्थात वह प्रकृति तथा जीवों में किस प्रकार व्यापक है। प्रकृति की प्रलय में क्या अवस्था होती है, ईश्वर उसको किस प्रकार धारण करता है, इन सब का ज्ञान जीव को हो नहीं सकता अतः यही कह दिया कि ईश्वर ही जानता है।

इन मन्त्रों से कुछ लोग अद्वैतवाद सिद्ध कहते हैं हमारी सम्मति में यह उनकी खींचातानी है। इसके लिये हमारे पास यह हेतु है कि जिस विवर्तवाद पर शांकरीय अद्वैतवाद या मायावाद का भवन स्थित है उसका इन मन्त्रों में लेशमात्र भी नहीं है। जिन रेतोधा या जीवों का इन मन्त्रों में वर्णन है वह वास्तविक ब्रह्म और अविद्या वश अपने को जीव समझने वाले जोव नहीं हैं किन्तु वास्तविक जीव हैं जिनके भोग और कर्म का क्षेत्र तैय्यार करने के लिये सृष्टि बनाई गई है। इसी सृष्टि के लिये कहा गया है कि

तपसः महिनाऽजायत।

अर्थात् तप की महिमा के उत्पन्न हुई। या

प्रयतिः परस्तात्।

अर्थात प्रयत्न करने वाली शक्ति ऊपर थी। अविद्या वश ब्रह्म को जीव मानने के लिये तप या परिश्रम या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई मूर्ख भिखारी अविद्या या मूर्खता

वश अपने को राजा समझ सकता है। उसके लिये यह नहीं कहेंगे कि वह "तप द्वारा" राजा बन गया। या तप द्वारा उसने राज्य की स्थापना की। कुछ लोगों ने मन्त्र का केवल एक अंश लेकर अद्वैतवाद सिद्ध किया है। अर्थात्

तस्मात् ह अन्यत् न परः किंचन आस।

यदि इसका अर्थ यह लिया जाय कि ब्रह्म के सिवाय और कुछ न था तो 'रेतोधा आसन्' इत्यादि का क्या अर्थ करोगे? वस्तुतः इसका सीधा अर्थ यह है कि "उस ब्रह्म से ऊपर और कोई वस्तु न थी।" अर्थात् ब्रह्म सब का अध्यक्ष" था। "अध्यक्ष" शब्द सातवें मन्त्र में आया भी है। यदि विवर्त्त या भ्रम सृष्टि का कारण होता तो ब्रह्म को अध्यक्ष (देखने वाला) कदापि न कहते। उसको तो न देखने वाला, अज्ञानी या भ्रम में पड़ा हुआ कहना चाहिये था। यदि किसी को किसी का मिथ्या ज्ञान हो तो उसे उसका अध्यक्ष कभी न कहेंगे। यदि मिथ्या ज्ञानियों को 'अध्याक्ष' कहा जाय तो तत्त्वज्ञानियों को किस नाम से पुकारेंगे? ब्रह्म के इस "अध्यक्षत्त्व" या "सर्वोपरित्त्व" या "परत्त्व" के कई मंत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से दर्शाया गया है।

ग्रीफिथ ने स्वाधया का अर्थ "with its own nature" अर्थात्'अपने स्वभाव के साथ' किया है। यह अर्थ भी हम को जंचता नहीं क्योंकि 'स्वभाव' किसी वस्तु के अधीन रहता है वह स्वयं अपने को धारण नहीं करता अतः उसको 'स्वधा' नहीं कह सकते। दूसरे प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के साथ रहती है। यह तो स्वयं सिद्ध बात है। इसके बताने की आवश्यकता न थी। यहाँ 'स्वधा' का अर्थ प्रकृति ही है जो संसार का उपादान कारण है।

अब हम और मंत्र देते हैं जिनमें जीव और ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट रूप से दिखाई गई है :—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पत्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। (ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १६४ मंत्र ३०)

ईश्वर कहता है कि— **पस्त्यानाम् मध्ये ध्रुवं शये**— शरीरों के बीच में मैं निश्चल व्यापक हूँ।

तुरगातु अनत् जीवम् एजत्—गति को बढ़ाता हुआ। और जीवों को कंपाता हुआ। अर्थात् जीवों को गति देता हुआ।

मृतस्य अमर्त्यः स्वाधाभिः चरति—शरीरधारी का अमर जीव प्रकृत के साथ चलता है।

मर्त्येन सयोनिः—जड़ प्रकृति के साथ योनिवाला अर्थात् शरीर धारण करने वाला होता है।

यहां यह नहीं कहा गया है कि मैं ईश्वर अविद्यावश अपने को जीव मान लेता हूँ। किन्तु इसमें यह कहा गया है कि जीव में व्यापक हूँ। और जीव प्रकृति के संयोग से सयोनि अर्थात् शरीर वाला होता है।

यथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजुर्वेद अ० ४०, मं० ८)

ईश्वर ने (शाश्वतीभ्यः) सदा रहने वाली प्रजाओं के लिये (याथातथ्यतः) ठीक ठीक (अर्थात्) पदार्थों को (व्यदधात्) बनाया।

इस मन्त्र में प्रजा को 'शास्वती' अर्थात् हमेशा रहने वाली कहा है। यह 'प्रजा' कौन है ? यदि ब्रह्म ही अविद्यावश जीव

होता तो उसको 'शाश्वती' कभी नहीं कह सकते थे। यहां 'प्रजा' से 'जीव' और 'अर्थों' से प्रकृति-जन्य पदार्थों से तात्पर्य है।

जिस प्रकार इन वेद मन्त्रों में ब्रह्म को जीव में व्यापक बताया गया है उसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है।

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद् वा श्यामकाद् वा श्यामकतण्डुलाद् वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज् ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।

छान्दोग्य तृतीय प्रपाठक, खंड १४ श्लो० ३)

वह आत्मा अर्थात् ब्रह्म हृदय के भीतर व्यापक है। वह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है।

इस श्रुति में ब्रह्म का अविद्यावश अपने को जीव मानना नहीं बताया गया है। जीव और ब्रह्म में वह सम्बन्ध नहीं है जो रस्सी और सांप में है। किन्तु व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है। एक विचित्र बात यह है कि रस्सी में सांप, सीप में चांदी या मृगतृष्णिका में जल के दृष्टान्त शांकरमतानुयायों अद्वैतवादियों के अपने हैं। इनका उपनिषदों अथवा अन्य आर्षग्रन्थों में नाम तक नहीं है।

अब हम छान्दोग्य उपनिषद् के उस स्थल को लेते हैं जिस पर अद्वैतवाद की अधारशिला स्थित समझी जाती है। वह है उद्दालक और श्वेतकेतु का सम्वाद। वह छान्दोग्य के छठे प्रपाठक में आरम्भ से अन्त तक भरा हुआ है। इसमें कई स्थान पर "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" शब्द आया है जिसका अर्थ यह

निकाला जाता है कि "हे श्वेतकेतु तू तत् अर्थात् ब्रह्म है।" परन्तु यदि हम छठे प्रपाठक को सम्पूर्णतया पढ़ते हैं और इस के सोलहों खंडों का परस्पर सम्बन्ध निकालते हैं तो हमारी समझ में उसका वह अर्थ नहीं निकलता जो केवल एक या दो पंक्तियों के पढ़ने से निकलता है।

उदाहरण के लिये पहले खण्ड को लीजिये। इसमें श्वेतकेतु के पिता ने श्वेतकेतु से यह पूछा था कि

तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् इति।

क्या गुरु से तुम को वह आदेश भी मिला है जिससे न सुना सुना हो जाता है, न समझा हुआ समझ में आजाता है और न जाना हुआ जाना जाता है?

यह प्रश्न गूढ़ था। श्वेतकेतु की समझ में नहीं आया। वह इसका उत्तर क्या देता? अतः उसने प्रश्न को स्पष्ट करने के लिये कहा:—

कथं नु भगवः स आदेशो भवति।

हे भगवन् आपका किस आदेश से तात्पर्य्य है?

तब पिता ने अपने प्रश्न को स्पष्ट किया:—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

यहाँ पिता उत्तर नहीं देता किन्तु प्रश्न को ही स्पष्ट करता है। वह कहता है कि

"हे सोम्य! जैसे एक मिट्टी के ढेले से सब मिट्टी की बनी चीज़ों की असलियत मालूम हो जाती है, मिट्टी ही सत्य है

और वाणी से धारण हुआ विकार नाम वाला है।" उसी प्रकार मैं जानना चाहता हूँ कि क्या तुमको तुम्हारे गुरु ने वस्तुओं की असलियत के बारे में भी कुछ बतलाया है।

यहां उद्दालक ने अपने प्रश्न को स्पष्ट करने के लिये लोहे निहरने आदि के कई उदाहरण दिये हैं। प्रतीत होता है कि श्वेतकेतु को गुरु ने जगत् का ऊपरी ज्ञान तो दिया था परन्तु दर्शन अर्थात् मूलतत्व के विषय में कुछ न बताया था। इसलिये श्वेतकेतु ने उत्तर दिया।

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति।

कि मेरे गुरु इसको जानते न थे। अगर जानते होते तो मुझको अवश्य बताते। इसलिये

भगवा ꣳ स्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति।

श्रीमान् आप ही बताने की कृपा करें।

इस पहले खण्ड में प्रश्न रूप से 'सत्य' शब्द का अर्थ बताया है। घड़े, शरावे, आदि का उपादान मिट्टी है। यह मिट्टी ही सत्य नाम से पुकारी गई है। इसी प्रकार कुछ पदार्थों का उपादान लोहा है। इसलिये उनका 'सत्य' लोहा है। इससे स्पष्ट है कि 'सत्य' शब्द यहां 'कारण' अर्थ में आया है।

दूसरे खण्ड में उद्दालक इस प्रश्न का उत्तर देता है:—

(१) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्

(२) कथमसतः सज् जायेत ?

(३) सत्वेव सोम्येदमग्रं आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

पहले एक अद्वितीय सत् ही था। क्योंकि असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता।

यहां सब से पहली विचारणीय बात यह है कि जो अद्वैत-वादी जगत् को मिथ्या मानते हैं उनके मत का इस वाक्य से खण्डन होता है। क्योंकि कहा है।

कथमसतः सज् जायेत

'असत्' से 'सत्' कैसे उत्पन्न होता ?

यहाँ सिद्ध यह करना था कि कि इस जगत् का मूल कारण सत् था इसका हेतु देते हैं चूँकि जगत् सत्य है और सत् असत् से उत्पन्न नहीं होता अतः इस सत् की उत्पत्ति सत् से ही होनी चाहिये। जैसे घड़े में मिट्टी के गुण हैं। मिट्टी के गुण वाले पदार्थ सोने से उत्पन्न नहीं हो सकते अतः घड़े का 'सत्' या मूल कारण मिट्टी को ही मानना पड़ेगा। यदि जगत् मिथ्या होता तो इसका मूल कारण भी मिथ्या होना चाहिये था। उस समय यह युक्ति दी जाती कि

कथं सतोऽसज् जायेत।

अर्थात् सत् से असत् उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी लिये मिथ्या जगत् का मूल कारण 'सत्' नहीं हो सकता। उद्दालक की इस एक युक्ति से ही शांकर और गौड़पादीय 'जगन्मिथ्यात्व' धम से गिर पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' क्यों कहा ? शायद इससे यह तात्पर्य हो कि इन सब का उपादान एक ब्रह्म ही है और इससे 'कारणैकवाद' सिद्ध हो जाय। परन्तु हमारी यह राय नहीं है। लोहे और मिट्टी का दृष्टान्त देकर उद्दालक यह दिखलाना चाहता है कि जिस प्रकार घड़े और शरावे आदि भिन्न भिन्न पदार्थों का मूल कारण "एक ही"

अर्थात् 'एक सा' अथवा 'एक जातीय' है अर्थात् उसमें विजातीयत्व नहीं है। इसी प्रकार समस्त संसार का मूल कारण भी 'एक अद्वितीय' अर्थात् विजातीयता रहित है। वस्तुतः जिस मिट्टी से घड़ा बना उसी से शराबा नहीं बना। जिस मिट्टी से एक घड़ा बना उसी से दूसरा घड़ा नहीं बना। उन दोनों का मूल कारण दो मिट्टियाँ हैं। परन्तु वह विजातीय नहीं हैं। इसलिये उनको अद्वितीय कहा है। एक घड़े को फोड़ कर उसकी मिट्टी की जांच करने से दूसरे घड़े के मूल कारण मिट्टी का भी हाल समझ में आ सकता है। कल्पना कीजिये कि मेरे पास सोने के चार कड़े हैं। जांच करने वाला एक कड़े को गला कर सोने की जांच करता है। मैं कहता हूँ, "वह चारों **एक ही सोने के** बने हुये हैं इस लिये चारों के गलाने की ज़रूरत नहीं। एक को परख लो।" यहाँ यह तात्पर्य्य नहीं कि जिस सोने से एक कड़ा बना उसी से चारों बनें। यह कैसे हो सकता था? सब का सोना अलग अलग था। परन्तु एक सा था। इसी लिये अविजातीय था। एक ही था। अद्वितीय ही था। क्योंकि दो तरह के सोने न थे।

वेदान्त के दूसरे अध्याय पाद १, का १४ वां सूत्र

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः

भी इसी आशय का है। 'अनन्यत्व' से 'अविजातीयत्व' का अर्थ लिया गया है।

परन्तु यहाँ न तो ब्रह्म को उपादान माना और न यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य उपादान का खण्डन है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर देना आवश्यक है। शायद कोई कहे कि इस 'एक अद्वितीय' से ब्रह्म ही तात्पर्य्य है क्योंकि

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय

'उसने इच्छा की कि बहुत हो जाऊँ' ऐसा कहा है' यदि अचेतन उपादान का तात्पर्य्य होता तो 'इच्छा' क्यों की जाती परन्तु एक पंक्ति आगे पढ़ने से ही इसकी समालोचना हो जाती हैं। क्योंकि आगे यह भी तो कहा है कि

तत् तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय।

ता आप ऐक्षन्त बह्वः स्याम प्रजायेम॥

अर्थात् अग्नि ने इच्छा की कि बहुत हो जाऊँ। जल ने इच्छा की कि बहुत हो जाऊँ इत्यादि इत्यादि। उपनिषदों में काव्यरस प्रधान है अतः इस प्रकार के वाक्य बहुत आते हैं।

तीसरे खण्ड के नीचे के वाक्य हमारे अर्थ को और स्पष्ट कर देते हैं :—

सेयं देवतैक्षत — हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। २। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाँ करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्। ३।

उस देव ने इच्छा की कि **इस जीव में प्रवेश** करके मैं इन तीन देवताओं अर्थात् तेज, जल और पृथ्वी में से एक एक को तीन तीन कर दूँ। और उसने ऐसा ही किया। अर्थात् ब्रह्म ने जीव और प्रकृति से सृष्टि उत्पन्न की। इन एक एक को तीन तीन कैसे किया इसका आगे चौथे पांचवें और छठे खण्डों में विधान है और हमारे विषय से बाहर है।

अब हम 'तत्वमसि' वाक्य की मीमांसा करते हैं। यह वाक्य आठवें खण्ड से लेकर निरन्तर १६वें खण्ड तक आया है।

आंठवें खण्ड का पाठ इस प्रकार है :—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनःप्राणे। प्राणस्तेजसि। तेजः परस्यां देवतायाम्। स य एषोऽणिम। ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेत केतो इति।

हे सोम्य! इस पुरुष के चले जाने पर वाणी मन में लय हो जाती है। मन प्राण में, प्राण अग्नि में, अग्नि दूसरे देवता में। वह यह अणु जीव है, अर्थात् मरने पर शरीर के भिन्न भिन्न अवयव मूल तत्त्वों में लय हो जाते हैं। अणु जीव रह जाता है, (इदंसर्व) यह सब शरीर (ऐतदात्म्यम्) इस आत्मा वाला है। यही सच है। हे श्वेतकेतु! वह यह आत्मा तू है।

यहाँ उद्दालक श्वेतकेतु से कहते हैं कि हे श्वेतकेतु तू! वह आत्मा (अणु) है जिसके सहारे वह तेरा शरीर कार्य्य करता है। इस शरीर की गति का सत्य अर्थात् मूल कारण तूही है। तेरे जाने पर यह शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है।

नवें खण्ड में बताया है कि व्याघ्र, सिंह आदि भिन्न भिन्न पशु पक्षियों में भी वही जीव है जो तुझमें है अर्थात् जो आत्मा सिंह आदि के शरीर को धारण करके काम करता है, हे श्वेतकेतु वही आत्मा तू है।

दसवें खण्ड में लिखा है कि जिस प्रकार नदियाँ इधर उधर से आकर समुद्र में गिरती हैं और यह नहीं जानतीं कि हम कहां आई हैं। इसी प्रकार

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा

पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति । तदा भवन्ति । स य एषोऽणिमै तदात्म्यमिदꣳ-सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ।

यह सब पशु पक्षी मनुष्य आदि सभी प्रजा **सत् अर्थात् आत्मा से** आकर यही नहीं जानते कि हम **आत्मा से आये हैं** । अर्थात् यद्यपि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी वस्तुतः आत्मा (जीव आत्मा) हैं और शरीरों के भिन्न हैं । यद्यपि इन भिन्न योनियों का कारण आत्माकृत पुण्य-पाप हैं तथापि इनको यह अनुभव नहीं होता कि हम वस्तुतः आत्मा हैं । तत्व की बात यह है कि इन सब में

स य एषोऽणिमा

जीव (अणु) है । और हे श्वेतकेतु वही जीवात्मा तू है ।

ग्यारहवें खण्ड में तो स्पष्ट ही दिया है कि

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति । स य एषोऽणिमा इत्यादि

अर्था जीव युक्त शरीर मरता है । जीव नहीं मरता । जीवात्मा अमर है । वही आत्मा तू है हे श्वेतकेतु !

बारहवें खण्ड में न्यग्रोध अर्था वट का उदाहरण देकर बताया है कि जीवात्मा यद्यपि सूक्ष्म है तो भी समस्त शरीर को चलाता है । जैसे वट से एक छोटे से बीज से बड़ा वट वृक्ष हो जाता है उसी प्रकार वीर्य के एक सूक्ष्म कण से जिसमें आत्मा व्यापक है बड़ा शरीर हो जाता है । जो आत्मा एक बिन्दु से शरीर को बढ़ाता है वही श्वेतकेतु तू है ।

तेरहवें खंड में नमक का उदाहरण दिया है। नमक जल में मिलकर जल को नमकीन कर देता है परन्तु अलग दीख नहीं पड़ता। इसी प्रकार आत्मा शरीर में प्रवेश करके शरीर को चलाता है परन्तु दीखता नहीं। जिस प्रकार जल को चखने वाले कह देते हैं कि इसमें नमक है इसी प्रकार बुद्धिमान लोग जान लेते हैं कि इस शरीर को चलाने वाला आत्मा है। वही आत्मा, हे श्वेतकेतु तू है।

चौदहवें खंड में आचार्य की महिमा बताई गई है। जिस प्रकार आँख बांधा हुआ पुरुष जंगल में छोड़ दिया जाय तो वह पूछ पूछ कर ही अपने नगर तक पहुँच सकता है इसी प्रकार जो पुरुष वासनाओं के बन्धन में है वह अपने आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता। केवल सच्चे गुरु की सहायता से ही उसको आत्मज्ञान हो सकता है।

पंद्रहवें खंड में फिर आठवें खंड की मृत्यु की बात दुहराई गई है। और सोलहवें खण्ड में कोई विशेष बात नहीं है।

इस प्रकार इस समस्त प्रपाठक के पढ़ने से इतनी बातें स्पष्ट होती हैं :—

(१) यह जग मिथ्या नहीं है किन्तु सत है।

(२) इसकी उत्पत्ति सत् से हुई है।

(३) यह शरीर केवल जड़ नहीं किन्तु 'आत्म्यम्' है अर्थात् इसमें आत्मा काम कर रहा है।

(४) जीव और ब्रह्म की अभिन्नता का प्रतिपादन इससे स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः इसमें 'ब्रह्म' शब्द आया ही नहीं। 'आत्मा' शब्द आया है और वह जिन उदाहरणों से संयुक्त हैं उनसे विदित होता है कि 'ब्रह्म' से नहीं किन्तु शरीरधारी 'जीवात्मा' से तात्पर्य है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'तत् त्वमसि' वाक्य में 'तत' शब्द ब्रह्म का बोधक है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि 'श्वेतकेतु' तू ब्रह्म है। परन्तु इस प्रश्न का हम यह उत्तर देते हैं कि तत शब्द सभी स्थानों पर ब्रह्म का बोधक नहीं होता। इस स्थान पर 'सत्य' शब्द नपुंसक लिङ्ग होने से उसके लिये 'तत् सत्यं' ऐसा आया है। उसी सत्य के लिये फिर तत शब्द लाये हैं अर्था जो सत्य पदार्थ शरीर में है अर्थात् जिसकी प्रधानता से शरीर कार्य्य करता है वही पदार्थ तू है। तू शरीर नहीं किन्तु आत्मा है। यदि 'त शब्द यहां ब्रह्म का बोधक होता तो प्रसङ्ग भी ब्रह्म का होना चाहिये था। जब शरीर से जीवात्मा के निकलने का प्रसङ्ग है तो 'ब्रह्म' बीच में कहां से आ कूदेगा। अर्थ लगाने के लिये केवल 'कोष' का नहीं किन्तु प्रसङ्ग का भी तो कुछ ध्यान रखना ही पड़ेगा।

कुछ लोगों का विचार है कि ईशोपनिषत् में तो अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन है। हम ऐसे महानुभावों से सहमत नहीं हैं। पहला ही मन्त्र स्पष्ट कहता है कि

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(यजु० अ० ४०। मन्त्र १)

अर्थात् इस सब गतिमान जगत् में ईश अर्था ब्रह्म व्यापक है। यहां सृष्टि और ईश्वर का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। इसी प्रकार

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु ४०। ८)

में भी वही भाव है।

इसके छठे मन्त्र में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

अर्थात् जो सब भूतों को ब्रह्म में और ब्रह्म को सब भूतों में व्यापक देखता है उसको कभी कोई सन्देह नहीं सताता ।

एक महाशय ने हमको लिखा है कि इसका अगला मन्त्र अवश्य ही जीव-ब्रह्म की एकता का बोधका है । इस विचार के विरुद्ध मन्त्र और उसका अर्थ देना ही पर्य्याप्त होगा :—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

(यजु । ४० । ७)

यहाँ 'एकत्व' शब्द देखकर ही लोग कल्पना कर लेते हैं । वह यह नहीं विचारते कि भिन्न २ वस्तुओं की समानता को प्रकट करने के लिये भी एकत्व शब्द आता है । हम ऊपर दिखला आये हैं कि आगे पीछे के मन्त्रों को देखने से ब्रह्म की व्यापकता का प्रसंग ही प्रतीत होता है । महीधर आचार्य ने भी यद्यपि शंकर मत के आधार पर ही इन मन्त्रों का अर्थ करने की कोशिश की है तो भी उनको लिखना पड़ा कि

तत्र तस्यामवस्थायामेकत्वं विशुद्धं गगनोपममात्मैकत्वं पश्यतः जानतः को मोहः कः शोकश्च ॥

अर्थात् जिस प्रकार आकाश सब वस्तुओं में व्यापक होने से उन सब का एकत्व है उसी प्रकार ब्रह्म के व्यापक होने से भी सब का एकत्व है ।

जिस प्रकार पृथ्वी, जल, आदि आकाश नहीं हो जाते इसी प्रकार सब भूत भी ब्रह्म नहीं हो सकते ।

एक महाशय का कहना है कि वेदों में द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों हैं और वह भिन्न २ श्रेणी के पुरुषों के लिये हैं, तत्वतः अद्वैतवाद ही ठीक है द्वैतवाद का उपदेश केवल नीचे दर्जे के पुरुषों के लिये है। यह सम्मति उन लोगों की है जो पहले अद्वैतवाद को ठीक समझ कर द्वैत-सम्बन्धी मन्त्रों के परस्पर विरोध को मिटाना चाहते हैं। वस्तुतः ऐसी कल्पना के लिये वेद मन्त्रों में कहीं एक भी सङ्केत नहीं है; न अन्य वैदिक ग्रन्थों में ही। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अद्वैतवाद की झलक दिखाने वाले मन्त्र बहुत कम हैं और प्रसङ्गवित् उनका द्वैत-परक अर्थ कर सकते हैं। यदि एक टुकड़े को लेकर अर्थ किया जाय तो अवश्य कहीं २ अद्वैतवाद झलकता है परन्तु एक टुकड़े को प्रसङ्ग से अलग कर लेना तो बुद्धिमानों का काम नहीं। हम इस उदाहरण में यजु० अध्याय ४० का १७ वां मन्त्र देते हैं :—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।

इसके अन्तिम पद का यह अर्थ है कि "यह जो आदित्य में पुरुष है सो मैं हूँ"। 'अहम्' शब्द को देख कर अद्वैतवादी तो फूल जायंगे और कह उठेंगे कि देखो "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा स्पष्ट आ गया। परन्तु विचार कीजिये और मन्त्र के पहले टुकड़े पर भी ध्यान दीजिये। पहले टुकड़े में दिखाया है कि "चमकीले पदार्थों से सत्य का मुँह छिपा है।" अर्थात् मनुष्य सूर्य्य जैसे चमकीले पदार्थों को देख कर उन पर मुग्ध हो जाता है और उसमें व्यापक आत्मा को भूल जाता है। इस लिये ईश्वर वेदों में उपदेश देते हैं कि

"सूर्य्य जैसे चमकीले पदार्थों को देखकर भूल न जाओ। जो चेतन शक्ति सूर्य्य को चला रही है वह मैं ही हूँ'। यहां

'मैं' ब्रह्म के लिये आया है 'जीव' के लिये नहीं। 'अहं' शब्द तो वेदों में कई स्थलों पर आया है जैसे

अहं ददामि गर्भेषु भोजनम्।

अर्थात् मैं गर्भ में भी भोजन देता हूँ। यहां कौन बुद्धिमान् पुरुष है जो 'अहं' से जीव का अर्थ समझ सके।

अब हम मुण्डकोपनिषत् का एक वाक्य उद्धृत करते हैं जिसको अद्वैतवाद का निस्सन्देह प्रमाण समझा जाता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डक ३।२।९)

अर्थात् जो उस पर ब्रह्म को जानता है वह वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् द्वैत नष्ट हो गया। अद्वैत रह गया।

परन्तु हम यहां भी सहमत होने के कारण नहीं देखते। जिस प्रकार छान्दोग्य के 'तत्त्वमसि' को प्रसंग के साथ पढ़ने से कुछ का कुछ अर्थ निकला इसी प्रकार यहाँ भी प्रसंग के साथ पढ़ने से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। हम यहां समस्त प्रकरण देते हैं :—

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितर्थाः
संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्त काले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

गताः कलाः पञ्चदशः प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति **नास्याब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥**

(मुण्डक ३ । २ । ६, ७, ८, ९,)

जो यति लोग वेदान्त के ज्ञान द्वारा निश्चित अर्थ वाले अर्थात् संशय रहित हो गये हैं और वैराग्य-योग द्वारा जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे सब अमर होकर परान्तकाल तक ब्रह्म लोक में मुक्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

पंद्रह कलायें अपने कारण में तथा सब इन्द्रियाँ अपने अपने कारण में लय हो जाती हैं। कर्म और विज्ञानमय आत्मा यह सब एक ब्रह्म में (एकीभवन्ति) एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

जैसे बहती हुई नदियां समुद्र में जाकर नाम रूप को छोड़ देती हैं और उसमें लय हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप को छोड़ कर सब बड़े दिव्य पुरुष अर्थात् ब्रह्म में लय हो जाता है ॥ ८ ॥

जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म एव होता और उसके कुल में कोई अब्रह्मवित अर्थात ईश्वर को न जानने वाला पैदा नहीं होता। शोक को पार कर लेता है। पाप को पार कर लेता है। संशय रूपी गूढ़ गांठों से छूट कर अमृत हो जाता है ॥ ९ ॥

यहां प्रश्न उठता है कि इन श्रुतियों में क्या अद्वैतवाद की ओर संकेत है। पहली श्रुति में कहा गया है कि वह पुरुष मुक्त होते हैं जिनको वेदान्त का ज्ञान है तथा योग द्वारा जिन्होंने अन्तःकरण शुद्ध किया है। अर्थात् ज्ञान तथा योग दोनों की आवश्यकता है।

दूसरी श्रुति में वह दिखाया गया है कि मृत्यु के पश्चा मुक्त पुरुष का कौन २ भाग किस किस में मिलता है। पुरुष के दो भाग हैं। शरीर जिसमें इन्द्रियाँ तथा प्राण आदि हैं। इनके लिये कहा है कि यह अपने अपने देवता में लय हो जाता हैं। वेद में कहा है कि

सूर्यं चक्षुर्गच्छति इत्यादि।

अर्थात् आँख का अंश सूर्य्य में मिल जाता है और अन्य इन्द्रियों का उन उनके भूतों में। अब रह गया कर्म और विज्ञान मय आत्मा अर्थात् आत्मा और उसकी भिन्न २ प्रवृत्तियाँ। यह सब ब्रह्म में (**एकीभवन्ति**) एक हो जाती है। जो मुक्त आत्मा नहीं हैं उनकी इन्द्रियाँ भी अपने २ भूत में मिलती हैं परन्तु वृत्तियाँ एक नहीं होतीं। 'एकीभवन्ति' का अर्थ है केन्द्रीभूत होना। विक्षिप्त न होना। जब साधारण पुरुष मरता है तो उसकी वृत्तियाँ बिखरी होती हैं। केन्द्रीभूत नहीं होती है। परन्तु मुक्त पुरुष की वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती है। वह ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी वस्तु का चिन्तमन करता ही नहीं। "एकीभवन्ति" में च्वीप्रत्यय है। 'अभूत तद्भावेच्वी' अर्थात् जो न हो और हो जाय वहाँ 'च्वी' का प्रयोग होता है। अर्थात् अनेक वस्तुयें केन्द्रीभूत होकर एक नहीं किन्तु एक सी हो जाती हैं।

यदि शांकर मायावाद ठीक होता तो इन्द्रियों के अपने

अपने भूत में लय होने की ओर संकेत न होता क्योंकि मायावाद में ब्रह्म के सिवाय अन्य सब छलावा मात्र या भ्रम मात्र है। यदि बर्फ़ असली हो तो कह सकते हैं कि गर्मी पड़ते ही यह पिघल कर अपने तत्व अर्थात् पानी में परिवर्तित हो गई। परन्तु यदि झूठी बर्फ़ हो तो ज्ञान होने पर वह बर्फ़ पानी के रूप में दृष्टिगोचर न होगी किन्तु सर्वथा लुप्त हो जायगी।

तीसरी श्रुति और भी स्पष्ट है। नदियाँ पहले से समुद्र नहीं होतीं किन्तु समुद्र में मिल जाती हैं और मिल कर अपना नाम तथा रूप छोड़ देती हैं। गङ्गा का जल बङ्गाल की खाड़ी के जल से अलग था। यह जल उस जल में मिल गया। अब कोई इस को गङ्गा नहीं कहता। परतु वह जल क्या हुआ? क्या अब बंगाल के खाल में उतना ही जल है जितना पहले था। नहीं, अब अधिक हो गया। केवल नाम और रूप के त्याग की ओर संकेत है। इसी प्रकार एक यति मरता है। पहले उसका नाम था, रूप था। यह दोनों नहीं रहे, अब वह शुद्ध आत्मा है और ब्रह्म में लीन है। यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म हो गया। ब्रह्म तो केवल 'है;, हो जाने वाली वस्तु नहीं है। 'हो जाती' वह वस्तु है जो परिवर्तनशील हो।

इसी लिये चौथी श्रुति में कहा कि ब्रह्म को जानने वाला "ब्रह्मएव" हो जाता है। यहां "एव" का अर्थ 'इव' है। अर्थात् ब्रह्म के समान हो जाता है। 'समान' या 'इव' का प्रयोग उस समय करते हैं जब एक वस्तु कुछ कुछ दूसरे के समान होती है। जैसे यह पुरुष सिंह के समान है। अर्थात् किसी किसी अंश में, सब अंशों में नहीं। जिस प्रकार तिल्ली के तेल को चमेली में बसा कर चमेली का तेल बनाते हैं इसी प्रकार जीव ब्रह्म में बस कर ब्रह्म के समान हो जाता है। और न केवल वही मुक्त होता है अपितु उसका प्रभाव उसकी

संतति पर भी पड़ता है और उसके कुल में कोई नास्तिक उत्पन्न नहीं होता। "केवल मायावाद" में मुक्ति के पश्चात् कुल तो शेष रहता ही नहीं फिर कुल का वर्णन क्यों किया गया।

शायद कोई कहे कि 'एव' का अर्थ 'इव' लेने में हमने खींचातानी की है। इसके लिये हम 'आप्टे' के कोष से प्रमाण उद्धृत करते हैं। 'एव' शब्द पर वह लिखते हैं :—

(7) *like*, as (Showing Similarity) श्रीस्त एव मेस्तु G.M. (=तव इव) यहां उन्होंने वर्द्धमान की गणरत्न महोदधि का उदाहरण देकर बताया कि 'एव' का अर्थ 'इव' होता है। फिर वह एक नोट और देते हैं :—

(This particle is used in the Vedas in the sense of so, justso, *like*, indeed, truly, really).

अर्थात् वेद में 'एव' का अर्थ 'इव' भी होता है।

उपनिषदों में कहीं कहीं कुछ वाक्य अवश्य ऐसे मिलते हैं जिनसे अद्वैत की सी झलक आती है। परन्तु इसके साथ ही कुछ स्पष्ट वाक्य ऐसे भी हैं जिनसे जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती। भिन्न भिन्न मतावलम्बी अपनी बात को सिद्ध करने के लिये खींचातानी करते हैं परन्तु यहां हमको एक बात याद रखनी चाहिये।

उपनिषदों की भाषा देखने से प्रतीत होता है कि यह केवल दार्शनिक पुस्तकें नहीं हैं जिनमें प्रत्येक शब्द तोल तोल कर युक्ति शृङ्खला बनाकर लिखा गया हो जैसे न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में है। इनमें युक्ति से इतना काम नहीं लिया गया जितना काव्य-रस से। इनके उपाख्यानों का उद्देश पाठकों के हृदय को अपील करना है। इसलिये जहां कहीं 'ब्रह्म ही ब्रह्म' का प्रतिपादन है वहां भक्ति भाव से प्रेरित होकर किया है, साधारणतया जब एक पुरुष दूसरे की स्तुति करता है तो कहता है "आपके

सिवाय मेरा कोई नहीं"। यहां "कोई नहीं" का तात्पर्य यह होता है कि "अधिकांश में आप ही हैं"। यही भाव ब्रह्म के सम्बन्ध में भी है।

उपनिषदों में स्पष्टरीत्या कहीं यह प्रश्न नहीं उठाया गया कि ब्रह्म और जीव एक हैं या दो हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत के प्रश्न जैसे इन इन मतों में उठाये गये हैं उपनिषदों में नहीं उठे। केवल उपनिषदों के कुछ वाक्यों को भिन्न भिन्न मत अपनी अपनी ओर खींचते हैं। हाँ नवीन उपनिषदों में कहीं कहीं स्पष्टतया शाङ्कर मत का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु इन उपनिषदों को प्राचीन शास्त्रों में नहीं गिन सकते हैं। यों तो सैकड़ों उपनिषदें हैं जो भिन्न भिन्न समय में जोड़ दी गई हैं। श्री शंकराचार्य्य आदि के समय में भी बहुतों का पता नहीं था।

हमारे इस कथन से कि उपनिषदों में भक्ति का वर्णन काव्य-रस में किया गया है शायद कुछ भक्त लोग तिलमिलायें। परन्तु हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वह छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों की शैली पर विचार करें। उस समय उनको उपनिषदों और षट् शास्त्रों की शैलियों की भिन्नता का पता लग जायगा। उपनिषदों में दर्शन विद्या है अवश्य, परन्तु दूध में घी के समान ओत प्रोत है। दर्शनों में उसे मथकर रख दिया गया है। दर्शनों में युक्ति संतति है। उपनिषदों में उपाख्यान हैं। अतः इन उपाख्यानों के समझने के लिये उपाख्यानों के उपाख्यानत्व पर भी दृष्टि रखनी चाहिये।

बारहवाँ अध्याय

कतिपय आचार्यों के मत

हम पिछले अध्याय में दिखा चुके हैं कि वेद तथा आर्षग्रन्थों में मायावाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता और न ऐसा प्रतीत होता है कि यह वाद जिस रूप में पीछे से प्रचलित हो गये उस रूप में उस समय विद्यमान थे। छः दर्शनों तथा उपनिषदों में यतस्तत: वैदिक सिद्धान्तों का वर्णन करते हुये 'एकं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'नेह नानास्तिकिंचन' आदि वाक्यों का प्रयोग आया है। परन्तु निष्पक्ष रीति से अवलोकन करने से पता चल जाता है कि उस समय यह साम्प्रदायक महावाक्य नहीं बन पाये थे। हमारी निज धारणा यह है कि यह सम्प्रदाय अधिक तर बौद्ध धर्म के पश्चात् आविर्भूत हुये। बुद्ध महाराज के अनुयायी वेदों के विरुद्ध थे। जैन धर्म का भी यही सिद्धान्त था। वैदिक धर्मियों में खलबली मच चुकी थी और वेदों के पुनरुद्धार के लिये अनेक विद्वानों ने परिश्रम करना आरम्भ कर दिया था। उस सयय भारतवर्ष में ऐसे साधन उपस्थित न थे कि सुसगठित रूप से वेद-विरोधियों का सामना किया जाता। हुआ यह कि जिस विद्वान् ने जिस प्रकार चाहा वेद की स्थापना और वेद विरोधी मत का खंडन करना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध माध्यमिक और बौद्ध योगाचार मतों का प्राबल्य था। माध्यमिक शून्यवादी थे और योगाचार बाह्यजगत् का निषेध करते थे। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन और दिङ्नाग अपने मतों को

प्रचार विद्वत्तापूर्ण रीति से कर चुके थे। और इनका सिक्का लोगों के दिलों पर जम चुका था। इनके सूक्ष्म सिद्धान्तों का खण्डन हमको दर्शनों तथा अन्य दार्शनिक पुस्तकों में मिलता है। जैसे दिङ्नाग के मत की अलोचना उद्योतकर ने की है। परन्तु बौद्ध-मत केवल दर्शन मात्र न था। यह एक मत था जो जनता की निचली से निचली तह तक पहुँच चुका था। इसके निराकरण के लिये तो सार्वजनिक उपाय की आवश्यकता थी।

इसके लिये सब से पहला महत्वपूर्ण प्रयत्न श्री शङ्कराचार्य जी ने किया। इनसे पहले इनके गुरू के गुरू श्री गौड़पादाचार्य्य ने माण्डूक्य उपनिषत् पर कारिका लिखी थी जिसमें उन्होंने माध्यमिक और योगाचार से मिला जुला वाह्यजगत् के वैतथ्य का सिद्धान्त निरूपण किया था।❀ माण्डूक्य उपनिषत् में इस सिद्धान्त के लिये कोई स्पष्ट तथा सुदृढ़ आधार न था परन्तु

❀नागार्जुन कृत माध्यमिक सूत्र तथा चन्द्रकीर्तिकृत भाष्य के देखने से पता चलता है कि गौड़पाद ने जो दृष्टान्त दिये हैं वे सब के सब माध्यमिकों से लिये गये हैं जैसे :—

क्लेशाः कर्माणि देहाश्च फलानि च।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः॥

चन्द्रकीर्ति कहता है कि

गन्धर्वनगराकारादिवन् निःस्वभावा वेदितव्याः।

गन्धर्वनगर आदि के दृष्टान्तों का उपनिषदों में पता तक नहीं।

इसी प्रकार शङ्कर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यता का विचार भी नागार्जुन से लिया है।

प्रतीत होता है कि गौड़पाद जी ने बौद्धों को परास्त करने और वेद-मत स्थापित करने के हेतु इस मत का आश्रय लिया। माध्यमिक सर्व शून्यवादी थे और योगाचार वाह्य-शून्यवादी। गौड़पाद जी वाह्य-शून्य तो मानते ही हैं। सत्यता केवल आत्मा को मानते हैं। और सबसे मुख्य भेद यह है कि वे वेद का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। गौड़पाद के शिष्य थे गोविन्दाचार्य और गोविन्दचार्य के शङ्कर। श्री शङ्कराचार्य ने गौड़पाद और गोविन्द-के सिद्धान्त को विकसित और विस्तृत रूप में जनता के सम्मुख रक्खा और अद्वैतवाद के सबसे प्रसिद्ध और कीर्तिवान् आचार्य शङ्कराचार्य ही समझे जाते हैं। इनका मत सारांशरूप से यह है कि केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म से इतर कोई दूसरी चीज नहीं है। ब्रह्म सत्य है ज्ञान है और अनन्त है (सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म) इसके लिये इनकी युक्तियाँ सुनिये :—

पहले अस्मत्प्रत्यय या अह-प्रत्यय को लीजिये आत्मा का ज्ञान स्वयं होता है। प्रत्येक को अनुभव होता है कि "मैं हूँ"।

न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयं सिद्धत्वात्।

(वे० भा० २। ३। ७)

"आत्मा के जानने के लिये किसी अन्य चीज की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सिद्ध है।"

न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्ध्यति। तस्यहि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्ध प्रमेय सिद्धय उपादीयन्ते।

(वे० भा० २। ३। ७)

"आत्मा आत्मा के प्रमाण की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता। उसी आत्मा के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा तो अन्य प्रमेय जो प्रसिद्ध नहीं हैं सिद्ध किये जाते हैं।"

आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति ।

(वे० भा० २ । ३ । ७)

"आत्मा तो स्वयं प्रमाण आदि व्यवहारों का आश्रय है और प्रमाण आदि व्यवहार से पहले ही सिद्ध है ।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी तो आत्मा के ही आश्रित हैं । उनके व्यवहार से ही पूर्व आत्मा सिद्ध है अतः आत्मा को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं ।

न चेदृशस्य निराकरणं संभवति । आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते । न स्वरूपम् । य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम् ।

(वे० भा० २ । ३ । ७)

"ऐसे का निराकरण भी नहीं हो सकता । जो वस्तु बाहर से आवे उसका निराकरण होता है । स्वरूप का निराकरण नहीं होता । जो निराकरण करने वाला है वही उसका स्वरूप है" ।

न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते ।

(वे० भा० २ । ३। ७)

"अग्नि की गर्मी का निराकरण अग्नि से नहीं हो सकता" ।

तथाहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीतरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमान-

भावेनान्यथा भवत्यपि ज्ञातव्येन ज्ञातुरन्यथा-भावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्।

(वे० भा० २।३।७)

"मैं ही इस समय इस वर्तमान वस्तु को जानता हूँ। मैं ही भूतकाल में बीती हुई वस्तु को जानता था। मैं ही आने वाली वस्तु को भविष्य में जानूँगा। इस प्रकार वर्तमान् भूत और भविष्य के ज्ञान में अन्यथा भाव (भेद भाव) हो जाता है। परन्तु ज्ञाता अर्थात् जानने वाले का भाव सदा वैसा ही रहता है क्योंकि इसका तो स्वभाव ही है"।

तात्पर्य यह निकला कि कोई आत्मा की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकता। जब मैं कहता हूँ कि मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ तो इसका तात्पर्य ही यह है कि मैं हूँ। यदि मैं न होता तो मैं किसी को कैसे जानता। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डिकोर्ट (Descartes) ने भी तो यही कहा था कि कोजीटो अर्गो सम् (Cogito Ergo Sum). चूँकि मैं जानता हूँ इस लिये मैं हूँ। मेरा ज्ञान ही मेरे अस्तित्व का सूचक है। यह हुआ **अस्मत् प्रत्यय** या **अहं-प्रत्यय** जिससे आत्मा की उपलब्धि होती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या आत्मा से इतर भी कोई वस्तु है या नहीं। शङ्कर स्वामी कहते हैं कि नहीं। साधारण मनुष्य कहता है कि हाँ अवश्य। मैं जानता हूँ कि मेज़ है, कुर्सी है, पुस्तक है। सूर्य्य है, चाँद है। यह सब वस्तुयें आत्मा से इतर हैं। आत्मा को इनका ज्ञान है। शङ्कर स्वामी कहते हैं कि आत्मा को इनका ज्ञान है इसी लिये तो यह आत्मा से इतर नहीं। उनकी सीधी युक्ति यह है कि आत्मा के आश्रित है ज्ञान और ज्ञान के आश्रित हैं यह सब चीज़ें। इस लिये यह सब

चीज़ें आत्मा के आश्रित ही तो हुइ। आत्मा से इतर कहाँ हुई।

यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तुतत्वं भवति। किंचिन्नज्ञायत इति चानुपपन्नम्।

(प्रश्नोपनिषत् ६। २ पर शांकर भाष्य)

"जैसा जैसा जो पदार्थ जाना जाता है वैसा वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस उसका स्वरूप होता है। यह कहना कि अमुक वस्तु जानी नहीं गई और है ठीक नहीं है"।

न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्।

इसलिये ज्ञेय का ज्ञेयत्त्व ज्ञान के ही आश्रित है। ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं।

इस विषय में प्रसिद्ध अँगरेज़ दार्शनिक बार्कले (Berkeley) भी तो यही कहता है :—

It is evident to any one who takes a survey of the objects of human knowledge, that they are either ideas actually imprinted on the senses, or else such as are formed by attending to the passions and operations of the mind, or, lastly ideas formed by help of memory and imagination.

"मानवी ज्ञान के विषयों पर जिस किसी ने विचार किया है वह जानता है कि यह विषय तीन कोटियों में विभक्त हो सकते हैं एक तो वह विचार ज़ो इन्द्रियों पर अंकित होते हैं। दूसरे वह जो मानसिक व्यापार द्वारा जाने जाते हैं तीसरे वह जो स्मृति तथा कल्पना द्वारा बनते हैं।"

And besides that endless variety of ideas or objects of knowledge, there is likewise something which knows or perceives them, and exercises diverse operations, as willing, imagining, remembering about them. This perceiving active being is what I call mind, soul or myself.

इन भिन्न भिन्न प्रकार के विचारों या ज्ञेय-पदार्थों के अतिरिक्त एक और सत्ता है जो जानती या अनुभव करती है अर्थात् इनके विषय में इच्छा, कल्पना, स्मृति आदि के व्यापार करती है। इसी अनुभव करने वाली सत्ता को मैं मन, जीव या अहं कहता हूँ।

That neither our thoughts, nor passions, nor ideas formed by the imagination, exist without the mind is what every body will allow. And it seems no less evident that the various sensations, or ideas imprinted on the sense, however blended or combined together (that is, what-ever objects they compose) can not exist otherwise than in a mind perceiving them. I think an intimate knowledge may be obtained of this by any one that shall attend to *what is meant by the term exist when applied to sensible things.* The table I write on, I say, exists, that is, I see and feel it ; and if, I were out of my study, I should say existed, meaning thereby that if I was in my study, I might perceive it, or that same other spirit actully does perceive it. There was an odour, that is, it was smelt ; there was a sound, that is, it was heard : a colour or figure, and it was perceived by sight or touch. That is all I can understand by these and the like

expressions. Their *esse is percipi* nor is it possible they should have any existence out of the minds of thinking things which perceive them.

"प्रत्येक पुरुष इतना तो अवश्य मानता है कि हमारे विचार, भाव या कल्पनायें मन के बाहर अपना अस्तित्व नहीं रखतीं। और यह भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि हमारी इन्द्रियों पर अंकित हुए भिन्न २ संस्कार या विचार चाहे वह कितनी ही मिली जुली अवस्था में क्यों न हों (अर्थात् चाहे वह किन्हीं पदार्थों को क्यों न बनावें) अनुभव करने वाले मन के बाहर अपनी सत्ता नहीं रखते। इसका प्रत्यक्ष अनुभव उस पुरुष को हो सकता है जो इन्द्रिय-गोचर पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुये 'सत्ता' शब्द के अर्थों पर विचार करता है। जिस मेज़ पर मैं लिख रहा हूँ मैं कहता हूँ कि यह "है"। अर्थात् मैं इसे देखता और छूता हूँ। यदि मैं अपने कमरे से बाहर चला जाऊँ तो कहूँगा कि मेज़ 'थी' अर्थात् यदि मैं कमरे में होता तो मैं उसे देखता या छूता या कोई और ज्ञाता उस को देखता या छूता है। 'गन्ध' थी का अर्थ हो यह है कि कोई उसे सूँघता था। 'शब्द' का अर्थ ही यह है कि कोई उसे सुनता था। 'रंग था' का अर्थ ही यह है कि कोई उसे देखता था। 'मूर्ति थी' का का अर्थ ही यह है कि कोई उसे छूता था, मैं तो इस प्रकार के वाक्यों से इतना ही समझता हूँ। उनका 'अनुभव' ही उनकी 'सत्ता' है। यह संभव हो नहीं है कि अनुभव करने वाले मन के बाहर इनकी किसी प्रकार की सत्ता हो।"

"But, say you, though the ideas themselves do not exist without the mind, yet there may be things like them, whereof they are copies or resemblances, which things exist without the mind in an unthinking substance. I answer, an

idea can be like nothing but an idea; a color or figure can be like nothing but another color or figure. If we look but never so little into our own thoughts, we shall find it impossible for us to conceive a likeness except only between our ideas. Again, I ask, whether those supposed originals or external things, of which our ideas are the pictures or representations, be themselves perceivable or no? If they are, then they are ideas, and we have gained our point, but if you say they are not, I appeal to anyone whether it be a sense to assert a color is *like* something which is invisible; hard or soft, like something which is intangible; and so of the rest."

"लेकिन तुम कहोगे कि विचार स्वयं तो मन के बाहर अपनी सत्ता नहीं रखते परन्तु उन्हीं के समान कुछ पदार्थ हैं जिनकी यह विचार प्रतिकृति रूप हैं। यह पदार्थ अनुभव करने वाले के मन के बाहर अचेतन वस्तु में रहते हैं। मेरा उत्तर यह है कि विचार की प्रतिकृति विचार ही हो सकती है। रूप या आकार की प्रतिकृति रूप या आकार ही हो सकती है। यदि हम अपने विचारों का थोड़ा सा अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि समानता हमारे विचारों के बीच में ही हो सकती है। एक और प्रश्न है। यह कल्पित बाह्य पदार्थ जिनको प्रतिकृति हमारे विचारों को बताया जाता है यह मन का विषय हैं या नहीं। यदि हैं तो वे 'विचार' ही हो सकते हैं और हमारा पक्ष सिद्ध है। यदि कहो कि नहीं तो मैं पूछता हूँ कि क्या यह सुसंगत बात है कि रङ्ग किसी ऐसी चीज़ के समान हो जो अदृश्य है, कठोर या नरम चीज़ ऐसी चीज़ के समान हो जो स्पर्श का विषय नहीं। इत्यादि इत्यादि।"

अब पाठकगण समझ गये होंगे कि इस अवस्था तक शङ्कर और बार्कले दोनों का मत यही है कि ज्ञाता के ज्ञान के बाहर किसी चीज़ की स्थिति नहीं। अर्थात् केवल ज्ञाता का ही अस्तित्व रह जाता है और इसको दोनों दार्शनिक स्वयं सिद्ध मानते हैं। बार्कले के मत में ज्ञान और ज्ञेय में कोई भेद नहीं। ज्ञेय का अर्थ ही ज्ञान है, और ज्ञान ज्ञाता के आश्रित है। शङ्कर स्वामी ज्ञाता और ज्ञान के भेद को भी दूर कर देते है। उनके मत में ज्ञाता ही ज्ञान है और ज्ञान ही ज्ञाता है। वह कहते हैं कि इसी लिये ब्रह्म को 'सत्य' और 'ज्ञान' कहा गया है।

क्या बार्कले भी ब्रह्म के समान किसी चीज़ को मानता है। यदि मानता है तो क्यों? अवश्य! सुनिये, बार्कले कहता है कि मेरे विचार मेरे ज्ञान के आश्रित हैं। अर्थात् मेरे ज्ञान के बाहर उनकी या उनके समान किसी वस्तु की या उनके आधार या अधिकरण की सत्त नहीं। परन्तु:—

Whatever power I may have over my own thoughts, I find the ideas actually perceived by sense have not a like dependence on my will, When in broad daylight I open my eyes, it is not in my power to choose whether I shall see or no, or to determine what particular objects shall present themselves to my view."

'मेरे विचार चाहे कितना ही मेरे आश्रित हों परन्तु इन्द्रियों पर अंकित विचार मेरी इच्छा शक्ति के आश्रित नहीं हैं। जब मैं दिन के समय अपनी आँखें खोलता हूँ तो मुझमें यह शक्ति नहीं है कि चाहे देखूं चाहे न देखूं। न मैं यह कर सकता हूँ कि अमुक प्रकार के पदार्थ ही मेरी दृष्टि में आवें।

अर्थात् मुझे ऐसे पदार्थों का भी अनुभव होता है जिनको मैं नहीं चाहता। यदि ज्ञेय पदार्थ सर्वथा मेरे आधीन होते तो ऐसी चीजों का ज्ञान न हो सकता जो मेरे प्रतिकूल या मेरे लिये अनिष्ट है। इसके लिये कुछ कारण होना चाहिये। यदि मुझसे इतर कोई वस्तु नहीं तो फिर अनिष्ट पदार्थों का ज्ञान कहाँ से आता है। बार्कले का उत्तर यह है कि मेरे ही समान एक और ज्ञाता है।

"The cause of ideas is an incorporeal, active substance, or spirit."

"इन विचारों का कारण एक अभौतिक कर्तृत्व सम्पन्न वस्तु या आत्मा है।

इसी का नाम ब्रह्म है।

अर्थात् बार्कले के मत में अचेतन, जड़, भौतिक पदार्थ का तो अलग अस्तित्व नहीं किन्तु अनेक आत्माओं का अस्तित्व अवश्य है और जो विचार हम स्वय उत्पन्न नहीं कर सकते परन्तु हमारे ज्ञान में हमारी इच्छा के अतिरिक्त भी उत्पन्न अवश्य होते हैं उनका उत्पादक ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म है। सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, अथवा अन्य सब वस्तुयें या घटनायें जिनको हम जगत् या प्रपंच से नाम के पुकारते है केवल विचारों की शृंखला है जो परमात्मा के द्वारा हमारे मन में उत्पन्न होती हैं। जिसको हम भौतिक अर्थ में कारण और कार्य कहते हैं वह भी विचार शृङ्खला ही है। खाना खालो और स्वास्थ्य अच्छा होगा। यह दो विचार मात्र हैं जो ईश्वर की प्रेरणा से ज्ञान में उठते हैं एक विचार दूसरे विचार का उत्पादक नहीं-किन्तु संकेत मात्र (sign) है।

आत्मा परमात्मा से इतर स्वाधीन सत्तायें हैं या क्या ? इस पर बार्कले अधिक विचार नहीं करता। वह परमात्मा को

सब आत्माओं का भी उत्पादक मानता है परन्तु किस प्रकार यह कहना कठिन है। परमात्मा अपने विचार हमारे ज्ञान में किस प्रकार डाल देता है यह भी समस्या ही है। मुझमें दरिद्रता, निर्धनता, पीड़ा, आपत्ति का विचार क्यों आता है और मेरे पड़ोसी आत्मा का धनाड्यता, सुख, अभ्युदय आदि का विचार क्यों आता है? इस भेद का क्या कारण है? यह सब ईश्वर जाने। परन्तु इतना अवश्य है कि ईश्वर है। न हम ईश्वर को देख सकते हैं न अन्य आत्माओं को।

"A human spirit or person is not perceived by sense, as not being an idea"

(2) But only such a certain collection of ideas as directs us to think there is a distinct principle of thought and notion, like to ourselves, accompanying and represented by it.

(3) And after the same manner we *see* God, all the difference is that, whereas some one finite narrow assemblage of ideas denotes a particular human mind, whethersoever we direct our view, we do at all times, and in all places, perceive mainfest tokens of the Divinity; everything we see, hear, feel or anywise perceive by sense, being a *sign* or *effects* of the power of God; as is our perception of those very notions which are produced by men"

(१) अन्य आत्मायें इन्द्रिय गोचर नहीं है क्योंकि यह 'विचार' नहीं हैं।

(२) केवल विचारों का विशेष संकलन ही इन्द्रिय गोचर होता है जिसकी प्रेरणा से हम समझते हैं (Directs us to think),

कि हमारे ही सदृश ज्ञान और गति वाली सत्तायें हैं जिनके प्रतिनिधि स्वरूप ही यह विचार है।

(३) ठीक इसी प्रकार हम ईश्वर को भी देखते हैं। भेद केवल इतना है कि विचारों का एक संकुचित समूह तो विशेष मानवी सत्ता का पता देता है और ईश्वर की सत्ता के चिह्न हम सर्वदा-सर्वत्र देखते हैं। प्रत्येक वस्तु जो इन्द्रिय-गोचर होती है ईश्वर सत्ता का सङ्केत या कार्य है। उसी प्रकार जैसे मनुष्यकृति गतियां हमको इन्द्रिय गोचर होती हैं। बार्कले की युक्ति में क्या दोष है। यह हम अन्यत्र बतावेंगे। यहाँ केवल इतना कहे देते हैं कि बार्कले की युक्ति यदि ठीक है तो इसके अनुसार अन्य आत्माओं और परमात्मा दोनों की सिद्धि नहीं होती। इन्द्रिय-गोचर विचार तो हमको स्वयं अपना ही पता देते हैं। एक तो 'मैं' हुआ जिसको बार्कले और शंकर दोनों स्वयं सिद्ध कहते हैं। दूसरे हुये मेरे विचार जिनमें मेरी अपनी कल्पनायें तथा इन्द्रिय-गोचर विषय भी सम्मिलित हैं। बार्कले परमात्मा या अन्य आत्माओं के विचारों को कोटि (ideas) में तो गिनता नहीं। मुझे अपना प्रत्यक्ष (notion) तो हो सकता है। दूसरों का कैसे हो। मैं देखता हूँ कि अमुक पुरुष मुझसे बोलता है। मेरे पास बैठा है इत्यादि! इसका क्या अर्थ ? यही न कि मैं शब्द सुन रहा हूँ या रूप देख रहा हूँ। यह भी तो विचार ही हुये। मुझे कैसे सिद्ध हुआ कि यह अन्य आत्मा द्वारा उत्पादित विचार हैं। इसी प्रकार सूर्य का निकलना भी तो है। यह कहना कि इस विचार को मेरे इन्द्रिय गोचर कराने के लिये एक परम आत्मा की आवश्यकता है उसके सिद्धान्त से सङ्गति नहीं खाता। जो लोग कहते हैं कि इन विचारों के अतिरिक्त एक भौतिक वस्तु है जिसके और हमारे संसर्ग के कारण यह विचार उत्पन्न होते

हैं उनसे बार्कले कहता है कि विचारों के अतिरिक्त अन्य वस्तु के मानने का क्या अधिकार है। यहां हम भी उससे यही पूछ सकते हैं कि विचारों के अतिरिक्त अन्य आत्माओं के मानने के लिये क्या युक्ति है। यदि बार्कले की बात मान ली जाय कि

all esse is percipi

अर्थात् सत्ता उसी चीज़ की है जिसकी हमको अनुभूति (perception) होती है। और अनुभूति केवल विचारों की ही हो सकती है न कि भौतिक पदार्थ की तो चूँकि अन्य आत्मायें या परमात्मा अनुभूति (perception) का विषय नहीं, अतः उनको मान भी नहीं सकते। मुझे प्रत्यय (notion) केवल अपना ही हो सकता है अन्यों का नहीं।

शंकर और बार्कले एक सी ही युक्तियों से आरम्भ करते हैं परन्तु शङ्कर और बार्कले की तुलना नहीं की जा सकती। शङ्कर के सम्मुख बार्कले अत्यन्त लघु प्रतीत होता है। शङ्कर का यह कहना अधिक सुसङ्गत है कि "मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है।"

मेरे ज्ञान में ऐसे विचार क्यों आते हैं जिन पर मेरा अधिकार नहीं अथवा जो मेरे लिये अनिष्ट हैं। इनका भार बार्कले अन्य आत्माओं या परमात्मा पर डालता है, बार्कले का कहना है कि भौतिक पदार्थ अभौतिक आत्मा पर प्रभाव डाल नहीं सकता इस लिये अवश्य हमसे इतर और हमसे बली कोई और आत्मा है, परन्तु बार्कले इस बात की मीमांसा नहीं करता कि एक अभौतिक आत्मा दूसरे अभौति आत्मा पर रूप,रस, गंध आदि इन्द्रिय गोचर विचार कैसे और क्यों उत्पन्न करता है। 'एक के विषय में क्यों" और 'कैसे' का प्रश्न करके ही उसको असम्भव और असङ्गत समझ लेना और दूसरे

के विषय में यह प्रश्न उठाना तक नहीं, यह बात उचित प्रतीत नहीं होती।

शङ्कर का मत है कि इष्ट या अनिष्ट जितने विचार भी हमारे ज्ञान में आते हैं वे सब माया या अविद्या के कारण हैं वस्तुतः हमसे कोई इतर वस्तु है नहीं। माया क्या है। इसको वह सद् और असद् से भिन्न एक अनिर्वचनीय चीज़ मानते हैं जिसकी निवृत्ति और तत्वज्ञान होने मात्र से ही अनुभव हो जाता है कि मैं ही मैं हूँ। 'मैं' से इतर और कुछ नहीं। इस माया के मानने में क्या क्या दोष हैं इनकी हम पिछले अध्यायों में समालोचना कर चुके हैं।

शङ्कर और बार्कले दोनों आरम्भ में ही भूल करते हैं और इस भूल के आधार पर अन्य युक्तियाँ जोड़ते जाते हैं। शङ्कर और बर्कले का स्व-अनुभूति से प्रारम्भ करना तो उचित ही है। क्योंकि जो दार्शनिक मीमांसा स्व-अनुभूति के आधार पर नहीं चलती वह ठीक हो ही नहीं सकती। मनुष्य के लिये और सम्भव ही क्या है? परन्तु स्वानुभूति से आरम्भ करके फिर उसे बीच में छोड़ देना ऐसा ही है जैसे नाव में बैठकर चलना और सागर के मध्य में नाव छोड़ कर कूद पड़ना।

हमने अग्नि देखी।

हमने अग्नि को छुआ।

हमको अग्नि गर्म प्रतीत हुई।

हमारा हाथ अग्नि से जल गया।

हमारे हाथ में पीड़ा होने लगी।

यह वाक्य है। इनके अर्थों पर विचार कीजिये। जब इस

प्रकार की घटना होती है तो आपकी अनुभूति क्या कहती है। बर्कले और शंकर दोनों कहते हैं कि आत्मा से बाहर, आत्मा से इतर अग्नि कोई पदार्थ नहीं। 'हम अग्नि को छूते हैं' एक विचार है। प्रश्न यह है कि 'अग्नित्व' या 'गर्मी' हमारे आत्मा से इतर किसी अग्नि नामी ऐसे पदार्थ में है जो आत्मा से बाहर है। या क्या? यह तो सभी मानते हैं कि जलने से हाथ में जो पीड़ा हुई वह मुझमें है अग्नि में नहीं। परन्तु 'गर्मी' को भी उसी प्रकार 'अपने में ही' क्यों न माना जाय? जैसे 'पीड़ा' का एक विचार है वैसा ही 'गर्मी' का भी। पहले के लिये 'अनुभूति' स्पष्ट है। दूसरे को हम अनुभूति के सिर मढ़ देते हैं। वस्तुतः यदि हम अपनी अनुभूति से पूछें तो यह स्पष्ट कह देती है कि "अग्नि या कोई अन्य गर्म चीज़ है" विचार इतना ही नहीं है परन्तु इतना भी है कि आग हमसे इतर कोई वस्तु है जिसका हमारी इन्द्रियों से संसर्ग होने से गर्मी का अनुभव होता है। यदि बार्कले के अनुसार ईश्वर हमारे ज्ञान में अग्नि के गर्म होने का विचार उत्पन्न करता है तो यह विचारभी उत्पन्न करता है कि हमसे इतर कोई वस्तु है जिसका गुण गर्मी है, या कम से कम हमारे संसर्ग में आकर वह हमको गर्मी का भान कराती है। यह भाव संसार के सभ्य, असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित सभी का है। यदि इस भाव का उत्पादक ईश्वर है तो उसने यह उलटा भाव उत्पन्न ही क्यों किया। वस्तुतः जिस प्रकार हमको अस्मत्-प्रत्यय या अहं-प्रत्यय होता है जिसके अनुसार हम 'आत्मा' को स्वयं सिद्ध समझते हैं इसी प्रकार 'युष्मत्-प्रत्यय' या इतर-प्रत्यय भी होता ही। यह दूसरी बात है कि हम इस 'इतर' या 'युष्मत्' का ठीक ठीक लक्षण या ठीक ठीक मीमांसा न कर सकें। यह तो अस्मत् प्रत्यय के सम्बन्ध में भी है। यह ठीक है कि अग्नि के ज्ञान के पूर्व हमको

आरम्भ में केवल त्वचा सम्बन्धी भान (sensation) होता है। परन्तु इस भान से ज्ञान तक की एक ऐसी व्यापार शृङ्खला (process) है जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'ज्ञान' केवल भिन्न भिन्न भानों का समूह मात्र है। समस्त ज्ञान (knowledge) को कोरा 'भानों' का समूह (a bundle of sensations) कह देना मानवी मस्तिष्क की प्रकृति को न समझना है। सोर्ले (Sorley) ने ठीक कहा है कि—

Once we have a judgment, we have before us a question wich concerns not the sensations of a subject but the nature of an object ("Moral Values and the idea of God," p. 69)

"जब हमको ज्ञान हो गया तो हमारे सामने विषयी के भानों का प्रश्न नहीं है किन्तु विषय की वास्तविकता का," बाह्य जगत् की सिद्धि में शङ्कर ने अपने वेदान्त भाष्य में अकाट्य युक्तियाँ दी हैं (देखो वेदान्त २। २। २८)

(१) **न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते कस्मात्? उपलब्धेः।**

"बाह्य पदार्थ का अभाव नहीं माना जा सकता। क्यों? इसलिये कि इसका ज्ञान होता है।"

(२) **उपलभ्यते हि प्रति प्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावोभवितुमर्हति।**

हर एक ज्ञान के साथ हमको बाह्य अर्थ का ज्ञान होता है जैसे खम्भा, दीवार, घट, पट आदि। जिसका ज्ञान होता है उसका अभाव कैसे माना जा सकता है।

बार्कले कह सकता है कि—

(३) **ननु नाहमेव ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किं रूपलब्धि व्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि ।**

मैं यह नहीं कहता कि किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता मेरा कहना है कि उपलब्धि (विचार ideas) के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता ।

इस पर शङ्कर कहते हैं :—

(४) **न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते उपलब्धि विषयत्वेनैव तु स्तम्भ कुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते ।**

केवल खम्भा या दीवार आदि का ज्ञान मात्र ही तो नहीं है। यह भी तो ज्ञान है कि इस ज्ञान के विषय खम्भा या दीवार भी हैं ।

यदि कोई कहे कि—

(५) **बाह्यमर्थं बहिर्वदिति ।**

अर्थात् बाह्य पदार्थ नहीं है किन्तु बाह्य के समान प्रतीत होता है ।

तो इस पर शकर उत्तर देते हैं ।

(६) **इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः । नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्र वदवभासते ।**

'समान' का क्या अर्थ है। कौन कहेगा कि विष्णुमित्र बांझ के पुत्र के समान प्रतीत होता है ।

यदि बाह्य पदार्थ कोई है ही नहीं तो उसके समान का क्या अर्थ ?

एक बात और है। प्रायः हम अपने विचारों को असंयुक्त (separate, single) और सरल इकाइयाँ मान लेते हैं। बार्कले ने भी ऐसा ही किया और उसके परिणाम स्वरूप ह्यूम (Hume) को मानना पड़ा कि यदि विचार असम्बन्ध इकाइयाँ ही हैं तो इनसे न तो बार्कले के 'आत्मा' सिद्ध होते हैं न परमात्मा ! वस्तुतः विचार जो हमारे मन में उठते हैं एक जटिल, संश्लिष्ट और सम्बद्ध चीज़ हैं। मनोविज्ञान के विद्वान यही मानने पर बाधित हुये हैं। यह कहना कि यह विचार केवल मेरी और स्वयं अपनी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी बाहरी वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन नहीं करते ठीक नहीं है। टेलर (A,E, Taylor's Elements of Metaphysics) ने ठीक कहा है कि—

The self implies and has no existence apart from, a not-self, and it is only on the contrast with the not-self that it is aware of itself as a self. This seems to me clear, as a matter of principle, though the consequences of the principle are in much current speculation, partly misconceived, partly neglected. The most important among them are the following. The feeling of self is certainly not an inseparable concomitant of all our experience. For it only arises—and here nothing but experimentation can be appealed to as evidence—as a contrast-effect in connection with our awareness of a not-self whether as imposing restraints upon the expression of the self, or as

undergoing modification by the self. Hence experiences from which this contrast is absent seem to exhibit no trace of genuine "self-consciousness". (p. 336)

"आत्मा से अनात्मा की भी सिद्धि होती है। आत्मा अनात्मा से अलग कोई सत्ता नहीं रखता। आत्मा अपने को अनात्मा के भेद से ही अनुभव करता है। यह नियम मुझको स्पष्ट ही प्रतीत होता है यद्यपि आजकल के विद्वानों ने इसके परिणाम को या तो विरुद्ध समझा है या इसकी उपेक्षा की है। इनमें आवश्यक यह है :—आत्मा की अनुभूति हमारे सब अनुभवों में अवश्यं भावी बात नहीं। यदि अनुभव पर विचार करें तो आत्मा की अनुभूति अनात्मा की अनुभूति से तुलना करने के पश्चात् ही होती है। या तो यह अनात्मा का भाव आत्म-भाव का बाधक होता है या आत्म-भाव के द्वारा विकृत होता है। जिन विचारों में यह विरोध उपस्थित नहीं होता उनमें आत्म-अनुभूति का चिह्न भी पाया नहीं जाता।

It is fairly obvious that the two halves of Barkeleys' theory will not fit together into a coherent whole. If the whole *esse* of physical things is merely *percipi*, there can be no reason why I should suppose them to exist at all except in so far as and so long as they are presented to my perception. The whole hypothesis of an omnipresent divine perception which remains aware of the contents that have vanished from my own perception, thus becomes purely gratuitous. It also labours under the disadvantage of being, on Berkelys' theory, internally inconsistent. For if it is necessary to invoke the agency of God to

account for the occurrence of presentations to my experience it is not clear why we have not to suppose a second deity who causes the series of presentations in the experience of God, and so on indefinitely. On the other hand, if Gods' experience may be taken as uncaused it is not clear why my own experience might not have been taken so in the 1st instance and the introduction of God into the theory avoided. Thus the logical outcome of the doctrine that the esse of physical things is merely percipi would have been either Solipsism, the doctrine according to which I have no certain knowledge of any existence except my own, every thing else being mere state or modification of myself ; or the Humian scepticism which resolves my own existence, as well as that of the external world, into a mere sequence of fleeting mental processes. Conversely, if I have adequate reason to believe that any member of the physical order what-ever is more than a presentation, and has an existence, in some sense independent of my perception, I have no right to declare of any member *of that* order, unless for special reasons, that its being consists *merely* in being perceived. (p. 202).

भावानुवाद ।

बार्कले के सिद्धान्त के दोनों टुकड़े एक दूसरे से संगति नहीं खाते । यदि भौतिकों की सत्ता केवल अनुभूति मात्र है तो हमको अनुभूति से अधिक मानने का अधिकार नहीं । फिर क्यों माना ज ाता है कि जो पदार्थ मेरी अनुभूति में नहीं हैं वे परमात्मा

की अनुभूति में विद्यमान होंगे। दूसरी असंगति यह है कि जब मेरी अनुभूतियों को उत्पन्न करने के लिये परमात्मा की आवश्यकता है तो परमात्मा की अनुभूति के उत्पन्न करने के लिये एक और परमात्मा की आवश्यकता क्यों नहीं और अनवस्था दोष से कैसे बचें। यदि कहा जाय कि परमात्मा की अनुभूति के लिये कारण की आवश्यकता नहीं तो मेरी अनुभूति के लिये ही कारण की आवश्यकता क्यों है, इससे दो ही नतीजे निकल सकते हैं अर्थात् या तो 'स्वसत्ता मात्र' का सिद्धान्त माना जाय अर्थात् सिवाय मेरे और कोई है ही नहीं। या ह्यूम के सन्देहवाद पर विश्वास किया जाय जिसके अनुकूल बाह्य जगत् के समान मेरे अस्तित्व का भी ठीक नहीं। अर्थापत्ति से यह भी आता है कि यदि अनुभूति से अतिरिक्त और इतर किसी वस्तु को मानते हैं तो यह नहीं मान सकते कि कोई भौतिक सत्ता अनुभूति से इतर नहीं"।

एक और बात विचारणीय है। यदि यह सब विचार ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं तो

(१) अनुभूति और स्मृति (cognition and recognition) में क्या भेद होगा!

(२) सत्य और असत्य में क्या भेद होगा।

(३) मूर्खता, अज्ञान, विपरीत ज्ञान तथा विज्ञान में क्या भेद करेंगे।

(४) "अमुक शास्त्र का अमुक अंग या अमुक देश का अमुक स्थल अभी विशेषरीत्या ज्ञात नहीं है खोज की जा रही है," इसका क्या अर्थ होगा।

(५) अध्यापक शिष्यों को कैसे कह सकेंगे कि तुम्हारा उत्तर ग़लत है। ऐसा होना चाहिए।

(६) बार्कले के अनुयायी कैसे कह सकेंगे कि लौक का सिद्धान्त गलत है। बार्कले का ठीक है। ऐसा कहने का बार्कले के सिद्धान्तानुसार क्या अर्थ होगा।

The existence of error in no way shows that the things which I perceive are "States of my consciousness." On the contrary, error is harder to explain on the subjectivist theory than on any other for if what I perceive has some kind of existence distinct from the mere fact of my perceiving it, there is at least a possibility of understanding how the reality and my perception of it may be discrepant; but if the existence of a thing is only another name for the fact that I perceive it, it seems impossible that I should perceive anything except as it is On the subjectivist theory, as Plato showed in the Theaetetus, every percipient being ought, at every moment of his existence, to be infallible.

(Elements of Metaphysics by A. E. Taylor p. 77)

"विपरीत ज्ञान (विपर्य्यय) या भूल से यह सिद्ध नहीं होता कि जिन चीजों का मुझे ज्ञान होता है वह मेरे ही मन के विचार हैं। अपितु विज्ञानवाद में अन्य वादों की अपेक्षा भूल की व्याख्या कठिन है। क्योंकि जिन चीजों का मुझको ज्ञान होता है यदि उनकी सत्ता मेरे विचारों से इतर और अलग है तो कम से कम यह समझ लेना सम्भव है कि मेरे ज्ञान और वास्तविक सत्ता में क्यों भेद हो गया। परन्तु यदि वस्तु की सत्ता मेरे ही ज्ञान का दूसरा नाम है तो यह असम्भव है कि मुझको विपरीत ज्ञान हो सके। प्लैटो ने

"थीटीटस' में ठीक कहा है कि विज्ञान वाद के अनुसार तो प्रत्येक ज्ञानी को अपनी सत्ता के प्रत्येक काल में निर्भ्रान्त होना चाहिये।"

यह सब दोष शंकराचार्य के उस सिद्धान्त में भी आते हैं जिसके अनुकूल ज्ञान की ज्ञेय में व्याप्ति मान कर ज्ञेय की अलग सत्ता से इनकार किया जाता है। हम पिछले अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं कि अविद्या या माया की कल्पना से यह दोष दूर नहीं हो जाता।

श्री शंकर स्वामी के पश्चात मायावाद का खंडन करने के निमित्त श्री रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन का भी भाष्य लिखा। इनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इन्होंने माया के विरोध में जो महत्व पूर्ण युक्तियां दी हैं उनका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। रामानुजाचार्य ने अपने मत का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

(१) कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूल सूक्ष्म चिद-चिद्वस्तु-शरीरः परम पुरुषः।

(२) सूक्ष्म चिद-चिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मैवकारणम्।

(३) ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वे चिदचितो ब्रह्मणश्च स्वभावासङ्करोऽप्युपपन्नतरः।

(४) यथा शुक्लरक्तकृष्णतन्तुसंघातोपादानत्वेऽपि चित्र पटस्य तत् तत् तन्तुप्रदेश एवं

शौक्लादिसम्बन्धः । इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र संकरः तथा चिदचिदीश्वर संघातोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्व-भोग्यत्व नियन्तृत्वाद्यसङ्कुरः ।

(५) तन्तूनां पृथक् स्थिति योग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च । इह तु सर्वावस्थावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोस्तत् प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः । सर्वदा सर्वशब्द वाच्य इति विशेषः । स्वभाव भेदस्तदसङ्करश्चतत्र चात्र च तुल्यः ।

(श्री भाष्य पृ० ११६-१२०)

भावानुवाद

(१) कार्य्य में स्थित और कारण में स्थित स्थूल तथा सूक्ष्म चेतन तथा जड़ वस्तु ही जिसका शरीर है उसे परम पुरुष कहते हैं ।

(२) सूक्ष्म चेतन और जड़ जिसका शरीर है ऐसा कारण ब्रह्म है ।

(३) ब्रह्म तथा चेतन और जड़ का संघात ही जगत् का उपादान है । इसलिये उपादान होने पर भी ब्रह्म में विकार नहीं आता ।

(४) जैसे श्वेत, लाल और काले धागों के संघात से बना हुआ कपड़ा श्वेत, लाल, और काला होता है परन्तु सर्वत्र नहीं इसी प्रकार चेतन, जड और ईश्वर के संघात से बने हुये जगत्

को कार्य्यावस्था में भी भोक्ता, भोग और नियन्ता रहते हैं और उनमें संकरता नहीं आती।

(५) धागे तो अलग अलग रह सकते हैं और जुलाहे की इच्छानुसार कारणस्थानीय धागे के रूप में या कार्यस्थानीय कपड़े के रूप में रहते हैं। परन्तु जगत् में चेतन और जड़ सब ब्रह्म का नित्य शरीर हैं और उसके प्रकार हैं, इसलिये चेतन और जड़ प्रकार विशिष्ट परमात्मा ही 'सब' शब्द में पुकारा जाता है।

इनका तात्पर्य यह है कि स्थूल और सूक्ष्म अवस्थापन्न जगत और जीव ब्रह्म के शरीर हैं। चित् और अचित की सूक्ष्म समष्टि ही स्थूल जगत् का उपादान है। इन दोनों चित् और अचित् से ब्रह्म में विकार नहीं होता क्योंकि नित्य व्यापक होने पर भी ब्रह्म सदा पृथक है, जैसे काल, लाल और श्वेत धागे हरस्थान पर एक नहीं हो जाते इसी प्रकार ब्रह्म, जीव और जड़ अलग अलग रहते हैं।

यह तो हो गया। परन्तु रामानुजाचार्य इस चित् और अचित् को ब्रह्म के प्रकार विशेष मानते हैं। 'प्रकार' का क्या अर्थ है? अंगरेजी में 'प्रकार' को मोड (Mode) कहा गया है। और विशिष्टाद्वैत को मोडीफाइड मौनिज्म (modified monism) बतलाया गया है। अंगरेजी का मोड (Mode) और संस्कृत का 'प्रकार' किस प्रकार और किस अंश में पर्याय है यह कहना कठिन है। साधारणतया 'मोड' का अर्थ है "व्यक्त होने का प्रकार" (ways of manifestation)। क्या 'प्रकार' का भी रामानुज यही अर्थ लेते हैं? जो दृष्टान्त धागे और कपड़े का उन्होंने दिया है उससे तो यह स्पष्ट नहीं होता। लाल, पीले और श्वेत धागे मिलकर कपड़ा बनाते हैं। यह धागे लअग अलग थे अलग

अलग हैं और अलग अलग रहेंगे । न एक थे, न एक हैं, न एक हो सकते हैं । भेद इतना है कि पहले कपड़े के रूप में न थे अब कपड़े के रूप में हैं। इस प्रकार ब्रह्म, चित और अचित पहले भी अलग थे अब भी अलग हैं और अलग ही रहेंगे। परन्तु पहले अव्यक्त अवस्था में थे इस प्रकार 'जगत्' को ब्रह्म, चित और अचित का व्यक्त रूप या कार्य्य रूप कह सकते हैं और ब्रह्म, चित् तथा अचित को जगत् का कारण रूप, परन्तु ब्रह्म जो अलग सत्ता है उसका चित् और अचित प्रकार कैसे हो गये ? कपड़े को तो भिन्न २ प्रकार के धागों का "प्रकार" या व्यक्तरूप कह सकते थे। परन्तु लाल कपड़ा श्वेत कपड़े का 'प्रकार' कैसे हो गया, "चित् और अचित् ब्रह्म का शरीर है।" यह एक दूसरी विचारणीय बात है। शरीर का दृष्टान्त किस प्रयोजन से दिया गया ? इसका क्या तात्पर्य है ? यदि कहा जाय शरीरी शरीर में व्यापक रहता है इसी प्रकार चित् और अचित् में ब्रह्म व्यापक है। केवल व्यापकता के भाव से ब्रह्म को शरीरी और चित तथा अचित् को शरीर कहते हैं तो यह ठीक ही है। परन्तु इससे अद्वैत कहां रहा। यदि अद्वैत का इतना ही अर्थ है कि जिस प्रकार शरीर और शरीरी व्याप्य और व्यापक भाव से सदा रहते हैं इसी प्रकार चित् और अचित तथा ब्रह्म भी सदा व्याप्य व्यापक भाव से रहते हैं तो इसमें कोई हानि नहीं, परन्तु सीधी बात यह है कि 'प्रकार' का स्पष्ट अर्थ रामानुजाचार्य के लेखों से जाना नहीं जा सकता। ब्रह्म को अखंड और एक रस तो सभी मानते हैं। यदि अखंड का कोई अर्थ है तो जीव को ब्रह्म का अंश या खण्ड नहीं मान सकेंगे। या जहां 'जीव' को ब्रह्म का 'अंश' माना है उसका कुछ और अर्थ लगाना होगा।

श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत का प्रति पादन किया

है जिसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर, जीव और जगत् तीनों ही ब्रह्म हैं। यह लोग रामानुज के मत को स्वीकार नहीं करते क्योंकि रामानुज ने ब्रह्म को केवल ईश्वरत्व प्रतिपादक माना है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त सार में चित् और अचित् को ब्रह्म का 'अपृथक-सिद्ध- विशेषण' माना है। द्वैताद्वैत वादियों को भी यह स्वीकार है। परन्तु किस प्रकार? 'प्रकार' शब्द झमेले का है। ऐसी ही 'विशेषण' शब्द भी। झगड़ा शब्दों का ही नहीं है, केवल शब्दों के लिये मतभेद और सम्प्रदाय भेद क्यों किये जायं। वस्तुतः प्रश्न विचारों का है। रामानुज के मत को विशिष्टाद्वैत कहने का मुख्य कारण यह है कि श्री शङ्कर जी ब्रह्म को सर्व प्रकार के गुणों से रहित निर्गुण मानते हैं। रामानुज महोदय को यह स्वीकार्य्य नहीं। इसलिये उन्होंने गुणों से ब्रह्म को समन्वित मानकर 'अद्वैत' के साथ विशिष्ट' शब्द का प्रयोग कर दिया। श्री शङ्कर को सब प्रकार का 'द्वैत' अनिष्ट था। वह गुण और गुणी के भेद को भी नहीं चाहते थे, दो शब्द ही क्यों रहें। द्रव्य और गुण का द्वैतभाव भी क्यों हो? इस लिये शङ्कर ने ब्रह्म को सभी द्वन्द्वों से पाक कर दिया। परन्तु रामानुज का कहना है कि यह मन मानी बात तो नहीं है। कोई वस्तु बिना गुणों के नहीं होती। गुणी में गुण रहते ही हैं। यदि ब्रह्म एक सत्ता है तो उसमें गुण होने चाहियें। इस लिये उन्होंने ब्रह्म को सगुण, या सविशेषण माना और इस प्रकार अद्वैत के साथ विशिष्ट शब्द लगाया। परन्तु चित् और अचित् को न तो ब्रह्म के गुण मान सकते हैं न विशेषण। यह ठीक है कि गुण गुणी से "अपृथक् सिद्ध है।" और चित् तथा अचित् भी ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध हैं; क्योंकि यह किसी दशा में भी ब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकते। परन्तु केवल (अपृथक सिद्ध) होने से ही

तो विशेषण या गुण नहीं हो जाता। आकाश ब्रह्म से अपृथक सिद्ध है परन्तु आकाश को ब्रह्म का गुण या विशेषण कैसे कहेंगे ? यदि अचित् ब्रह्म का विशेषण हो तो ब्रह्म में भी जड़ता आ जायगी। रामानुज का मत है कि ब्रह्म में कभी चित्-अचित् धर्म विद्यमान् नहीं रहते। निम्बार्काचार्य का 'द्वैत-अद्वैत' या 'भेदाभेद' भी किसी स्पष्ट अर्थ का द्योतक नहीं है। एक प्रकार से तो भेदाभेद या द्वैताद्वैत सभी में होता है। गाय और उसके सींगों में द्वैताद्वैत भी है और भेदा भेद भी। द्वैत या भेद इस लिये कि गाय और सींग दो वस्तुयें हैं। सींग को तोड़ कर अलग किया जा सकता है। अभेद या अद्वैत इस लिये कि गाय के शरीर का सींग एक आवश्यक अंग है। सींग टूटने पर हम गाय को सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं कह सकते। इसी प्रकार गाय और भैंस में भी दूसरे अर्थों में भेदाभेद या द्वैताद्वैत है। भेद या द्वैत इसलिये कि गाय भैंस नहीं और भैंस गाय नहीं। अभेद या अद्वैत इसलिये कि गाय भैंस दोनों 'पशु' जाति हैं। इस प्रकार संसार की समस्त वस्तुयें किसी न किसी पक्ष में एक और किसी दूसरे पक्ष से अनेक हैं।

हमारी अपनी धारणा यह है कि ब्रह्म शब्द के अनेकार्थ वाची होने के कारण यह झमेला हुआ है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं तो ईश्वर अर्थ में जैसे

(१) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः

(वेदान्त दर्शन १।१।१—२)

(२) तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। (अथर्व वेद)

कहीं जड़ प्रकृति के अर्थ में जैसे

ममयोनिर्महद् ब्रह्म यस्मिन् गर्भंदधाम्यहम्।

(गीता)

कहीं कहीं जगत के सम्पूर्ण कारण के अर्थ मे जैसे

ब्रह्म एवेदमग्र आसीत् (उपनिषद्)

कहीं कहीं वेद या विद्या के अर्थ में जैसे

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। (मनु०)

कहीं कहीं ब्राह्मण वर्ण के अर्थ मे। 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' का साथ साथ वर्णन है।

जब 'ब्रह्म' इतने अर्थों में आता है तो आवश्यकता है कि प्रसंगानुसार ही इसके अर्थ लिये जायं। यदि ब्रह्म का अर्थ वेदान्त प्रतिपादक ईश्वर है तो उसमे जीवों तथा अचित् को भिन्न ही मानना पड़ेगा और द्वैत के विना काम न चलेगा। यदि ईश्वर चित् और अचित तीनों के समूह को ब्रह्म माना जाय तो 'ब्रह्म' समस्त समूह का नाम हो गया। इस प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि शब्द पर्य्याय हो जायगे। और जो झगड़ा बहुत दिनों से चला आया है वह मिट जायगा। भिन्न २ सम्प्रदायों की पुस्तकें देखने से ज्ञात होता है कि कहीं कहीं तो प्रसंगानुसार अर्थ लगाकर सिद्धान्त को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है परन्तु कहीं कहीं श्रुतियों के समन्वय की कोशिश में झमेला हो गया है। वस्तुतः श्रुतियों का समन्वय भली भाँति हो सकता है यदि प्रसंगों की गड़बड़ झाला न की जाय।

यह कुछ संकेत पुराने भारतीय दार्शनिकों के विषय में हुआ है हमने यहां पाश्चात्य दार्शनिक बार्कले का विशेष उल्लेख इसलिये कर दिया है कि अद्वैततवाद से प्रेम रखने वाले लोगों का बार्कले से अधिक परिचय है। आधुनिक युग (अर्थात् ईसा की बीसवीं शताब्दी) कौन सा मत अधिक अभिमत है या कहना कठिन है। पाश्चात्य देशों ने गत सौ वर्ष में भौतिक-विज्ञान में आश्चर्य जनक उन्नति की है और वैज्ञानिक अन्वेषण तूफ़ान मेल के वेग से हो रहे हैं।

विज्ञान का लोगों के दार्शनिक विचारों पर भी बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। जो सिद्धान्त आज बनाया जाता है वह कल बिगाड़ दिया जाता है। पुराने समय में लोग दार्शनिक विचारों को विना विज्ञान की सहायता के ही निर्धारित करते थे, उनके सिद्धान्तों की आधारशिला उनके अपने मास्तिष्किक व्यापार थे जिन पर वाह्य चीज़ों का बहुत कम प्रभाव पड़ता था। यदि एक दो उलझनें उत्पन्न होती थीं तो वे 'व्यावहारिक' कहकर टाल दी जाती थीं। आज कल सृष्टि को जटिल समस्यायें नये नये रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। और यदि हम कोई सिद्धान्त निर्धारित करते है तो ये बलात्कार हमारा हाथ पकड़ कर हमको अपने मार्ग से विचलित करदेतीं है। इसी लिये बहुत से लोग इस को 'अनिश्चित" युग कहते हैं। आजकल वही सब से विद्वान् है जो किसी विषय में निश्चित विचार नहीं रखता। हम सब की बात सुनते हैं। सब के विषय में कहते हैं। परन्तु अपना कुछ विचार नहीं रखते।

जब विज्ञान का युग आरम्भ हुआ तो सबसे पहला दार्शनिक परिवर्त्तन यह हुआ कि 'चित्' के लिये कोई स्थान न रहा। केवल 'अचित्' ही रह गया जिसको हम 'प्रकृति' कह सकते हैं। प्राचीन चार्वाक आदि लोकायितों के समान विज्ञान वादियों ने कहना आरम्भ किया कि सृष्टि की सब घटनायें विना ईश्वर या चेतन जीवों के समझी जा सकती हैं किसी चेतन सत्ता के मानने की आवश्यकता नहीं, हकसले (Huxley) आदि इसी मत के आचार्य थे। परन्तु भौतिकी और मनो विज्ञान दोनों के नये अन्वेषणों ने सिद्ध कर दिया कि बहुत सी घटनायें पुराने प्रकृतिवाद (Materialism) के सहारे समझी नहीं जा सकतीं। सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans), प्रो० एडिंगृन (Prof.-Eddington), ईस्टन (Einsten) श्रोडिंगर (Schrodinger)

और प्लेंक (Planck) सब मानते हैं कि चेतना सत्ता मुख्य चीज़ है। मैक्स प्लेंक का कथन है कि

"I regard consciousness as fundamental. I regard matter as derivative from conciousness We cannot get behind consciousness. Everything that we talk about, everything that we postulate as existing, requires consciousness"

(The Observer dated 25th January 1931).

"मैं चेतनता को मुख्य मानता हूँ। मेरे विचार से अचित् चित् से निकला है। हम चेतनता से आगे नहीं जा सकते। जिस किसी किसी के विषय में हम बात करते हैं या जिस किसी सत्ता को हम मानते हैं उसके लिये चेतनता आवश्यक है।"

परन्तु यह वैज्ञानिक यह नहीं बताते कि चित् से अचित् का प्रादुर्भाव कैसे होता है। न तो यह बार्कले के अनुयायी हैं न शंकर के। इन पर भौतिकी विषयक आधुनिक अन्वेषणों का केवल इतना प्रभाव पड़ा है कि वैज्ञानिकों ने अब तक जो चेतनताका सर्वथा निषेध किया था उस पर इनका विश्वास नहीं रहा। परन्तु यह एक-चेतन वादी नहीं हो गये। वैज्ञानिकों ने अपनी इतनी हार स्वीकार कर ली है कि पहले जो इनका यह दावा था कि हम ईश्वर या चेतन सत्ता का भाव तक संसार से निकाल देंगे वह अब नहीं रहा। अब वह कान दबा कर बैठ गये हैं। अब उनको विश्वास हो गया है कि भौतिक विज्ञान से परे भी कोई चीज़ है जिसका पता विज्ञान या वैज्ञानिकों को नहीं लग सकता। फ्राँसीसी विद्वान् बर्गसन (Bergson) का कथन है कि सृष्टि चेतनता का ही एक उद्भूत रूप है। परन्तु बर्गसन यह नहीं बताता कि चेतनता में यह उद्भव संतति (continual flow of consciousness) कैसे होती है। और

बिना अचित को भी माने यह कैसे संभव है। इस सम्बन्ध में जोड (C. E. M. Joad) का निम्न कथन पढ़ने योग्य है:—

Bergson's is but the latest of a long line of attempts to explain the universe as being, or as being the expession of, one fundamental all-embracing thing or principle. It is a very attractive conception, but it is unsupported by proof, mistakes assertion for argument., and offers us not an account of the universe that is, but a beautiful fairy tale of a universe that has been devised by the ingenious brains of its authors

(Guide to Modern Thought p. 125)

"एक ही तत्व से सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या करने का सब से अन्तिम प्रयास बर्गसन का है। यह विचार बड़ा मनोहर है। परन्तु इसके लिये कोई प्रमाण नहीं। प्रतिज्ञा-मात्र हेतु नहीं हो सकता। यह इस सृष्टि की व्याख्या नहीं है किन्तु किसी ऐसी सृष्टि की जो सुन्दर तो है परन्तु व्याख्याताओं के मस्तिष्क की उपज मात्र है।"

जोड का कहना है कि—

The universe is or contains more than one kind of thing..................both life and matter are real, in the sense that neither can be derived from the other. (p. 126).

"सृष्टि में एक से अधिक तत्व हैं। चित और अचित् दोनों तात्विक हैं। अर्थात् कोई एक, दूसरे से उत्पन्न नहीं हो सकता।"

प्राय: यह जो प्रश्न किया जाता है कि यदि चित और अचित् अलग अलग है तो एक दूसरे पर कैसे प्रभाव डालता

है। इस विषय में आज कल से प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सर औलवर लौज (Sir Oliver Lodge) की सम्मति आवश्यक है। जाड़ महाशय ने इस आलोचना की है। सर आली-वर लौज का कहना है कि प्रकृति (Matter) के विषय में अब हमारे विचारों में इतना परिवर्तन हो गया है कि पुराने आक्षेप के लिये स्थान नहीं रहा। पहले माना जाता था की आकर्षण शक्ति एक खाली स्थान से छलांग करके सेव तक पहुँच जाती है। ईन्टीन (Einstien) के 'अपेक्षावाद' (Relativity) ने सिद्ध कर दिया है कि बीच में भी कोई व्यापार हो रहा है।

Sir Oliver Lodge argues that, if physics requires us to support that events in space which are not discernible by our senses or our instrument cannot only occur but can influence material things, there is no inherent difficulty in spposing that psychical happenings can do the same

(Guide to Modern Thought p. 132).

सर औलीवर लौज की युक्ति यह है कि आकाश में होने वाले इन्द्रियातीत या यन्त्रातीत व्यापार यदि भौतिकी विद्या के अनुसार हो सकते हैं और भौतिक पदार्थों पर प्रभाव डाल सकते हैं तो इतना मानने में क्या आपत्ति है कि मानसिक व्यापार भी हो सकते हैं। जोड़ का कहना है कि

Modern matter is so mysterious and elusive, we know so little either of its nature or its properties, that we can assert with no greater confidence what it cannot do, than we can assert what it can. Certainly we are not in a position to assert

that it cannot be acted upon by influences which are non-material. (p. 131)

अर्थात् "वर्तमान प्रकृति ऐसी अनिश्चित है और इसके स्वभाव या गुणों के विषय में हमको इतना कम ज्ञात है कि हम न यह कह सकते हैं कि यह क्या कर सकती है और न यह कि यह क्या नहीं कर सकती। हम यह तो कह ही नहीं सकते कि इस पर चित अर्थात् चेतन-वस्तु का प्रभाव पड़ ही नहीं सकता।"

इन सब से यही एक निष्कर्ष निकलता है कि केवल चित् या केवल अचित् से सृष्टि की व्याख्या करना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। ईश्वर, चित (जीव) और अचित् (प्रकृति) तीनों ही मूलतत्व हैं।
